प्रकाशक
सुरेन्द्रनाथ
साहित्य सदन,
देहरादून ।

द्वितीय संशोधित संस्करण
१९६०
मूल्य ६)

नाहौ सर्गक चाहौ राजू।
ना मोहि नरक सेंति किछु काजू ।।
चाहौ ओहि कर दर्शन पावा।
जो मोहि आन प्रेम पथ लावा ।।

—जायसी ग्रन्थावली

पृष्ठभूमि

रहस्यवाद और उसकी विविध धाराएँ

रहस्यवाद अध्यात्म की साहित्य-समार को महान् देन है। आज-कल जिस रूप में उसकी प्रतिष्ठा मिलती है, प्राचीन काल में वह उस रूप मे मान्य नही था। वास्तव में रहस्यवाद का जन्म मानव और ईश्वर के जन्म के साथ-ही-साथ हुआ होगा। मानव की अपने ईश्वर के प्रति भावमय तादात्म्य-कामना तथा उससे सम्बन्धित सुकोमल भावनाएँ अनादि-काल से किसी-न-किसी रूप में व्यक्त होती आ रही हैं। वर्तमान रहस्यवाद का प्रासाद उन्हीकी आधार-भूमि पर आधारित प्रतीत होता है।

वैदिक रहस्यवाद : प्राचीन भारत में रहस्य-भावना का उदय ब्रह्म-विद्या या उपनिषद्-विद्या के रूप में हुआ था। जिस प्रकार उपनिषद् गुह्यातिगुह्य ब्रह्म-तत्त्व की खोज और प्रत्यक्षीकरण में प्रयत्नवान दिखलाई पड़ते हैं; उसी प्रकार साहित्य का रहस्यवाद भी उस परोक्ष प्रियतम की मधुर-कथा कहता पाया जाता है। उपनिषद्-विद्या और रहस्यवाद में आधार-भूमि-सम्बन्धी साम्य भी है। दोनों ही सर्वात्मवाद और अद्वैतवाद की दृढ़ भूमिका पर प्रतिष्ठित हैं। दोनो में जो थोड़ा बहुत अन्तर दिखलाई पड़ता है उसका कारण उनका लक्ष्य-भेद है। उपनिषद्-विद्या का लक्ष्य ज्ञानरूप-ब्रह्म का निरूपण करना है। रहस्य-वाद में भावविनिर्मित ईश्वर की ही प्रतिष्ठा पाई जाती है। दूसरे शब्दो में हम यह कह सकते हैं कि एक का विस्तार-क्षेत्र ज्ञान था, और दूसरे का भाव।

तान्त्रिक धारा : औपनिषदिक-रहस्यवाद के अतिरिक्त भारतवर्ष में रहस्यवाद की एक धारा और भी पाई जाती है; वह है योग की। वास्तव में योग एक स्वतन्त्र साधना-मार्ग है। किन्तु वह इतना गुह्य और रहस्यात्मक है कि उसकी काव्यात्मक-शैली में अभिव्यक्त की हुई बातें भी रहस्यवाद की सीमा के अन्दर मानी जाने लगी हैं। रहस्यवाद की इस धारा ने भी हिन्दी-साहित्य के रहस्यवादियो को प्रभावित किया है। उनके रहस्यवाद का स्वरूप निर्धारित करते समय इस बात को कभी भूलना नही चाहिए।

ईसाई और सूफी धारा : रहस्यवाद का विकास ईसाई और यहूदी मतों में भी हुआ। किन्तु उसका यह रूप भारतीय स्वरूप से बहुत भिन्न था। भारतीय रहस्य-भावना भारतीय-रमणी की भाँति अधिक संयत, मर्यादामय और ज्ञान-विशिष्ट थी। किन्तु ईसाई और इस्लाम मतों में उदय होने वाली रहस्य-भावना सुरति और सुरा की सहेली होने के कारण अत्यधिक उच्छृंखल और विलासपूर्ण थी। उच्छृंखलता और विलास की अतिरेकता के कारण उसका अध्यात्म-पक्ष बिलकुल क्षीण हो गया। परिणाम यह हुआ कि धर्म के नाम पर घोर व्यभिचार फैलने लगा। यहोवा के कुछ उपासकों में इस तीव्र मादन-भाव की प्रतिक्रिया दिखलाई भी दी, किन्तु वे युग के तूफान को रोक न सके और उन्हें भी यहोवा के लिए पत्नी का विधान करना ही पड़ा। यहूदी और मसीही मतों में इस मादन-भाव की अभिव्यक्ति किसी-न-किसी रूप में बराबर होती रही। इस्लाम की शुष्क और कट्टर भावना से घबराकर बहुत-से सन्तों ने यहूदी और क्रिश्चियन मतों में पाए जाने वाले मादन-भाव का आश्रय लेकर तथा उसे अलौकिक-रूप देकर अपनी साधना को सरस बनाने की चेष्टा की। उसके लिए उन्होंने लौकिकता में अलौकिकता के दर्शन करने का प्रयास किया। इनका सारा प्रयत्न लौकिक-मादन-भाव को अलौकिक-रूप देने में ही लगा रहा। परिणाम यह हुआ कि

इनकी साधना लौकिकता और अलौकिकता के बीच में खो गई। इनमें जिस तीव्र-भावना या सरस-मादक-भाव का प्रभाव दिखलाई पड़ता है वह कहीं लौकिक है और कहीं अलौकिक। यही कारण है कि सूफी रहस्य-भावना लौकिकता की भूमि पर खड़ी होकर अलौकिकता के गगन को छूने का प्रयत्न किया करती है। इस प्रयत्न का इतिहास ही सूफी-रहस्यवाद है। यह सूफी-रहस्यवाद भारतीय औपनिषदिक रहस्यवाद से, जो अलौकिक और पवित्र ज्ञान लोक मे विचरण करता रहता है, सर्वथा भिन्न है।

हिन्दी के सन्त-कवियों में पाया जाने वाला रहस्यवाद उपर्युक्त तीनों धाराओं से प्रभावित है। उसको समझने के लिए पृष्ठभूमि के रूप मे इन तीनो धाराओं में पाए जाने वाले रहस्यवाद का स्वरूप और विकास समझ लेना आवश्यक है। इन तीनो धाराओं का सम्यक्-विकास दिखाने के लिए बहुत समय और स्थान की आवश्यकता है। यहाँ न तो इतना स्थान ही है, और न अवकाश ही। अतएव हम अत्यन्त संक्षेप में तीनों धाराओं का सकेत-मात्र करेंगे।

वैदिक-रहस्यवाद

संहिताओं में : प्राचीन-भारतीय-साहित्य मे हमें रहस्यवाद का शास्त्रीय-प्रतिपादन नही मिलता किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि रहस्यवाद भारत के लिए कोई नवीन वस्तु है। वेदों में रहस्य-भावना की सुन्दर अभिव्यक्ति पाई जाती है। वैदिक-रहस्य-भावना का उदय द्रष्टाओं को दार्शनिक विचिकित्साओं के फलस्वरूप हुआ था। इन विचि-कित्साओं की सुन्दर झाँकी हमें 'नासदीय-सूक्त' मे मिलती है। इसके द्रष्टा के अन्तर्गत इस प्रकार विचिकित्साएँ उठी थीं—

'तब मूलारम्भ में सत् भी नहीं था और असत् भी नही था। अन्तरिक्ष न था और उसके परे का आकाश भी न था। ऐसी अवस्था में

किसने किस पर आवरण डाला ? कहाँ ? किसके सुख के लिए ? उस समय अगाध जल भी था या नहीं[1] ?'

'तब मृत्यु का अस्तित्व न था, अतः दूसरे अमृत-पदार्थ का भेद भी न था। इसी प्रकार दिन और रात के भेद को स्पष्ट करने का भी कोई साधन न था। वह एक तत्व ही अपनी शक्ति से स्फूर्तिमान था, इसके परे और कुछ न था[2]।'

'जो ऐसा कहा जाता है कि प्रारम्भ में अन्धकार था और उस अन्धकार से आवृत जल था। उस समय अभ्भु भी तुच्छ माया से आवृत था। वह मूल-तत्व अपने तप की महिमा से प्रकट हुआ था[3]।'

इसके मन का जो बीज था वही काम कहलाया। बुद्धिमानों ने विचार पूर्वक यही निश्चित किया कि यही असत् में और सत् में पहला सम्बंध है[4]।

---

१ नासादासीन्नो सदासीत्तदानीं।
नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्॥
किमावरीवः कुहकस्य शर्म-
न्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥

२ न मृत्यु रासीदमृतं न र्तहि।
न राज्या अह्न आसीत्प्रकेतः॥
आनीदवातं स्वधया तदेकं।
तस्माद्धान्यन्न परः किंचनाऽऽस॥

३ तम आसीत्तमसा गूढमग्रे,
ऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्,
तपसस्तन्महि नाऽजायतैकम्॥

४ कामस्तदग्रे समवर्ततापि,
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।

उपर्युक्त मंत्रों मे रहस्यपूर्ण आध्यात्मिक-विचिकित्साएँ, अद्वैतवाद का मूल-रूप तथा सृष्टि में प्रेम या काम का महत्व आदि बातो का, जिनका सम्बन्ध रहस्य-भावना से ही है, वर्णन किया गया है।

'ऋग्वेद' में विराट्-ब्रह्मवाद का भी बडा रहस्यात्मक-प्रतिपादन मिलता है। पुरुष-सूक्त के कुछ मंत्र इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। वह विराट्-पुरुष सारी पृथ्वी को आक्रान्त करके भी उससे परे है।

वह पुरुष सहस्र शीर्ष वाला था। उसकी सहस्र आँखें थी, उसके सहस्र पाणि थे, और उसने पृथ्वी को चारो ओर से आक्रांत कर रखा था। किन्तु फिर भी दशांगुल उससे परे था[1]।
अगले मंत्र में अद्वैतता प्रतिपादित करके पुरुष की रहस्यमयता ध्वनित की गई है—

वह सब-कुछ पुरुष-रूप ही है। आगे जो कुछ होगा वह भी पुरुष-रूप ही होगा, और पहले जो कुछ था वह भी पुरुष ही था। वह अमृतत्व का स्वामी था और यह सब-कुछ वही है जो अन्न से उत्पन्न होता है[2]।

'ऋग्वेद' मे अद्वैतता का प्रतिपादन वागारम्भणीय-सूक्त में बड़े

सतो बन्धुमसति निरविन्दन्,
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥ ऋग्वेद १।१२९।१-४

१ सहस्र शीर्षा पुरुषः,
सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो,
वृत्वात्यतिष्ठाद्दशांगुलम्॥

२ पुरुष एवेदं सर्वं
यद्भूतं यच्च भव्यम्
उतामृतत्वस्येशानो।
यदन्नेनातिरोहति॥ ऋग्वेद १०।९०।१-२

भावात्मक ढंग से किया गया है। उसके कुछ मंत्र इस प्रकार हैं—

'मैं रुद्र और वसु के साथ ही रहती हूँ तथा अन्य देवताओं के साथ भी रहती हूँ। मैं मित्र और वरुण को धारण करती हूँ, मैं दो अश्विन, इन्द्र और अग्नि को वहन करती हूँ[1] '—

मैं रुद्र का धनु तानती हूँ, ताकि तीर से शत्रु का वध किया जा सके और उन लोगों का वध कर सके जो ईश्वर से घृणा करते हैं। मैं मनुष्यों में युद्ध की भावना भरती हूँ। मैं स्वर्ग और पृथ्वी सभी में परिव्याप्त हूँ[2]।

इस मंत्र की अन्तिम पंक्ति में स्पष्ट रूप से अद्वैतवाद का प्रस्थापन किया गया है। पहली तीन पंक्तियों में भावात्मक-अद्वैत-वाद की प्रतिष्ठा मिलती है। इसी प्रकार के सैकड़ों मंत्रों से पता चलता है कि संहिताओं में रहस्यवाद अपने बीज-रूप में वर्तमान था।

उपनिषदों का रहस्यवाद : संहिताओं में जिस रहस्यवाद का बीजारोपण किया गया था वह उपनिषदों में आकर अंकुरित हुआ। उपनिषदों में वेदांत का प्रतिपादन किया गया है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि उनमें ज्ञान की पराकाष्ठा का दिग्दर्शन कराया गया है। ज्ञान को भी उपनिषदों में दो भागों में बाँटा गया है। एक को परा-विद्या कहा गया है और दूसरे को अपरा-विद्या। 'मुण्डकोपनिषद्' में

---

१ अहं रुद्रेभि वसुभिश्चरा-
म्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणाभा विभ
र्म्यहमिन्द्राग्नी अहं अश्विनोभा॥

२ अहं रुद्राय धनुरातनोमि
ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवाउ
अहं जनाय समदं कृणो-
म्यहं द्यावा पृथिवी आं विवेश। ऋ० सं० अष्टक ८ अध्याय ७ वर्ग ११

उनका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

विद्या दो प्रकार की होती है—एक अपरा और दूसरी परा। अपरा-विद्या के अन्तर्गत चारों वेद और छहों वेदांग गिनाए गए हैं और ब्रह्मविद्या को परा-विद्या कहा गया है। इस परा-विद्या का प्रेरक जब तर्क होता है तब उसे अध्यात्म-ज्ञान की संज्ञा दी जाती है। और जब उसकी मूल-प्रेरिका-भावना होती है तब उसे अध्यात्म की अनुभूति कहेंगे[1]। उपनिषदों में ब्रह्मानुभूति में तर्क की अप्रतिष्ठा मानी गई है। 'कठोपनिषद्' में स्पष्ट लिखा है—

उस परमात्मा का ज्ञान तर्क से नहीं होता है[2]।

प्रश्न यह है कि फिर उसकी अनुभूति या ज्ञान कैसे प्राप्त हो? इस पर 'कठोपनिषद्' में लिखा है—

'कई प्रकार से विवेचित आत्मा नीच पुरुष द्वारा उपदिष्ट होने पर बोधगम्य नहीं हो सकता। अभेददर्शी आचार्य द्वारा उपदेश किए जाने पर आत्मा अस्ति-नास्ति रूप अनुभव होता है। यह आत्मा सूक्ष्म परिणाम वालों से भी सूक्ष्म और दुर्विज्ञेय है[3]।' इस उद्धरण में द्रष्टा ने आत्म-ज्ञान के उपदेश के योग्य गुरु का संकेत किया है। वास्तव में अभेददर्शी गुरु ही ब्रह्म-ज्ञान देने का अधिकारी कहा जा सकता है।

'छान्दोग्योपनिषद्' में भी ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति एक-मात्र गुरु से

---

१ द्वे विद्ये वेदितव्ये इति हस्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति पराचैवापरा च। तत्र अपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदःसामवेदो अथर्ववेदः शिक्षाकल्पो व्याकरण निरुक्त छंदो ज्योतिषमिति अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते।
—मुण्डक १।१।४

२ नैषा मतिस्तर्केणापनेया।— कठोपनिषद् १।२।६

३ नः नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्य प्रोक्तेगतिरत्र नास्ति
अणीयान्ह्य तर्क्यमणु प्रमाणात्॥ कठोपनिषद् १।२।८

ही मानी गई है। सत्यकाम अपने गुरु से कहता है—

'सुयोग्य आचार्य के द्वारा साधना-मार्ग में दीक्षित किये जाने पर ही साधक अपने साध्य तक पहुँच सकता है[1]। क्योंकि साधना-पथ (क्षुरस्य धारा) छुरी की धारा के सदृश तीक्ष्ण, दुर्गम एवं दुर्जेय माना जाता है[2]।'

श्रुतियों में सद्गुरु के आवश्यक गुणों का विविध प्रकार से संकेत किया गया है। 'मुण्डकोपनिषद्' में लिखा है कि रहस्य-विद्या उसी गुरु से ग्रहण करनी चाहिए जो वेदज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ हो[3]।

ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिये समित्पाणि होकर वेदज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिए। इसी प्रकार अन्य श्रुतियों में भी सद्गुरु की महिमा का संकेत किया गया है[4]।

श्रुतियों में साधक के पात्रत्व और अधिकारित्व पर भी विशेष बल दिया गया है। रहस्य-विद्या सब नहीं ग्रहण कर सकते हैं। ब्रह्म-ज्ञान का अधिकारी वही शिष्य माना जा सकता है जो पाप-कर्मों से मुक्त हो चुका है और जिसका मन शान्त व स्थिर है[5]।

---

१ श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यः आचार्याद्ध्येव विद्या विदिता साधिष्ठं प्राप्स्यतीति। छान्दोग्योपनिषद् ४।९।३

२ क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया।
दुर्गम पथस्तत् कवयो वदन्ति॥ कठोपनिषद् १।३।१४

३ तद्विज्ञानार्थं . . गुरुमेवाभिगच्छेत्।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ मुण्डक १।२।१२

४ नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनम् आप्नुयात्॥ कठोपनिषद् १।२।२३

५ सत्येनलभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा।
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्॥ मुण्डक ३।१।५

'मुण्डकोपनिषद्' में लिखा है कि ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए शिष्य को सत्यनिष्ठ, ब्रह्मचारी, तपस्वी और सम्यक्-ज्ञान-विशिष्ट भी होना चाहिए[1]।

उपनिषदों में रहस्यमय की अनुभूति तक पहुँचाने वाले बहुत-से मार्ग निर्दिष्ट किए गए हैं। 'छान्दोग्योपनिषद्' में धर्म के तीन पक्ष बतलाये गए हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान[2]।

भक्ति और तपस्या को हम यज्ञ रूप मान सकते हैं। दान को कर्म एवं योग का प्रतीक समझा जा सकता है। अध्ययन से ज्ञान का अभिप्राय है। उपनिषदों में इन तीनों साधनों का उल्लेख और भी कई स्थलों पर मिलता है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' की निम्नलिखित पंक्ति में भी उपर्युक्त तीन साधनों का संकेत-सा मालूम पड़ता है—

आत्मा साक्षात्कार करने योग्य, श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य और ध्यान करने योग्य है[3]।

ज्ञान-कांड का प्रतिपादन करते हुए भी उपनिषद् भक्ति-मार्ग की उपेक्षा नहीं कर सके हैं। 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में स्पष्ट लिखा है कि जब तक उस रहस्यमय में साधक की भक्ति नहीं होती तब तक वह उसका साक्षात्कार नही कर सकता—

'जिसकी परमात्मा में उत्तम भक्ति है और परमात्मा के समान ही गुरु में भक्ति है वही सब-कुछ जान लेता है।'[4] उपनिषदों में योग का भी विस्तार से उल्लेख किया गया है। 'कठोपनिषद्' में स्पष्ट

---

१ धर्मस्य त्रयः स्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानम्। मुण्डक ३।१।५

२ आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।
बृहद ३।४।१

३ यस्य देवे परा भक्ति र्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ श्वेताश्वतर ६।२।३

४ "आध्यात्मयोगाधि गमेन देवमत्वा धीरो हर्ष शोको जहाति।"
कठोपनिषद् १।२।१२

लिखा है कि 'उस रहस्यमय-देव को अध्यात्म-योग से जानकर साधक हर्ष व शोक से रहित हो जाता है।'

यह अध्यात्म योग वास्तव में इन्द्रिय धारण रूप है[1] —

अध्यात्म योग के अतिरिक्त उपनिषदों में हठ, लय, मंत्र और राजयोग के भी वर्णन मिलते हैं। देखिए 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में मंत्र-मूलक-समाधि-योग का कैसा सुन्दर वर्णन किया गया है—

'इस प्रकार का ज्ञान रखने वाला इन्द्रियों और मन का संयम करके उपराम वृत्ति धारणकर तितिक्षु होकर समाधि परायण हो अपने अन्दर आत्मा को देखता है।'[2] इसी प्रकार 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' (२।१४।१५।-२।८।६) 'मुण्डकोपनिषद्' (३।२।५.६) आदि में योग के विस्तृत वर्णन पाए जाते हैं। इनमें से अधिकांश वर्णन साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत आयेंगे।

अब रही ज्ञान-मार्ग की बात; उसके तो उपनिषद् प्रधान प्रवर्त्तक माने ही जाते हैं। उनमें विविध विद्याओं का वर्णन ज्ञान के साधन एवं उपासना के रूप में ही किया गया है। उपनिषदों में वर्णित निम्नलिखित विद्याएं विशेष रूप से विचारणीय हैं; क्योंकि उनकी प्रतिष्ठा ज्ञान-प्रधान उपासना के रूप में अभिव्यक्त हुई है—

(१) उद्गीथ विद्या (२) संवर्ग विद्या
(३) मधु विद्या (४) पंचाग्नि विद्या
(५) उपकोशल आत्मविद्या (६) शांडिल्य विद्या
(७) भूम विद्या (८) दहर विद्या
(९) दीर्घायुष्य विद्या (१०) मन्थ विद्या

---

१ तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणम्।
अप्रमस्तदा भवति योगोहि प्रभवाप्ययौ॥ कठोपनिषद् २।६।११

२ तस्मादेवं विच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः।
समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मान पश्यति॥ बृहदारण्यक ४।४।२३

यहाँ पर हम अत्यन्त संक्षेप में इनका संकेत कर देना चाहते हैं—

(१) उद्गीथ विद्या : इसको हम प्रणव-साधना भी कह सकते हैं। प्रणव अर्थात् 'ॐ' परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ नाम है। इसके द्वारा भावपूर्वक भगवान् का कीर्त्तन किया जा सकता है। इसीलिए प्रणव को उद्गीथ भी कहते हैं। प्रणव की साधना से साधक वाक् और प्राण का तादात्म्य स्थापित करता है। रहस्य की प्राप्ति का यह मार्ग बड़ा सरल और भावमय है। संसार के सभी श्रेष्ठ रहस्यवादी इसका अनुसरण करते रहे हैं।

(२) संवर्ग विद्या : संवर्ग विद्या भी भावना-प्रधान साधना मानी जा सकती है। संवर्ग का अर्थ होता है अन्तर्भुक्त कर लेना। सब का अन्तर्भुक्त करने वाला एक परमात्मा है। अतः उसकी भक्ति करना ही एकमात्र साधन है।

(३) मधु विद्या : मधु विद्या भी एक प्रकार की रहस्य-साधना है। इसके अनुयायियों का कहना है कि आदित्य ही सबको मधु प्रदान करने वाला है; अतः लघु स्वरूपी ब्रह्म की प्राप्ति आदित्य की उपासना से हो सकती है 'छान्दोग्योपनिषद्' में इस मधु-विद्या का उल्लेख मिलता है।

(४) पंचाग्नि विद्या : इसकी चर्चा 'कठोपनिषद्' और 'वृहदारण्यकोपनिषद्' में की गई है। पंचाग्नि साधन का संबंध ज्ञान-मार्ग से अधिक है। पंचाग्नि-विद्या का स्वरूप श्वेतकेतु ने प्रवाहण राजा से जैसा सुना था, वह इस प्रकार है—'यह लोक अग्नि है इसको प्रज्वलित करने के लिए सूर्य लकड़ी है। उसकी किरण धूम हैं, दिन ज्वाला है, दिशाएँ अंगार हैं तथा अवान्तर दिशाएँ स्फुलिंग हैं। इस अग्नि में देवता लोक श्रद्धारूपी हवि का हवन करते हैं। इस हवन से सोम की उत्पत्ति होती है। श्रुति कहती है कि वहाँ श्रद्धा जलस्वरूप है। अतएव देवता जल-समूह मेघ रूप अग्नि में, सोम चन्द्रमा को लोक रूप अग्नि में, वृष्ट को और वृष्टि से उत्पन्न अन्न को पुरुष-रूप अग्नि में जलाते हैं। उससे वीर्य उत्पन्न होता है। उसका हवन स्त्री रूप अग्नि में होता है। मनुष्यों की

उत्पत्ति में लोक, मेघ, पुरुष और स्त्री कारण हैं। पुरुष और स्त्री को चिता की आग भस्म करती है। यही पाँच अग्नियाँ हैं, इन्हीं में परमात्मा व्याप्त है। इनके द्वारा जो परमात्मा को जानता है वह नित्य एवं मुक्त हो जाता है। वेदान्त मे इस पंचाग्नि-विद्या का बड़ा महत्व है। इसका ज्ञाता पुनरावृत्ति-हीन मुक्ति लाभ करता है।

(५) उपकोशल आत्म विद्या : इसे हम मनन प्रधान विद्या कह सकते हैं। सत्यकाम ने अपने शिष्य जाबालि को जब ब्रह्मोपदेश नहीं दिया तो उसने तपस्या करके अपनी अग्नियों से उपदेश प्राप्त किया। वह उपदेश था 'प्राणोब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म।' इसी मंत्र का मनन करता हुआ साधक ब्रह्म-प्राप्ति में समर्थ होता है।

(६) शांडिल्य विद्या : इस विद्या का उल्लेख 'छान्दोग्योपनिषद्' में किया गया है। शांडिल्य ने परमात्मा को अनंत करुणा-सम्पन्न माना है। इस विद्या के साधक को समस्त ब्रह्माण्ड को ही ब्रह्म समझकर उसकी उपासना करनी चाहिए; क्योंकि यह ब्रह्माण्ड उसीसे सम्भूत हुआ है; उसीसे जीवित रहता है और उसीमें लीन हो जाता है। इस प्रकार की साधना ही शांडिल्य विद्या है।

(७) भूमि विद्या : इस विद्या का उल्लेख भी 'छान्दोग्योपनिषद्' में ही मिलता है। इसका वर्णन 'छान्दोग्योपनिषद्' मे निम्नलिखित शब्दों में किया गया है—

अर्थात्—भूमा ही सुख है। ससीम में सुख नही होता है। उस भूम रूपी असीम में ही सुख है। अतएव उस भूम अर्थात् अनन्त की ही खोज करनी चाहिए। यही भूम विद्या है[1]।

(८) दहर विद्या : इस विद्या में हमें योग और उपासना का समन्वित स्वरूप दिखाई पड़ता है। इसका वर्णन 'छान्दोग्योपनिषद्' में

---

१ यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति. भूमैव सुखम् भूमात्वेवविजज्ञासितव्यः। छान्दोग्योपनिषद् ७।२३।१

किया गया है। उसमें लिखा है—

'मनुष्य का शरीर ही ब्रह्मपुर है। उसका दहर हृदयकमल भगवान् का निवास-स्थान है। उसी में परमात्मा को खोजना चाहिए, इस दहर-निवासी-परमात्मा की उपासना दहर-विद्या कहलाती है।'[1] कबीर आदि साधकों की रहस्य-साधना दहर-विद्या से मिलती-जुलती है।

(९) दीर्घायुष्य विद्या : इस विद्या का भी संकेत 'छान्दोग्योपनिषद्' में किया गया है। इसमें ब्रह्म-ज्ञान के सहारे आयु-विस्तार का वर्णन मिलता है।

(१०) मन्थ विद्या : इसे हम निष्काम-विद्या कह सकते हैं। इसका संकेत 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में किया गया है। इस विद्या का लक्ष्य साधक को निष्काम-उपासना की ओर प्रेरित करना है। इस प्रकार उपनिषदों में विविधज्ञानमूलक एवं उपासना-प्रधान साधनाओं का उल्लेख किया गया है। ये साधना-पथ वास्तव में बड़े ही रहस्यपूर्ण हैं। उनके रहस्यों का उद्घाटन करने का न तो यहाँ स्थान ही है, और न आवश्यकता ही। किन्तु उपनिषदों का रहस्यवाद बहुत-कुछ इनके आश्रय से भी विकसित हुआ है।

उपनिषदों मे ब्रह्म का वर्णन भी विविध प्रकार से विविध-शैलियों मे किया गया है। रहस्यमय परमात्मा के ये वर्णन बड़े ही रहस्यात्मक हैं। स्थूल रूप से यह वर्णन दो प्रकार के हैं—

१—स्वानुभूतिमूलक।

२—बुद्धिमूलक।

१. स्वानुभूतिमूलक-वर्णन रहस्यवाद के अन्तर्गत आते हैं। यह स्वानुभूतिमूलक वर्णन रानाडे साहब के अनुसार चार प्रकार के हैं। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ—'A Constructive Survey of the

---

१ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्। छान्दोग्योपनिषद् ८।१।१

Upanishadic Philosophy' में इन अनुभूतियों का वर्णन करते हुए लिखा है—

"उपनिषदों में चार प्रकार की रहस्यानुभूतियाँ बिखरी मिलती हैं, जिनका सम्बन्ध क्रमशः रूप, रंग, शब्द और प्रकाश से है।"[1]

हमारी समझ में उपनिषदों में केवल चार प्रकार की रहस्यानुभूतियाँ ही नहीं मिलती हैं वरन् वे उन समस्त प्रकार की रहस्यानुभूतियों का कोष हैं जिनकी किसी भी रहस्यवादी ने कभी भी अनुभूति की होगी। यहाँ पर हम उपर्युक्त चार प्रकार की रहस्यानुभूतियों का परिचय कराकर कुछ अन्य प्रकार की रहस्यानुभूतियों का संकेत कर अपने मत की पुष्टि करेंगे। रूपाकार-सम्बन्धी अनुभूतियों की चर्चा 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' की निम्नलिखित पंक्तियों में की गई है—

'योग-साधना करने पर उस ब्रह्म की अनुभूति नीहार, धूम, सूर्य, अग्नि, वायु, जुगनू, बिजली, स्फटिक और चन्द्र के रूप में हुआ करती है।'[2] इसी प्रकार श्रवणेन्द्रिय से सम्बन्धित अनुभूतियाँ भी मिलती हैं। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में शब्द रूप में ब्रह्मानुभूतियों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

'शब्द, पचन-क्रिया और भोजन-क्रिया का परिणाम है। कोई भी मनुष्य इन्हें अपनी आँख बन्द करके सुन सकता है। किन्तु जब

---

१ "Four types of experience of the whole are to be scattered in the Upanishadas which bear respectively of the forms, the colours, the sounds and light which are experienced by the mystics in the process of contemplation."

२ नीहार धूमार्कानलानिलानां खद्योत विद्युत्स्फटिक शशिनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्ति कराणियोगे॥'
श्वेताश्वतर २।११

मनुष्य मरने लगता है तब वह ध्वनियाँ नहीं सुन पाता है।'[1] इसी प्रकार 'छान्दोग्योपनिषद्' में भी लिखा है कि अपने अन्तर में आँखें बन्द करके सत्यानुभूति की जा सकती है। यह सत्यानुभूति विविध प्रकार की ध्वनियों के रूप में होती है। कभी तो बैल के गर्जन के सदृश, कभी वज्र-नाद की तरह और कभी अग्नि जलने के सदृश ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। उपनिषदों में ब्रह्म की अनुभूति प्रकाश के रूप में भी वर्णित की गई है। 'मुण्डकोपनिषद्' में ज्योतिस्वरूप ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

'हिरण्यमय स्वच्छ कोश पर निष्कल-ब्रह्म जो ज्योतियों में श्रेष्ठ ज्योति है, विराजमान मालूम पड़ता है। आत्मज्ञानी लोग इसकी अनुभूति करते हैं।'[2] इस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म की उपर्युक्त चार प्रकार की ऐन्द्रिक अनुभूतियों के सैकड़ों वर्णन मिलते हैं। उपनिषदों में स्पर्श-सम्बन्धी वर्णनों की कमी नहीं है। किन्तु इस प्रकार के वर्णन बहुत रहस्यपूर्ण हैं। 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में एक स्थल पर कहा गया है कि वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है, किन्तु फिर भी जिस-जिस शरीर को धारण करता है उसमें वह रक्षित रहता है।

रहस्यवादी साधक रहस्यमय की अनुभूतियाँ प्रायः बुद्धि-क्षेत्र में भी करते हैं। बुद्धि-क्षेत्र से सम्बन्धित अनुभूतियाँ ऐन्द्रिक अनुभूतियों

---

१ अयमग्निर्वैश्वानरो योयमंतः
पुरुषे येनदमंत्र पच्यते
यदिदमद्यते तस्यैष घोषा
भवति यमेतत्कर्णावपिधाय
शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन्
भवति नैनं घोष शृणोति। बृहदारण्यक ५।९।१

२ हिरण्यमये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलं तच्छुभं
ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः। —मुण्डक २।२।९

से विलक्षण होती हैं। इस प्रकार की बुद्धिमूलक अनुभूतियां दर्शन-और रहस्यवाद के मध्य की वस्तु है। कभी तो वह बुद्धि की अतिरेकता से दर्शन की निधि प्रतीत होती है और कभी-कभी भावना के अतिरेक से रहस्यवाद के समीप आ जाती है। इस कोटि की अनुभूतियों का वर्णन उपनिषदों में प्रधान रूप से निम्न लिखित रूपों में मिलता है—

(१) विरोधात्मक रूप मे।
(२) निषेधात्मक रूप मे।
(३) विभावनात्मक रूप मे।
(४) अनिर्वचनीय रूप मे।
(५) विराट्-ब्रह्म के रूप मे।

(१) विरोधात्मक वर्णन—उपनिषदों मे ब्रह्म के अनेक विरोधात्मक वर्णन मिलते हैं। उदाहरण के लिए हम 'ईशावास्योपनिषद्' का यह वर्णन ले सकते हैं—

'वह रहस्यमय ब्रह्म स्थित होते हुए भी दूरगामी है और सोता हुआ भी सर्वगामी है।'[1]

(२) निषेधात्मक वर्णन—उपनिषदों में ब्रह्म का वर्णन निषेधात्मक शैली में भी किया गया है। उदाहरण के लिए हम 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' का यह वर्णन ले सकते हैं—

'वह स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है।'[2]

(३) विभावनात्मक वर्णन—उपनिषदों में ब्रह्म के अनेक विभावनात्मक वर्णन मिलते हैं।

"अपाणिपादोजवनोग्रहीता" वाली उक्ति तो लोक में बहुत प्रसिद्ध है। इस प्रकार की सैकड़ों विभावनात्मक उक्तियाँ उपनिषदों में भरी पड़ी हैं।

---

१ आसीनोदूरतः व्रजति शयानो याति सर्वतः। ईशावास्योपनिषद्
२ "नैष स्त्री न पुमानेष नचैवायं नपुंसकः" श्वेताश्वतर ४।१०

(४) **अनिर्वचनीय रूप वाला वर्णन**—उपनिषदों का नेतिवाद तो बहुत प्रसिद्ध है। नेतिवाद वास्तव में अनिर्वचनीयतावाद है। जब उपनिषद् ब्रह्म को वाणी के जाल में बाँधने का प्रयत्न करते-करते थक जाते हैं और उसे बाँध नहीं पाते तभी उन्हें नेतिवाद का आश्रय लेना पड़ता है। उपनिषद् नेतिवाद के वर्णन से भरे पड़े हैं।

(५) **विराट्ब्रह्म के वर्णन**—ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के अनुकरण पर विराट् ब्रह्म के वर्णन उपनिषदों में भी मिलते हैं। एक वर्णन इस प्रकार है—

'उस विराट् ब्रह्म की मूर्धा अग्नि है, सूर्य और चन्द्र उसकी आँखें हैं। दिशाएँ कान हैं। विवृत वेद उसकी वाणी है। वायु प्राण हैं। यह विश्व उसका हृदय रूप है। समस्त पृथ्वी उसके चरणों से आक्रान्त है। वह सर्व भूतों की अन्तरात्मा में निवास करता हैं।'[1]

अंगुष्ठ प्रमाणी ब्रह्म का वर्णन—उपनिषदों ने ब्रह्म का अंगुष्ठ प्रमाणी ज्योति के रूप में भी वर्णन किया है। 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में इसका वर्णन **'अंगुष्ठमात्रो रवि तुल्यारूपा'** कहकर किया गया है। 'कठोपनिषद्' में इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है—**'अंगुष्ठमात्रः-पुरुषोन्तरात्मा सदा जननांहृदये सन्निविष्टः"** (२।६।१७) इस प्रकार उपनिषदों में उस ब्रह्म रूप परमात्मा के भावात्मक और बुद्धि मूलक दोनों प्रकार के वर्णन किये गए हैं। कबीर आदि साधकों में हमें दोनों प्रकार के वर्णनों की बहुलता मिलती है। इन वर्णनों के प्रभाव से कहीं कहीं दार्शनिक ढंग के रहस्यवाद की अच्छी सृष्टि हुई है।

---

१ अग्निर्मूर्धा, चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ, दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथ्वी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥
—श्रुति

उपनिषदों में हमें इन विविध प्रकार की भावात्मक और बुद्धि-मूलक अनुभूतियों के साथ-साथ भावातिरेकता की स्थिति के भी, जो रहस्यानुभूति का प्राण है, वर्णन मिलते हैं। रानाडे साहब ने इसके उदाहरण में 'मुण्डकोपनिषद्' का निम्नलिखित उद्धरण दिया है—

"ब्रह्म हमारे सामने है ब्रह्म हमारे पीछे है। ब्रह्म हमारी बाईं ओर है, दाहिनी ओर है, वही ऊपर है, नीचे है, वही श्रेष्ठातिश्रेष्ठ ब्रह्माण्ड है"[1] यह उक्ति द्रष्टा की भावातिरेकता को स्पष्ट व्यञ्जित करती है।

उपनिषदों में रहस्यानुभूति की स्थिति के भी बड़े मनोरम चित्र मिलते हैं। 'मुण्डकोपनिषद्' में लिखा है—

'उसको जानकर धीर साधक आनन्द रूप अमृतत्व को अनुभव कर लेते हैं।'[2] इसी प्रकार 'कठोपनिषद्' में भी लिखा है—निचाय्यं तं मृत्यु मुखात् प्रमुच्यते।[2] अर्थात् उसे साक्षात् जानकर पुरुष मृत्यु के मुख से छूट जाता है। इसी श्रुति में दूसरे स्थल पर इस अवस्था का वर्णन कुछ हेर-फेर के साथ दूसरे शब्दों में किया गया है—ब्रह्मप्राप्तोविरजो-भूद्विमृत्युः।[3] अर्तात् ब्रह्म को प्राप्त हुआ पुरुष विरज (शुद्ध) और विमृत्यु (अमर) हो गया।' इसी प्रकार अन्य श्रुतियों में भी ब्रह्मानुभूति के प्रभावों का वर्णन किया गया है। इस कोटि के कुछ वर्णन तो शुष्क, नीरस और वर्णनात्मक होने के कारण दर्शन की सीमा के अन्तर्गत आयेंगे। किन्तु कुछ काव्यात्मक एवं भाव-प्रधान वर्णन रहस्यवाद की विभूति कहे जायँगे।

---

१ ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म, पश्चात् ब्रह्म, दक्षित-श्चोत्तरेण अधश्चोर्ध्वं प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठं।
मुण्डक २।२।११

२ तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः।
आनन्दरूपं अमृतं यद्विभाति॥ मुण्डकोपनिषद् २।२।६

अब थोड़ा-सा औपनिषदिक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति पर विचार कर लेना चाहिये। रहस्यवाद के असीम को ससीम शब्दों में बाँधना वास्तव में सदा से कठिन रहा है। यही कारण है कि ब्रह्मज्ञ द्रष्टाओं को भी अपनी रहस्यात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए अभिव्यञ्जना की कुछ विलक्षण प्रणालियों का आश्रय लेना पड़ा है। 'ऋग्वेद' में ही इस कोटि की प्रणालियों का विकास हो चला था। अध्यात्म अभिव्यक्ति की एक प्रणाली विरोधात्मक चमत्कार-प्रधान होती है। सन्त कवियों की उलटवासियाँ उन्हीं के आधार पर विकसित हुई हैं। 'ऋग्वेद' में अदिति का वर्णन इसी प्रणाली में किया गया है। कुछ स्थलों पर अग्नि का वर्णन भी इसी शैली में मिलता है। 'ऋग्वेद' में रूपकात्मक और विभावनात्मक तथा विरोधात्मक शैलियों के भी विविध उदाहरण मिलते हैं। रूपकात्मक शैली का एक सुन्दर उदाहरण यह है।

'एक बैल है। उसके चार सींग हैं। उसके तीन पैर दो सिर सात हाथ हैं। वह कठोर ध्वनि से गर्जन करता है।'[1]

इस मंत्र में द्रष्टा ने बैल के रूपक के द्वारा गूढ़-आध्यात्मिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। यहाँ आत्म-ज्ञान को ही वृषभ कहा गया है। वह सच्चिदानन्द-स्वरूपी होने के कारण त्रिधाबद्ध कहा गया है। साधन चतुष्टय या चतुर्महावाक्य ही उनके चार शृङ्ग हैं। ब्रह्म-बोध के प्रधान तीन साधन श्रवण, मनन, निदिध्यासन उसके तीन चरण हैं। जीवन और विदेह-मुक्ति ही उसके दो सिर हैं। चिदाभास की सात अवस्थाएँ (अविद्या, आवरण, विक्षेप, परोक्ष-ज्ञान, अपरोक्ष-ज्ञान, शोकापगम और तृप्ति) ही उस बैल की सात भुजाएँ हैं। मैं धन्य हूँ, मैं कृतकृत्य हूँ, इस प्रकार की ध्वनियाँ ही उस बैल का रव है। इसी प्रकार दो पक्षियों का यह रूपक भी प्रसिद्ध है। यह भी बड़ा ही मधुर है—

---

१ चत्वारिशृंगास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासोऽस्या।
त्रिधाबद्धोवृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश॥ ऋ० ३।११।८।३

'एक वृक्ष पर समान जाति के दो पक्षी मिलकर बैठे हुए हैं इनमे से एक तो मधुर फलो का उपभोग करता है किन्तु दूसरा पक्षी केवल उदासीनभाव से देख रहा है।'[1]

इस प्रकार संहिताओं से सैकड़ो उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि रहस्यवाद की अभिव्यक्ति-प्रणालियो का श्री गणेश भी संहिताओं से हुआ है।

रहस्यवाद की जिन विविध-प्रणालियों का जन्म वैदिक-संहिताओं मे हुआ था उनका सम्यक्-विकास उपनिषद्-साहित्य में हुआ। उपनिषदों में उपर्युक्त प्रणालियों के अतिरिक्त एक अन्योक्ति के ढंग की आध्यात्मिक-लघु-कथाओं की नवीन अभिव्यक्ति प्रणाली-सी दिखाई दी। उदाहरण के लिए हम 'छान्दोग्योपनिषद्' का एक उद्धरण ले सकते हैं[2]—

इस अवतरण में द्रष्टा ने कथा के सहारे आध्यात्मिक खोज के इतिहास पर प्रकाश डाला है। इसमें एक पुरुष की कथा है जो एक बार कुछ लुटेरों के द्वारा अपनी जन्म-भूमि गांधार में एक निर्जन-स्थान पर पट्टी बाँधकर ले जाया गया था। लुटेरों ने उस पुरुष को निर्जन-स्थान में स्वतन्त्र कर दिया और स्वयं उसे छोड़कर चले गए। वह बेचारा वहाँ बहुत दिनों तक रोता और भटकता रहा। एक बार किसी सज्जन ने उसे गांधार देश का मार्ग दिखला दिया। फिर क्या था, वह पुरुष पूछता-पूछता अपने निवास-स्थान पर पहुँच गया। यहाँ पर पुरुष जीव का प्रतीक

---

१ "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समा वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य
नश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ मुण्ड० ३।१।१

२ यथा सोम्य पुरुषं गंधारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय त ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वोपङ्वाऽधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः। छान्दो ६।१४।२

है। लुटेरे माया और अज्ञान के वाचक हैं। निर्जन-स्थान इस संसार का द्योतक है, गांधार देश ब्रह्म का संकेतक है। पथ बतलाने वाला पुरुष गुरु के स्थान पर माना जा सकता है, इस प्रकार कथा के सहारे प्रतीकात्मक शैली में अन्योक्ति के ढंग पर आध्यात्मिक-सत्यों की अभिव्यक्ति करने की परम्परा का श्रीगणेश भी वैदिक-साहित्य में हो चला था। इस प्रकार की अभिव्यक्ति-प्रणाली का प्रभाव हमें मध्यकालीन सूफी सन्त कवियों पर स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। उन्होंने अपनी कथाएँ इसी प्रकार की अन्योक्तिमूलक प्रतीकात्मक शैली में लिखी हैं। इस दृष्टि से उपर्युक्त प्रकार की वैदिक अन्योक्तिप्रधान कथाओं का मध्यकालीन हिन्दी की रहस्य-भावना के स्वरूप को सँवारने मे अच्छा हाथ रहा है।

अब मैं औपनिषदिक रहस्यवाद की प्राणभूत विशेषता पर भी प्रकाश डाल देना चाहता हूँ। सम्पूर्ण वैदिक-साहित्य का और विशेषकर उपनिषदों का मूल-स्वर अद्वैतवाद है। इस अद्वैतवाद की अभिव्यक्ति उनमें बुद्धिमूलक तथा भाव-प्रधान दोनों ही प्रणालियों में हुई है। उपनिषदों का भाव-प्रधान अद्वैतवाद उनके रहस्यवाद का मेरुदंड है।[*] उपनिषदों में भावमूलक रहस्यवाद की बहुत-सी उक्तियाँ मिलती हैं, उदाहरण के लिए 'कठोपनिषद्' का यह मंत्र लिया जा सकता है—

'जो एक सबको अपने आश्रय में रखने वाला और सम्पूर्ण रूपों का अंतरात्मा अपने एक रूप को ही अनेक प्रकार का कर लेता है। अपनी बुद्धि में स्थित आत्मदेव का जो धीर पुरुष साक्षात्कार करते हैं

तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गंधारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रामद् ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गंधारानेवोपसंपद्येतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इति।

*छान्दो० ६।१४।२

उन्हीं को शाश्वत-सुख प्राप्त होता है।'[1] यहाँ पर कवि ने आत्मा का मानवीकरण किया है और उसे विविध-रूप धारण करने वाला ध्वनित किया है। मानवीकरण की झलक से आध्यात्मिक उक्ति में रहस्यात्मकता आ गई है। इस प्रकार के तथा इससे भी अधिक रमणीय-वर्णन उपनिषदों में भरे पड़े हैं। मध्यकालीन सन्तों पर इनका प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

संहिताओं और उपनिषदों में हमें अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद के भी कुछ उदाहरण मिल जाते हैं। कहीं पर तो विरोधात्मक शैली अपनाई गई है और कहीं विभावनात्मक-चित्र मिलते हैं। प्रतीकात्मक-रूपकों और अन्योक्तियों का संकेत हम ऊपर कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त उपनिषदों में कहीं-कहीं आध्यात्मिक तथ्यों का वर्णन शैलीगत अद्भुतत की व्यञ्जना के सहारे किया गया है। उदाहरण के लिये हम 'कठोपनिषद्' के अवृ-थरक्षाश का उदाहरण ले सकते हैं, वह इस प्रकार है—

'जिसका मूल ऊपर की ओर तथा शाखाएँ नीचे की ओर हैं ऐसा यह अश्वत्थ-वृक्ष सनातन (अनादि) है। वही विशुद्ध-ज्योति-स्वरूप है, वही ब्रह्म है और वही अमृत कहा जाता है। सम्पूर्ण लोक उसी में आश्रित हैं; कोई भी उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता। यह निश्चय ही वह (ब्रह्म) है।'[2]

---

१ एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ कठो० २।४।१२

२ ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते॥
तस्मिँल्लोकाःश्रिताः सर्वे तदु नात्येतिकश्चन।
एतद्वै तत्॥ कठो० २।५।१

संक्षेप में वैदिक-रहस्यवाद का स्वरूप यही है। हिन्दी के सन्त कवियों और कुछ सूफी कवियों को रहस्यवाद की इस धारा ने बहुत अधिक प्रभावित किया है। कबीर के रहस्यवाद का मूल स्वर वैदिक ही है। जायसी में भी वैदिक रहस्यवाद की गहरी छाप दिखाई पड़ती है। यदि उनके रहस्यवाद की तुलना इस रहस्यवाद से की जाय तो बात बिलकुल स्पष्ट हो जायेगी। यहाँ हमारा लक्ष्य दोनों का तुलनात्मक निरूपण करना नहीं है वरन् जायसी और कबीर के रहस्यवाद की वैदिक पृष्ठभूमि स्पष्ट करना-मात्र है—

यौगिक रहस्यवाद : योग-साधना भारत की एक अत्यन्त प्राचीन साधना है। 'ऋग्वेद' में भी इसके बीज मिलते हैं। 'ऋग्वेद' के मण्डल ६, सूक्त १८, मंत्र ७, में योग का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है, वह इस प्रकार है—

'विपश्चितों के भी कार्य बिना योग के सिद्ध नहीं होते हैं। चित्त-वृत्ति के निरोध का नाम योग है।'[1] इस योग-साधना का साङ्ग निरूपण पतंजलि ने अपने 'योग-सूत्र' में किया है। योग का विषय वैयक्तिक साधना से सम्बन्धित है। अन्य साधनों के समान इसका लक्ष्य भी आत्म-साक्षात्कार करना है। योगी अपने अन्तर में स्थित आत्मा के दर्शन प्राप्त करने के लिये सैकड़ों प्रकार के प्रयत्न करता है। यह सैकड़ों प्रकार के प्रयत्न वास्तव में योग के ही रूपान्तर हैं। किन्तु आजकल योग शब्द एक पारिभाषिक-अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'योग-सूत्र' में चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है। इस चित्तवृत्ति निरोध में सफलता प्राप्त करने के लिए योग के आठ अंगों की साधना आवश्यक बतलाई गई है। वे आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान, समाधि। योग सूत्रों में इसी अष्टांग-साधना का वर्णन

---

१. यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन स धीनां योगमिन्वति।

ऋ० मण्डल ६ सूक्त १८

किया गया है। योग एक अन्तर्मुखी साधना है। वैयक्तिक और अन्तर्मुखी होने के कारण योग-साधना में जटिलता का समावेश हुआ। आगे चलकर विविध प्रकार के साधकों के हाथों में पड़कर योग साधना की गुह्यता और रहस्यात्मकता और भी अधिक बढ़ गई है। यद्यपि इस साधना की रहस्यात्मकता और गुह्यता साधना की वस्तु है। उसे साहित्य-क्षेत्र में नही घसीटना चाहिए था। किन्तु कुछ भावुक-साधकों ने योग-सावना के वर्णन वर्णनात्मक एवं शुष्क शैली में न करके काव्यात्मक-शैली में करना प्रारम्भ कर दिया। काव्यात्मकता के माध्यम से अभिव्यक्त की जाने के कारण यौगिक रहस्यात्मकता भी साहित्य के क्षेत्र में भी घसीटी गई और आचार्यों ने इसे साधनात्मक रहस्यवाद का अभिधान दिया। हमने इसके लिए अन्तर्मुखी रहस्यवाद का नाम अधिक उपयुक्त समझा है। क्योंकि यौगिक रहस्य वृत्तियो को अन्तर्मुखी करने पर ही अनुभूत होते हैं। इसलिए इन्हें अन्तर्मुखी-रहस्यवाद का अभिधान देना अधिक तर्क-संगत है। भारत मे यह अन्तर्मुखी-रहस्यवाद कई धाराओं में प्रस्फुटित हुआ है—

१—शैव और शाक्त तंत्रों में

२—वज्रयान में

३—नाथ-पंथ में।

अन्तर्मुखी-रहस्यवाद का उपर्युक्त तीनों धाराओं को समझे विना कवीर-जायसी आदि के रहस्यवाद को समझना कठिन ही नही, वरन् असम्भव है। अतः हम प्रत्येक धारा का क्रमशः संक्षिप्त वर्णन कर देना चाहते हैं।

शैव और शाक्त तन्त्र : अब हम शैव और शाक्त-तंत्रों में पाए जाने वाले रहस्यवाद का स्वरूप निरूपण करेंगे। शैव और शक्ति-साधना योग की आधार-भूमि पर ही विकसित हुई है, किन्तु योग का स्वरूप तांत्रिक आचार्यों ने अपने ढंग पर निरूपित किया है। तांत्रिक-साधना में उसके

रहस्यों के गोपन को वहुत अधिक महत्व दिया गया है। 'विश्वसार तंत्र' में लिखा है—

"हे प्रिये ! वामाचार-मार्ग में साधन को प्रकाशित करने से सिद्धि-हानि होती है, अतः हे देवि ! वाममार्ग को माता के व्यभिचार के सदृश गुप्त रखना चाहिए।"[1] उनकी इस प्रवृत्ति ने उनकी अभिव्यक्ति को गुह्यातिगुह्य वना दिया। अभिव्यक्तिमूलक-रहस्यवाद की जननी यही प्रवृत्ति है।

तांत्रिको ने अपनी साधना की गुह्यता पर जोर नही दिया है, वरन् अपने सिद्धान्तों को भी गुप्त रखने की चेष्टा की है। इसके लिये उन्हें भावों को गुप्त रूप से प्रकट करने वाली विविध शैलियों का आश्रय लेना पड़ा। इन शैलियों में प्रतीक शैली सवसे अधिक अपनाई गई है। इसके फलस्वरूप इस साधना में वड़े ही जटिल कोटि के यौगिक और अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद का विकास हुआ। वौद्ध तांत्रिकों ने इस परम्परा का थोड़ी हेर-फेर के साथ पोषण किया और संत-युग के कवियों ने इसे अपने ढंग पर जीवित रखने की चेप्टा की है।

शैव और शाक्त तन्त्रों के रहस्यवाद का समूचा स्वरूप स्पष्ट करना वास्तव में वड़ा कठिन है और यदि उस दिशा में प्रयत्न भी किया जाय तो उसके लिये वहुत अधिक स्थान की आवश्यकता है। अवकी वार मेरा दूसरा प्रयास इसी दिशा में होगा। यहाँ पर हम केवल अत्यन्त संक्षेप मे उसका सकेत करेंगे।

तान्त्रिक रहस्यवाद की सवसे प्रधान विशेपता उसकी सक्रियता है। उनके इस सक्रिय् रहस्यवाद का स्वरूप-निरूपण करते हुए डी० एन० वोस ने अपने Tant ras : their Philosophy and Occult Secret's नाम के ग्रन्थ में पृष्ठ १०५ पर प्रो० महेन्द्रनाथ सरकार के

---

१ "प्रकाशात् सिद्धिहानिः स्याद्वामाचारगतौ प्रिये।
अतो वामपंथ देवि गोपायेत मातृजारवत्॥ विश्वसारतंत्र १।४।२

शब्दो में समझाने की चेष्टा की है। यहाँ पर उसका कुछ अंश उद्धृत कर देना अनुचित न होगा।

'भारत में सक्रिय रहस्यवाद का विकास वैष्णव व शैव शाक्त तांत्रिकों मे हुआ है। दोनों ने दार्शनिक ही ढंग पर पारमार्थिक सत्ता तक पहुँचने की चेष्टा की है। यद्यपि उन दोनो के दार्शनिक विचारों में अन्तर है। किन्तु वे दोनों ही पिण्ड और ब्रह्मांड के सक्रिय तादात्म्य की साधना में विश्वास करते हैं। उनके सक्रिय रहस्यवाद का यही प्रधान अंग है। इनके लिये बौद्धिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि केवल इसी अर्थ मे महत्व रखती है कि बुद्धि सरलता से उस सक्रिय साधना को समझ सके। आत्म-रहस्यों को समझने के लिये भौतिक दृष्टि की आवश्यकता पडती है। इन प्रत्यक्ष रहस्यों को देखे विना रहस्यानुभूति की प्रक्रिया, चाहे वह कल्पनामूलक हो और चाहे भावमूलक हो, पूर्ण नही होती है।'[1] पाश्चात्य विद्वान् (Alexis Carrel) एलेक्सिस कैरेल ने अपनी पुस्तक 'Man the unknown' (जिस पर उसने विश्व-विख्यात नोवल प्राइज प्राप्त किया था) मे रहस्यवाद के साधनात्मक पक्ष पर बल देते हुए लिखा है—

"रहस्यवाद अपनी उच्चातिउच्च अवस्था मे एक विस्तृत विधान का रूप धारण करता है और उसके लिये कठोर संयम की आवश्यकता रहती है। सबसे प्रथम वैराग्य की आवश्यकता होती है। बिना वैराग्य धारण किये हुए रहस्य-लोक मे प्रवेश पाना ठीक उसी प्रकार

---

१ "Dynamic mysticism here in India has taken its chief expression in Vaishnavism and in Tantricism. Both of them have a philosophic approach to Truth, and in spite of the differences in the cast of thought, their unanimity lies in the emphasis put upon the dynamic aspect of existence and upon psychic harmony of being as yielding final insight and access"

—Tantras: their Philcsophy & occult secrets by D N Bose Page 105.

असम्भव है जिस प्रकार बिना व्यायाम के किसी का पहलवान होना।"[1]

तांत्रिक रहस्यवाद की आधार भूमि योग है जैसा कि अभी संकेत कर चुके हैं कि किसी भी प्रकार के रहस्यवाद के क्षेत्र में प्रवेश पाने के लिए पहले संयम, नियम और वैराग्य की बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। तांत्रिक साधना में संयम और नियम का विधान पंचतत्त्व साधना के रूप में किया गया है। यह पंच-तत्त्व-साधना क्या है? इस पर थोड़ा-सा विचार कर लेना चाहिए।

हम अभी ऊपर कह चुके हैं कि तांत्रिक लोग अपनी साधना के रहस्यों को सर्वगम्य बनाना नहीं चाहते हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपनी साधना के सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति प्रतीकों के सहारे की है। पंचतत्त्व साधना की अभिव्यक्ति भी प्रतीक शैली में हुई है। तन्त्रों में पाँच तत्वों के लिए पंच-मकारों के प्रतीकों की कल्पना की है। इन प्रतीकों के रहस्यों को समझे बिना लोग पंच-तत्त्व-साधना के आधार पर तांत्रिकों की घोर निन्दा करते हैं, किन्तु यह निन्दकों की भूल है। तंत्रों में साधकों के तीन प्रकार माने गए हैं—

(१) दिव्य
(२) वीर
(३) पशु

इन्हें हम क्रमशः सतोगुणी रजोगुणी और तमोगुणी कह सकते हैं। पंच-मकारों का प्रतीकात्मक अर्थ भी इन साधकों के भाव के अनुकूल लगाया जाता है। इनमें से किसी भी भाव में पंच-मकारों का अर्थ

---

१ "Mysticism in its highest state comprises a very elaborate technique, a strict discipline. First, the practice of asceticism. It is imppossible to enter the realm of mysticity without ascetic preparation as it is to become an athlete without submitting to physical training."

—Tantras their philosophy & occult secrets, Page 109

अभिधामूलक स्वीकार नही किया गया है। पंच-मकार या पंच-तत्वों के प्रतीकात्मक नाम इस प्रकार हैं—

(१) मद्य
(२) मास
(३) मत्स्य
(४) मैथुन
(५) मुद्रा।

कुलार्णव-तंत्र में प्रथम दो के अर्थों को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"शक्ति ही सुरा है और शिव ही मांस है।" इन दोनो का योग स्थापित करना तान्त्रिक-साधना का लक्ष्य है। इन दोनो का योग ही मैथुन है। आगमसार-तन्त्र मे मत्स्य को वायु का प्रतीक माना गया है। इसी प्रकार उसमे मुद्रा को सहस्रार मे होने वाले ज्ञान का प्रतीक कहा है। पच-मकारो का इस प्रकार योगपरक सात्विक अर्थ केवल दिव्य और वीर साधको के लिए ही नही पशु साधक के लिए भी हितकर हो सकता है। 'शक्ति और शाक्त' नामक ग्रन्थ में वुडरोफ (Woodroffe) साहब ने पशु तान्त्रिको के अनुसार पच मकारो का स्पष्टीकरण भी किया है। वह सर्वथा भौतिक है[1]।

इस प्रकार तन्त्रो मे पच-मकार का अर्थ तीनो भावो से किया गया है।[2]

तान्त्रिक साधना में संयम नियमो को भी महत्व दिया गया है। 'तन्त्र-ग्रन्थों' मे देखिए मद्य, माँस मैथुन आदि का कितना निषेध किया गया है—

---

१ सुराशक्तिः शिवोमांसं
२. देखिए 'Shakti and the Shakt' by Avalon Arthur page 60.

"जो असभ्य कौल असंस्कृत मदिरा पीना चाहता है तथा जो बलात्कार में रुचि रखता है और आत्म-सुख के लिए पशु-हिंसा करना चाहता है वह रौरव नरक में जाता है।"[1] तंत्र-ग्रन्थों मे इस प्रकार के सैंकड़ो उद्धरण भरे पड़े हैं जिनमे संयम-नियम की बातो पर बल दिया गया है।

इस प्रकार पंच-तत्व की साधना तथा संयम से अपने को शुद्ध करके तांत्रिक योग की ओर अग्रसर होता है। उसकी साधना ही साधनात्मक रहस्यों का अक्षय-कोष है। कबीर-जायसी आदि पर इनके इन साधनात्मक रहस्यो का प्रभाव पडा है। कबीर आदि साधको ने तंत्रों के सैकड़ो पारिभाषिक शब्दों को लेकर अपना अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद खड़ा किया है।[2] इसका विस्तृत विवेचन किसी दूसरे प्रसंग में किया जायगा। यहाँ अत्यन्त संक्षेप मे हम तान्त्रिकों की योग-साधना का संकेत-मात्र करेंगे। तान्त्रिको की योग-साधना कुण्डलिनी-योग कहलाती है। इसे कुछ लोग शब्द-योग-साधना भी कहते हैं।

तान्त्रिकों की शब्द-योग-साधना मे कबीर आदि का रहस्यवाद बहुत अधिक प्रभावित है। यहाँ पर संक्षेप मे हम उस पर विचार करेंगे। तांत्रिको की शब्द-योग-साधना समझने से पहले उनके दार्शनिक-पक्ष को समझ लेना आवश्यक है। तान्त्रिक शक्तिवादी होते हैं। शंकर का ब्रह्म अद्वैत और निरुपाधि है। किन्तु तांत्रिको का शिव अद्वैती होते हुए भी सोपाधि कहा जा सकता है। क्योकि शिव में चित् शक्ति समवाय रूप से विद्यमान रहती है। इस चित् शक्ति के आधार पर ही आत्मा या शिव को चित् स्वरूपी भी कहते हैं। यह प्रकाश रूप है। इस चित्-स्वरूपी

---

१ असंस्कृत पिवेद्द्रव्यं बलात्कारेण मैथुनम्। प्रिंसपिल्स ऑफ तंत्र—
स्व प्रियेण हतं मांस रौरवे नरकं व्रजेत्॥ वुडरोफ पृ० ४२८

२. देखिए 'कबीर की विचार-धारा' लेखक गो० शा० त्रिगुणायत पृष्ठ ४४१

शिव या आत्मा में एक विमर्श नामक शक्ति भी सन्निविष्ट रहती है वह उससे अभिन्न होती है। यह शक्ति वाक्रूपा है। इसी को नाद कहते हैं, यही प्राण है। विश्व-शक्ति का समष्टि रूप भी यही है। इस नाद से ही विश्व का विकास हुआ है। इस शक्ति में ही अ से लेकर ज्ञ तक अक्षर-ध्वनियाँ निहित रहती हैं। यह परावाक् ही मध्यमा,पश्यन्ती परा और सूक्ष्मा आदि का रूप धारण करती है। पिण्ड में इसका निवास-स्थान सहस्रार माना जाता है। इसी को शिव भी कहते हैं। अनहद नाद भी यही है। मूलाधार में स्थित कुण्डलनी को इसका व्यष्टि रूप माना जाता है। इसी को जीवन-शक्ति कहते हैं। जब जीव-शक्ति या कुण्डलिनी चलित की जाती है तब वह क्रमशः अक्षरों को प्रकट करती हुई सहस्त्रार में स्थित शिव से मिल जाती है। यही शिव-शक्ति मिलन-स्थल है। जीव-शक्ति को शिव तक पहुँचने में एक पूर्ण-मार्ग पार करना पड़ता है। इस मार्ग का वर्णन भिन्न-भिन्न तंत्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। कुछ लोग तो इस मार्ग में केवल षट्चक्र मानते हैं और कुछ नौ चक्र मानते हैं। कुछ तंत्रों में इस मार्ग का बड़ा सूक्ष्म वर्णन किया गया है। अधिक मान्य मत षट्चक्रों का ही है। इनका वर्णन 'कबीर के रहस्यवाद' के प्रसंग में किया गया है, अतः हम यहाँ पर दुहराना नहीं चाहते। इस विषय का विस्तृत वर्णन हम किसी दूसरे स्थल पर करेंगे।

यहाँ पर बिन्दु के सम्बन्ध में दो-एक शब्द अवश्य बता देना चाहते हैं। क्योंकि कबीर आदि संतों में इसका बार-बार उल्लेख किया गया है। तन्त्र-ग्रन्थों में बिन्दु और महाबिन्दु शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इन दोनों के प्रयोग भी दो रूपों में हुए हैं—एक दर्शन-क्षेत्र में और दूसरा साधना-क्षेत्र में। दर्शन-क्षेत्र में भी बिन्दु के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। द्वैतवादी तांत्रिक शिव, शक्ति और बिन्दु तीन तत्त्व मानते हैं। अद्वैतवादी तांत्रिक बिन्दु और शक्ति को शिव की ही दो विभूतियाँ

समझते हैं जो पराशिव में ही अन्तर्निहित रहती हैं। वे विश्वविकास के समय प्रस्फुटित होती हैं। इनके अनुसार विन्दु का ही दूसरा नाम महामाया है। नाद इसी विन्दु का व्यक्त रूप है। इस दृष्टि से कुछ तांत्रिको के अनुसार विन्दु ही अव्यक्त कुण्डलिनी शक्ति है। उसके व्यक्त होने पर नाद उत्पन्न होता है। कुण्डलनी शक्ति का व्यक्त रूप ही नाद है। इस प्रकार विन्दु के सम्बन्ध में तान्त्रिकों में बहुत भेद है। जो भी हो, हम विन्दु को शक्ति का अव्यक्त रूप कहेंगे और नाद को उसको व्यक्त रूप कहेंगे। समष्टि रूप में वह विश्व का कारण है और व्यष्टि रूप में वह पिण्ड का कारण है।

विन्दु और महाविन्दु शक्ति के शिव तक पहुँचने के मार्ग के बीच के दो पड़ाव भी माने जाते हैं। कुण्डलिनी शक्ति, विन्दु और महाविंदु को पार करके ही अकुल या शिव तक पहुँचती है। संक्षेप में तांत्रिक रहस्यवाद की आधार-भूमि यही कुल कुण्डलिनी योग या नाद-विन्दु-साधना है।

बौद्ध तान्त्रिक—तांत्रिकों की उपयुक्त नाद विन्दु-साधना या कुल कुण्डलिनी योग का विकास सिद्धों में भी हुआ। किन्तु उसको उन्होंने अपने अनुरूप ही रूप प्रदान किया था। ये सिद्ध लोग बौद्ध तांत्रिक भी कहलाते हैं। इन बौद्ध तांत्रिकों को वज्रयानी भी कहते हैं। मंत्र-यान सहज-यान कालचक्र-यान आदि इसीकी शाखाएँ हैं। वज्रयान के चार अंग माने जाते हैं—

(१) क्रिया तंत्र।
(२) चर्या तंत्र।
(३) योग तंत्र।
(४) अनुतर योग तंत्र।

क्रिया तंत्र और चर्या तंत्र में धार्मिक विधि-विधानों को महत्त्व दिया गया है। योग-तंत्र और अनुत्तर-तंत्र में क्रमशः योग-साधना तथा ब्रह्म-

चर्चा मिलती है। वैडेल साहब ने अपने ग्रन्थ 'लामाइज्म'[1] में प्रथम दो अंगो को निम्नतर-तंत्र और अन्तिम दो को उच्चतर-तंत्र कहा है। सात्विक साधको के लिए अन्तिम दो अंग ही आचरणीय माने गये हैं। तमोगुणी साधक प्रथम दो का ही पालन कर सकते हैं। वज्रयान के उपर्युक्त चार विभाग थोड़े हेरफेर के साथ वैष्णव तंत्रों में भी मिलते हैं, वे क्रमशः चर्यापद, क्रियापद, योगपद और ज्ञानपद हैं। इससे स्पष्ट है कि वज्रयान और वैष्णव स्थूल रूप से बहुत मिलते-जुलते हैं। जहाँ योग पक्ष का सम्वन्ध है-वज्रयान में इसको विशेष महत्त्व दिया गया है। रहस्यवाद का सम्वन्ध वज्रयान के इसी स्वरूप से है, अतः यहाँ पर सक्षेप में इसका वर्णन किया जाता है।

वज्रयानियो की योग-साधना हिन्दू तांत्रिको से बहुत मिलती-जुलती है। किन्तु फिर भी दोनों की साधना की सूक्ष्म बाते एक-दूसरे से भिन्न हैं, आगे के विवेचन से बात स्पष्ट हो जायगी। तान्त्रिक योग-रहस्यों का संकेत करने से पहले हम थोड़ा-सा उसकी धार्मिक बातो और विश्वासों की ओर सकेत कर देना आवश्यक समझते हैं।

बौद्ध तांत्रिकों के प्रज्ञा, उपाय और महासुख के सिद्धान्त बहुत प्रसिद्ध हैं। जिस प्रकार हिन्दू-तंत्र में शिव और शक्ति का सुहाग स्थापित करने के लिए योग-साधना का विधान मिलता है, उसी प्रकार बौद्ध तन्त्रों में प्रज्ञा और उपाय को एक करने के लिए योग का वर्णन किया गया है। प्रज्ञा और उपाय क्रमशः स्त्री-शक्ति और पुरुष-शक्ति के वाचक हैं।

बौद्ध-तन्त्रो में इस प्रज्ञा के बहुत-से पर्याय प्रचलित हैं। इनमें मुद्रा, महामुद्रा, वज्रकन्या, योनि, युवती, भगनी, रजकी, नर्तकी, घृतिका,

---

१. लामाइज्म-वैडेल पृ० १६०

डोम्बी आदि प्रमुख हैं।[1] इसी प्रकार उपाय, लिंग-पुरुष आदि के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है।

बौद्ध-तन्त्रों में प्रज्ञा और उपाय के लिये नाडीपरक पर्याय भी प्रचलित हैं; इन्हें इड़ा और पिंगला भी कहते हैं। ललना और रसना भी इन्हीं के नाम हैं।[2] अवधूती इन दोनों के मध्य की नाड़ी होती है, इसे अवधूत कहते हैं। हिन्दू-तन्त्रो में यही सुषुम्ना कहलाती है। बौद्ध-तंत्रों में इसी को महासुख का स्थान मानते हैं। जिस प्रकार हिन्दू-तंत्रों की साधना का लक्ष्य मूलाधार की शक्ति को सहस्रार के शिव से मिलाना होता है, उसी प्रकार बौद्ध-तन्त्रों मे प्रज्ञा और उपाय का सुहाग स्थापित करने पर विशेष बल दिया गया है। प्रज्ञा और उपाय की योग-साधना मे भी चक्रों का भेदन करना पडता है।

बौद्ध-तन्त्रों में केवल चार चक्रो को ही महत्त्व दिया गया है। हिन्दू-तन्त्रों के षट्चक्रों में से केवल तीन चक्र ही बौद्ध-तन्त्रों में वर्णित किये गए हैं। वह क्रमश: मणिपुर-चक्र, अनाहत-चक्र और विशुद्ध-चक्र हैं। हिन्दू-तन्त्रों का सहस्रार बौद्ध-तन्त्रों में उष्णीस-कमल के नाम से उल्लिखित मिलता है। कुछ बौद्ध-तन्त्रों में इसे महासुखचक्र भी कहा गया है। सेकोद्देश-टीका[3] में इन चक्रों का विस्तृत वर्णन किया गया है। उसके अनुसार मस्तक-चक्र में सोलह दल होते हैं तथा नाभि-कमल मे ६४ दल माने जाते हैं। यहाँ इस विषय पर अधिक विस्तार से विचार नहीं करेंगे।

---

१. देखिए—'Introduction to Tantrik Budhism', by S. B. Das Gupta page 114.

२. देखिए—'Introduction to Tantric Budhism', by S. B. Das Gupta, page 118.

३. सेकोद्देश-टीका पृष्ठ २७ पर देखिए।

अब हम यहाँ पर 'सहज' और 'शून्य' इन दो शब्दों पर थोड़ा-सा विचार कर लेना चाहते हैं। क्योंकि कबीर आदि रहस्यवादियों में इन दोनो शब्दो का बहुत प्रयोग किया गया है।

पहले हम 'सहज' शब्द को स्पष्ट कर देना चाहते हैं। शशिभूषण गुप्ता ने अपने 'Obscure Religious Cults'[1] नामक ग्रन्थ में इस शब्द के स्वरूप और अर्थ पर अच्छा प्रकाश डाला है।

उनके मतानुसार 'सहज' का शाब्दिक अर्थ है—वह जो साथ ही उत्पन्न हो (सह जायते इति सहजः); अतः सहज वह तत्त्व हुआ जिसे समस्त धर्म अपनी उत्पत्ति के साथ ही समवाय रूप से सन्निहित रखते है। वास्तव में यह धर्म का सार रूप है। क्योंकि महासुख को सब धर्मों का सार रूप मानते हैं। इसलिए महासुख सहज रूप हुआ। हेवज्रतन्त्र में लिखा है कि समस्त संसार ही सहज स्वभाव वाला है, क्योंकि सहज सबका सार स्वरूप है। इसी सहज स्वरूप को निर्वाण भी मानते हैं। निर्वाण रूप मे इसकी अनुभूति उनको होती है जो शुद्ध चित्स्वरूप हो गए हैं। यद्यपि 'सहज' महासुख के रूप में इस शरीर के द्वारा ही अनुभूत किया जाता है किन्तु इसे कोई भौतिक वस्तु नही समझना चाहिए।

सबका सार रूप होने के कारण यह पारमार्थिक-सत्य-स्वरूप कहा जा सकता है। यह निरुपाधि और सोपाधि दोनों स्वरूपों में पाया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध-तांत्रिकों के यहाँ यह 'सहज' शब्द ब्रह्म का पर्यायवाची है। इसका प्रयोग निरुपाधि और सोपाधि ब्रह्म के दोनों स्वरूपो का बोध कराने के लिए किया जाता है। यह ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों में विद्यमान है। यह अद्वैतरूप और अखण्ड है। इससे स्पष्ट है कि वज्रयान की सहजयान शाखा भी अद्वैतमूलक है। इस सहज के सहारे सिद्धों ने बहुत-सी रहस्याभिव्यक्तियाँ खड़ी की हैं। उन्ही के

---

१ पृष्ठ ६० पर देखिए।

आधार पर निर्गुणी-कवियों ने भी सहज का प्रयोग रहस्यात्मक ढग से किया है।

अब हम शून्य शब्द को स्पष्ट कर देना चाहते हैं। शून्य शब्द का भी एक लम्बा-चौड़ा इतिहास है। यहाँ पर उनका विस्तृत-वर्णन करना न तो सम्भव ही है और न आवश्यक ही है। शून्य शब्द का दार्शनिक निरूपण सर्वप्रथम बौद्ध-दर्शन में किया गया था। बौद्धधर्म की दो प्रमुख धाराएँ हैं—'हीनयान' और 'महायान'। शून्य का प्रयोग दोनों धाराओं में मिलता है। किन्तु दोनो के स्वरूप और अर्थ मे अन्तर है। इस अतर को समझाते हुए 'Aspects of Mahayan Budhism' नामक ग्रन्थ में N. Dutt साहब ने[1] इस प्रकार लिखा है—

"हीनयानी शून्य शब्द की सीधीसादी परिभाषा देते हैं। उनका कहना है कि जगत् विविध व्यक्तित्व या व्यक्तित्व-संबंधी बातों से रहित होने के कारण शून्य कहा जाता है। किन्तु महायानी केवल व्यक्तित्व-विहीनता को ही शून्य की अवस्था नहीं मानते हैं। उनके अनुसार तथागतता, निर्वाण, आकाश आदि सभी कुछ शून्य है। वास्तव में तथागत इस प्रकार के बंध्या-पुत्र के सदृश्य विरोधात्मक शब्दों के झगड़े में नहीं पड़ते हैं।"

माध्यमिक आचार्यों ने शून्य की कल्पना के कारण को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि किसी भी पदार्थ के स्वरूप-निर्णय मे चार प्रकार की शैलियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं। वे क्रमशः अस्ति, नास्ति तदुभय तथा नोभय है; किन्तु माध्यमिक परम-तत्त्व का बोध इनमें से किसी भी शैली में नही किया जा सकता। क्योंकि वह अवाङ्-मनसा अगोचर एवं अनिर्वचनीय है। उसका बोध यदि किसी भी शब्द से किया जा सकता है तो केवल शून्य शब्द से। इस प्रकार माध्यमिक-मत में शून्य पारमार्थिक-सत्ता का वाचक हुआ।

---

१. 'Aspects of Mahayan Budhism', by N. Dutt page 17.

बौद्ध-सिद्धों ने भी शून्य शब्द का बार-बार प्रयोग किया है। उन्होंने शून्य का अर्थ द्वैताद्वैत-विलक्षण-तत्त्व किया है। बौद्ध-तंत्रों में बोधचित्ति की पारमार्थिक सत्ता कल्पित की गई है। बोधचित्ति-शून्यता या प्रज्ञा और करुणा या उपाय का समन्वित रूप है। इन दोनों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए S. B. Das Gupta ने अपने (Obscure Religious Cults) 'आब्स्क्योर रिलीजस कल्टस' नामक ग्रन्थ में लिखा है—"विश्व-विकास की दृष्टि से प्रज्ञा या शून्यता शुद्ध-चित्-तत्त्व है। यह प्रकाश और स्थिर रूप रहता है, इसके उपाय सक्रिय-तत्त्व है। इसीके प्रभाव से प्रज्ञा में क्षोभ उत्पन्न होता है जिसके फलस्वरूप विश्व का विकास होता है।" इस आधार पर कभी-कभी शून्य का प्रयोग चित्तस्वरूपी-स्थिर-प्रकाश-रूप-सत्ता के अर्थ में किया जाता है। वज्रयानी-सिद्धों में इसका प्रयोग प्रायः इसी अर्थ में किया गया है। संक्षेप में तान्त्रिक-बौद्धों के रहस्यवाद का स्वरूप यही है[1]।

कुछ लोग तो नाथ-पंथ को भी तान्त्रिक-बौद्धों का ही एक सम्प्रदाय मानते हैं। किन्तु यह शैव और बौद्ध-तान्त्रिको की साधना के सम्मिश्रण से तैयार किया हुआ नया साधना-प्रधान सम्प्रदाय है। हमारी समझ में साधना की दृष्टि से नाथ-सम्प्रदाय के भी दो भेद है—एक मत्स्येन्द्रनाथी-सम्प्रदाय और दूसरा गोरखपंथी सम्प्रदाय। मत्स्येन्द्रनाथी-योग-साधना को योगनी-कौलमार्ग तथा गोरखपंथी साधना को नाथपंथी-साधना-मार्ग कहा जाता है। हमारी समझ में यह नाम संबंधी अन्तर उनके कुछ धार्मिक और दार्शनिक मतभेदों का द्योतक है। साधना की दृष्टि से इन दोनों में कोई विशेष मौलिक अन्तर नही है, जो थोड़ा-बहुत अन्तर दिखाई पड़ता है उसका कारण यह है कि योगिनी-कौल-पंथ में हठयोग या कुल-कुण्डलिनी-योग को विशेष महत्त्व दिया गया है और गोरख के नाथ-पंथ में मन और पवन-साधना को विशेष मान्यता दी गई है। दोनों

१ 'कौल ज्ञान निर्णय' द्वारा पी०सी० बागची, पृष्ठ ३५ देखिए।

ही साधनाएँ मिलकर मत्स्येन्द्रनाथी-योग-साधना के अभिधान से प्रसिद्ध हैं। इनकी योग-साधनाओं का सामान्य विस्तृत विवेचन 'शिव-संहिता', 'हठयोग-प्रदीपिका', 'घेरंड-संहिता', 'योगोपनिषद्' आदि ग्रन्थों में किया गया है। यदि दोनों की साधनाओं के अलग-अलग स्वरूपों को देखना हो तो मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ के ग्रन्थों को अलग-अलग स्वतंत्र रूप मे देखना चाहिए।

सामान्य रूप मे नाथपंथियों-का योग, हठयोग के नाम से प्रसिद्ध है। हठयोग के अर्थ को 'हठयोग-प्रदीपिका' की टीका में इस प्रकार समझाने की चेष्टा की गई है—

'ह' का अर्थ है, सूर्य 'ठ' का अर्थ है चन्द्र, इस प्रकार सूर्य और चन्द्र के योग को हठयोग कहा गया है। कुछ लोग सूर्य और चन्द्र से प्राण और अपान का अर्थ लेकर हठयोग का अर्थ 'प्राणापान ऐक्यरूप' प्राणायाम मानते हैं। 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में गोरखनाथजी ने भी 'हठ' शब्द की व्याख्या कुछ इसी प्रकार की है[1] —

इस प्रकार स्पष्ट है कि नाथ-पंथ में सूर्य और चन्द्र के योग के लिए जो साधना की जाती है उसी को हठयोग कहा गया है। इस हठयोग के विविध अंगों व उपांगों के विस्तृत वर्णन हमें नाथपंथी ग्रंथों में मिलते हैं। 'पातंजल हठयोग' में कुछ निश्चित यम, नियम, आसन आदि का ही उल्लेख किया गया था, किन्तु मत्स्येन्द्रनाथी-योग-धारा में हठयोग के इन अंगों और उपांगों का बड़ा ही जटिल विस्तार किया गया है। नाथ-पंथी हठयोग की इस जटिलता का प्रभाव कबीर और जायसी दोनों के रहस्यवाद पर पड़ा है। उनके रहस्यवाद का विवेचन करते समय

---

१ "हश्च ठश्च हठौ सूर्यचंद्रौ, तयोर्योगो हठयोगः। एतेन हठशब्द-वाच्योः सूर्यचंद्राख्ययोः प्राणापानयोरैक्य लक्षणः प्राणायामो हठयोग इति हठयोगस्य लक्षणं सिद्धम्।

'हठयोग-प्रदीपिका', श्रीनिवास आयंगर, पेज ३।

हम उनका उल्लेख कर चुके हैं। अतएव यहाँ पर पिष्टपेषण करके विषय-विस्तार नही करेंगे।

सूफी रहस्यवाद और जायसी

सूफी-मत, अन्ध-विश्वास-प्रधान, शुष्क-इस्लाम-धर्म की प्रतिक्रिया के रूप मे उदय हुआ था। इस्लाम-धर्म में बुद्धिवादी भावना के लिए कोई स्थान ही नही है। बुद्धिमान, भावुक मुसलमानों से इस्लाम-धर्म की यह अपूर्णता न देखी जा सकी, इसलिए उन्होंने सूफी-भावना को जन्म दिया। सूफी-मत के उदय होने का एक और कारण है। वह है मानव का लौकिक-रति के प्रति अटूट लगाव। मनुष्य कभी भी इस रति से पूर्ण विरति नही प्राप्त कर सका है। सृष्टि के विकास का भी मूल कारण यही लौकिक-रति या वासना ही है। 'वृहदारण्यकोपनिषद्'[1] में स्पष्ट लिखा है कि आदि-पुरुष ने रमण की कामना से ही द्विधा फिर बहुधा रूप धारण किया। परम-पुरुष की इस रमण-कामना की तृप्ति के हेतु भिन्न-भिन्न धर्मों में भिन्न-भिन्न प्रकार के साधनों को जुटाने की चेष्टा की गई। विश्व के समस्त प्राचीन सभ्य देशों में देवदासी प्रथा का पाया जाना इस बात का पुष्ट-प्रमाण है[2]। धर्म में अंकुरित होने वाली इसी मादन-भाव की अभिव्यक्ति सूफी-मत मे अलौकिकता का बाना पहनाकर प्रतिष्ठित की गई है। इस्लाम मे लौकिक-रति को केवल उतना ही महत्त्व दिया गया था जितना कि समाज को सुचारु-रूप से संचालित करने के लिए आवश्यक समझा गया था। उसमें अनियंत्रित-प्रणय के लिए कोई स्थान ही न था। इसीलिए भावुक सूफियों ने एक

---

१ सोऽकामायत् एकोऽहं बहुस्याम्। वृहदारण्यक

२ देखिए 'सरस्वती भवन स्टडीज', वाल्यूम ८ में मन्मथनाथ का लेख।

ऐसे मत की प्रतिष्ठा की जिसमें अलौकिक-भक्ति के साथ-साथ लौकिक-रति को भी महत्त्व दिया गया। "परदे बुतां में नूरे खुदा देखते हैं" वाली बात इसी लौकिक-परिधान में सुसज्जित अलौकिक रति का संदेश देती है। इस प्रकार सूफियों ने लौकिक एवं अलौकिक दोनों प्रकार की रति-भावना की अभिव्यक्ति में अपनी सारी शक्ति लगादी। पहले ये सूफी अधिकतर संत और साधु व्यक्ति ही थे। अतएव वे लौकिक रति को अलौकिक रति तक पहुँचने का एक सोपान-मात्र समझते थे। बाद में चलकर लौकिक-रति के प्रति ही इनका लगाव रह गया। अलौकिक-रति की भावना केवल नाम-मात्र के लिए ही अवशिष्ट रह गई। इस प्रकार रति-भावना सूफी सम्प्रदाय के इतिहास में सदैव ही किसी-न-किसी रूप में प्रतिष्ठा पाती रही हैं। वास्तव में यही सूफी-साधना की आधार-भूमि है।

रति-भावना का सम्बन्ध सौन्दर्य और प्रेम से है। सूफियों ने अधिकतर 'हक' या ईश्वर की कल्पना इसीलिए या तो सौंदर्य-रूप में की है या प्रेम-रूप में। प्रसिद्ध सूफी इब्नेसिना सौन्दर्यवादी थे और मंसूर हल्लाज प्रेमवादी। जायसी के पद्मावत पर इन दोनों का ही पूरा-पूरा प्रभाव दिखलाई पड़ता है। उनका समस्त काव्य सौन्दर्य और प्रेम की मधुर भावना से विभोर है।

जायसी का सौन्दर्य-चित्रण सर्वत्र ही अलौकिक है। जहाँ पर लौकिक-सौन्दर्य का वर्णन किया भी है, वहाँ पर बीच-बीच में समासोक्ति के सहारे उसकी अलौकिकता व्यंजित कर दी है। पद्मावती अपने केशों को खोलकर उन्हें सँवारना चाहती है। उसके केश इतने काले हैं कि स्वर्ग और पाताल में अन्धकार छा जाता है।[1]

---

१ बेनि छोरि झार जो बारा।
स्वर्ग पतार होई अँधियारा।

सौन्दर्य की यह विराट्-भावना ही जायसी के काव्य का प्राण है। इसकी अभिव्यक्ति उन्होने पद्मिनी को विराट्-ब्रह्म के रूप में कल्पित करके और भी सुन्दर ढंग से की है। देखिए निम्नलिखित पंक्तियों में जायसी ने विराट्-ब्रह्म-रूपिणी-पद्मिनी के विराट् सौन्दर्य का चित्रण कितने सुन्दर ढग से किया है।

'मान-सरोवर रूपी साधक ने विराट्-ब्रह्म-रूपी पद्मावती के आने का समाचार पाकर यह अनुभव किया कि पारस-रूपी विराट्-ब्रह्म स्वयं मेरे पास आ गया है। उसके चरणों का स्पर्श कर मै निर्मल हो गया हूँ, शरीर में मलय की सी सुगन्ध आने लगी है। उस दिव्य-रूप के दर्शन पाकर मै कृतार्थ हो गया।'[1]

इस प्रकार हम देखते है कि जायसी की सौन्दर्य-भावना और अभिव्यक्ति सूफियों से बहुत प्रभावित है। जायसी ने जिस सौन्दर्य का वर्णन किया है उसमें एक विचित्र पवित्रता है, एक अलौकिक आनन्द-विधायक विशेषता है। उस दिव्य-सौन्दर्य के साक्षात्कार से अज्ञान का अन्धकार नष्ट हो जाता है। जन्म-जन्मान्तर के पाप धुल जाते हैं। उपर्युक्त-पंक्तियों में साक्षात्कार की इसी स्थिति का चित्रण किया गया है। इसी प्रकार एक दूसरे स्थल पर उन्होंने एक ऐसा ही और चित्र चित्रित किया है वह इस प्रकार है।

---

१ कहा मानसर चाह सो पाई। पारस रूप यहाँ लगि आई॥
भा निर्मल तिन पायन परसे। पावा रूप रूप के दरसे॥
मलय समीर बास तनु आई। भा सीतल गए तपन बुझाई॥
न जनौ कौन पौन लेइ आवा। पुन्य दसा भई पाप गवाँवा॥
ततखन हार बेग उतराना। पावा सखीन्ह चन्द बिहँसाना॥
बिगसा कुमुद देख ससि रेखा। भई तहँ ओप जहाँ जोइ देखा॥
पावा रूप रूप जस चाहा। ससिमुख जनु दरपन होई रहा॥
जायसी ग्रंथावली, पृ० २५

यही सौन्दर्य-भावना प्रेम का मूल कारण है। इसीलिए सूफियों ने प्रेम-तत्त्व को अत्यधिक महत्त्व दिया है। यह प्रेम-तत्त्व सूफियों के अनुसार अत्यधिक विरह विशिष्ट होता है। उसमें तर्क की मान्यता नहीं होती। जलालुद्दीन रूमी ने प्रेम का वर्णन करते हुए देखिए उसकी कितनी सुन्दर व्याख्या दी है।

हृदय की पीड़ा प्रेमी के प्रेम की अभिव्यक्ति कर देती है। इस हृदय की वेदना से किसी अन्य वेदना की तुलना नहीं की जा सकती है। प्रेम एक अलग ही रोग है, जिसमें दैवी विभूतियों की अनुभूति होती है। यही प्रेम हमें आगे ले जाता है। इनकी अभिव्यक्ति और व्याख्या तर्क के सहारे नहीं की जा सकती। प्रेम स्वयं ही अपना व्याख्याकार होता है। वह ठीक उसी तरह से है जिस तरह से सूर्य होता है। सूर्य अपना प्रमाण स्वयं है। प्रेम भी स्वयं प्रमाणरूप होता है। एक स्थल पर इमरसन ने भी इसी भावना की अभिव्यक्ति दूसरे शब्दों में की है। यही प्रेम-तत्त्व साधक को प्रेरणा देता है इसी को पाकर वह उन्मत्त हो उठता है। रूमी ने इस स्थिति का बड़े सुन्दर ढंग से चित्रण किया है[1]

---

१ "'Tis heartache lays the lover's passions fare,
No sickness with heart-sickness may compare.
Love is a malody apart, the sign,
And a store label of mystries Divine.
Whether of heavenly mould or earthly cast,
Love still doth lead us yonder at the last.
Reason, explaining Love, can naught but flounder,
Like ass in mire; Love is Love's own expounder
Does not the sun himself the sun declare ?
Behold him : all the proof thou seek'st is there."

—Rumi by Nicholson, Page 43.

'प्रेम की ज्वाला ने ही मुझे प्रज्वलित' किया है। उसी की मदिरा ने मुझे उन्मत्त बनाया है। इस पर नरकुल घास से यह सीख लो कि प्रेमी किस प्रकार से अपना रक्त बहाता है।'[1] यही दिव्य-सौन्दर्य साधक को सिद्धि के द्वार पर ले जाता है।

'प्रेम, सच्चे प्रेमी को कभी थकने नहीं देता। उसे वह नित्य-नवीन-शाश्वत-सौन्दर्य की अनुभूति कराता रहता है, और प्रत्येक पद पर नित्य नई विभूति प्रदान करता रहता है[2]।'

रूमी के सदृश जायसी भी सूफी थे, इसीलिए उन्होंने दिव्य-सौन्दर्य और प्रेम की मार्मिक-अभिव्यक्ति की है। दिव्य-सौन्दर्य का संकेत ऊपर किया जा चुका है। यहाँ पर उनके सूफी-प्रेम पर दो-चार शब्द कहना अभिप्रेत है। जायसी ने जिस प्रेम का वर्णन किया है वह प्रत्यक्ष लौकिक दिखलाई देते हुए भी अलौकिक है। यह बात उन्होंने "परिमल प्रेम न आछे छपा" लिखकर स्वीकार की है। यही परिमल-प्रेम 'कठिन दुहेला' कहा गया है। जो प्रेमी साधक अपने साधना-मार्ग में इस प्रेम को अपनाता है वह दोनों संसार से पार हो जाता है।[3]

---

१ "It is the flame of love that fired me,
This is the wine of love that inspired me.
Wouldst thou learn how lovers bleed,
Hearken, hearken to the Reed."

२ "Love will not let his faithful servant's tire,
Immortal Beauty draws them on and on,
From glories unto glory, drawing nigher,
At each remove and loving to be drawn."

३ भलेहि प्रेम है कठिन दुहेला।
दुइ जग तरा प्रेम जेहि खेला॥

यह प्रेम सुरा के सदृश मादक है। इसे पीकर मरने व जीने का भय हीं रह जाता है। जायसी ने लिखा है कि प्रेम रूपी मदिरा के पान करने पर साधक को जीवन और मरण का भय नहीं रहता। जिसके हृदय में प्रेम रूपी मदिरा का मद छाया रहता है, वह महुये की छाया के सदृश सांसारिकता से उदासीन रहता है।[1]

यह आध्यात्मिक-प्रेम अनिवर्चनीय भी होता है। इसके महत्त्व को वही जानता है जिसने इसका अनुभव किया है। जायसी के शब्दों में प्रेम-मार्ग का वर्णन वही कर सकता है जिसने उसका अनुभव कर लिया है। जिसने उस मार्ग का अनुभव नहीं किया है वह उसके रहस्य को नहीं समझ सकता।[2]

सूफी-आध्यात्मिक-प्रेम की एक और विशेषता होती है, वह है उसका विरह से मुक्त होना। जायसी ने प्रेम में विरह को विशेष महत्त्व दिया है। प्रीत रूपी लता के साथ विरह सदैव वर्तमान रहता है। उस विरह से स्वर्ग और पाताल जलते रहते हैं।[3]

इस आध्यात्मिक प्रेम की जागृति पूर्व-जन्म के पुण्यों के प्रभाव के फलस्वरूप होती है। तभी जायसी ने लिखा है।

'न जनौ कौन पौन लेइ आवा।'

---

१ सुनि धनि प्रेम सुरा के पिये,
जियन मरन डर रहै न हिए।
प्रेम सुरा जेहि के हिय चाहा,
कित बैठे महुआ के छाहा॥

२ प्रेम वार सो कहै जो देखा।
जो न देख का जान बिसेखा॥

३ प्रीति बेल संग विरह अपारा।
सरग पतार जरै तेहि झारा॥

पद्मावती-रूपी विराट्-ब्रह्म के दर्शन पर समुद्र अपने पूर्व-जन्म के पुण्यों की सराहना करता हुआ कहता है कि न मालूम किस पुण्य के फलस्वरूप उसे ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त हुआ है। इस आध्यात्मिक-प्रेम में लौकिक-प्रेम की शारीरिक वासना की तृप्ति के स्थान पर केवल दर्शन की कामना ही को महत्त्व दिया जाता है। इस दर्शन की कामना के आगे साधक स्वर्ग की भी उपेक्षा करता है। पद्मावत में रत्नसेन कहता है—"मैं स्वर्ग का राज्य नहीं चाहता, नरक के प्रति भी मुझे कोई लगाव नहीं है। मैं तो केवल उस प्रेम-पात्र के दर्शन करना चाहता हूँ जिसने मुझे प्रेम-मार्ग में लगाया है।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'पद्मावत' में वर्णित प्रेम और सौन्दर्य दोनों ही पूर्णरूपेण सूफी है। यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि जायसी का प्रेम-वर्णन आध्यात्मिक है तो फिर उसमें स्थान-स्थान पर वासना की दुर्गन्ध क्यों आती है? "दिन-दिन मदन सतावै आई"—जैसी उक्तियों उसमें क्यों पाई जाती हैं? इस सम्बन्ध में सूफी देवदासी राबिया का स्मरण कराना चाहता हूँ। राबिया अपने को अल्लाह की पत्नी समझती थी। वह कहती है—"हे नाथ मैं आपको द्विधा-प्रेम करती हूँ। एक तो यह मेरा स्वार्थ है कि मैं आपके अतिरिक्त किसी अन्य की कामना नहीं करती—दूसरे मेरा यह परमार्थ है कि आप मेरे पर्दे को मेरी आँखों से हटा देते हैं ताकि मैं आपका साक्षात्कार करके आपकी सुरति में निमग्न हो जाऊँ। किसी भी दशा में मुझे इनका श्रेय नहीं मिल सकता। यह तो आपकी कृपा-कोर का प्रसाद है।"[2]

---

१ नाहीं सर्गक चाहौं राजू।
ना मोहि नरक सेंत किछु काजू॥
चाहौं ओहिकर दरसन पावा।
जेहि मोहि आन प्रेम-पथ लावा॥

२ देखिए 'ए लिट्रेरी-हिस्ट्री ऑफ एरेबिया', पृष्ठ २३४।

राबिया की इस प्रेमाभिव्यक्ति में हमें जो एक प्रवेगपूर्ण मादन-भाव के दर्शन होते हैं उसमें प्रत्यक्ष लौकिकता होते हुए भी अलौकिकता और आध्यात्मिकता वर्तमान है। 'पद्मावत' मे जायसी ने इसी दाम्पत्य-भाव की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष लौकिक रूप मे करते हुए भी उसमें अप्रत्यक्ष रूप से आध्यात्मिकता को प्रतिष्ठित कर दिया है। 'पद्मावत' में लौकिक प्रेम पक्ष मे पाये जाने का एक कारण और है। उसकी कहानी एक प्रसिद्ध लोक-कथा है। लोक-कथा की मार्मिकता की रक्षा और निर्वाह के लिए लौकिक मादन भाव का वर्णन परमापेक्षित था। यही कारण है कि जायसी ने प्रत्यक्ष रूप से लौकिक प्रेम का ही वर्णन किया है।

आध्यात्मिक प्रेम मे आध्यात्मिक विरह का बड़ा ही महत्त्व है। यह विरह ही प्रेम को उद्दीप्त किये रहता है। इसीलिए सूफी कवियों ने विरह तत्त्व को बहुत महत्त्व दिया है। जायसी भी सूफी थे, अतः उनमें भी उसकी मार्मिक अभिव्यजना मिलती है।

जायसी ने भी अन्य सूफियो की भाँति विरह-तत्त्व को अधिक महत्व दिया है। उन्होंने तो यहा तक लिखा है कि साधक को गुरू से विरह-तत्त्व ही प्राप्त होता है। गुरु, साधक मे विरह की चिनगारी निक्षिप्त कर देता है, सच्चा शिष्य उस चिनगारी को प्रज्वलित कर लेता है।[1]

प्रेम के समान जायसी ने विरह के भी लौकिक और अलौकिक दोनो पक्षों का उद्घाटन किया है। जहाँ पर विरह व्यक्तिपरक है वहां पर तो उसका लौकिक-पक्ष ही प्रधान है किन्तु जहाँ पर उसका आरोप विश्व मे कर दिया गया है। वहाँ वह पूर्ण रूप से अलौकिक हो गया है। जैसे एक स्थल पर अलौकिक-विरह का वर्णन करते हुए वे

---

१ गुरू विरह चिनसी जो मेला।
सो सुलगाह लेई जो चेला॥

लिखते हैं—'विरह की अग्नि से सारा संसार जल कर कम्पायमान हो रहा है। वह रात-दिन उसकी विरह की ज्वाला से सन्तप्त रहता है। समस्त नक्षत्र और तारे उसी ज्वाला में जल रहे हैं। पृथ्वी पर उसी ज्वाला के प्रभाव से लूक टूटते हैं।'[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी में सूफियों का विरह-तत्त्व भी अपने सुन्दरतम-रूप में विद्यमान है।

जायसी सूफियों के आध्यात्मिक-सिद्धान्तों से भी प्रभावित थे। सूफियों की यह दृढ़ धारणा है कि रूह सदैव अपने प्रियतम से एकाकार प्राप्त करने के लिए तड़पती रहती है। रूमी ने इस बात का संकेत करते हुए लिखा है—'ईश्वर ने अपने प्रकाश की वर्षा सभी आत्माओं पर की है किन्तु पवित्र आत्माएँ ही केवल उसे प्राप्त कर सकी हैं। उस प्रकाश को प्राप्त करके वे संसार की समस्त वस्तुओं से विमुख होकर ईश्वरोन्मुख हो गई हैं। जो समुद्र की धारा है वह समुद्र में ही जाती है। इस प्रकार आत्मा जहाँ से आती है वहीं जाना चाहती है।

सूफियों के इस आध्यात्मिक-सिद्धान्त की छाया जायसी की "धाय जो बाजा कै मन साधा"[2] आदि पंक्तियों पर स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

इन पंक्तियों में उन्होंने स्पष्ट ध्वनित किया है कि विश्व के समस्त पदार्थ उस परमात्मा तक पहुँचने के लिए प्रयत्नशील हैं। किन्तु अपनी साधना की अपूर्णता के कारण वे वहाँ पहुँच नहीं पाते हैं। भारतीय

---

१ विरह की आगि सूर जरि कांपा।
रातिहु दिवस जरै ओहि तापा॥
औ सब नखत तराई जरहीं।
टूटहि लूक धरति महँ परहीं॥

२ धाय जो बाजा कै मन साधा।
मारा चक्र भयऊ दुइ आधा॥

दृष्टि से भी आत्मा परमात्मा का अंश है और वह सदैव उससे तादात्म्य स्थापित करने के लिये तड़पती रहती है। किन्तु माया के कारण वह सरलता से उससे नहीं मिल पाती है। जब साधक ज्ञान के सहारे माया पर विजय प्राप्त कर लेता है। वह तभी अपने प्रियतम से तादात्म्य-लाभ कर पाता है।

सूफियों की सृष्टि-विकास-सम्बन्धी धारणा का भी प्रभाव जायसी पर लक्षित होता है। सूफियों के भिन्न-भिन्न वर्ग सृष्टि, उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में अपने अलग-अलग मत रखते हैं। जायसी पर सहूदियावर्ग के सूफियों का प्रभाव अधिक पड़ा था। ये वर्ग सिद्धान्त रूप से प्रतिबिम्बवादी हैं। इनके मतानुसार संसार एक दर्पण है जिसमें ईश्वर के धर्म प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। जायसी ने सूफियों के इस प्रतिबिम्बवाद की झाँकी मानसरोवर-खंड के अंतिम अवतरण में बहुत सुन्दर ढंग से सजाई है। मानसरोवर ने पद्मावती की आने की सूचना पाकर कहा कि-पद्मावती रूपी पारस मणी हमारे समीप तक आ रही है।......सरोवर में पद्मावती का प्रतिबिम्ब पड़ते ही उसके नेत्र की शोभा से कमल निर्मित हो गये। उसके शरीर की शोभा जल की निर्मलता के रूप में प्रतिबिम्बित दिखाई पड़ने लगी। उसकी हँसी से हंसो की सृष्टि हो गई, उसके दाँतों ने नग और हीरों को कान्ति प्रदान की।[1]

यहाँ पर पद्मावती का चित्रण विराट्-ब्रह्म के रूप में किया गया है। सरोवर को हम संसार का प्रतिरूप मान सकते हैं। पद्मावती रूपी ईश्वर के ही विविध अंग-रूपी धर्म, सरोवर-रूपी संसार में विविध पदार्थों

---

१ कहा मानसर चाह सो पाई।
पारस रूप यहा लगि आई॥
नैन जो देखा कमल भा, निर्मल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस-भा, बसन जोति नगहीर॥

के रूप में प्रतिविम्बित दिखलाए गए हैं। इस आधार पर हम जायसी की जगत्-संवन्धी धारणा सूफियों के अहदिया-वर्ग के अनुरूप कह सकते हैं।

सूफी-धर्म भी एक साधना-प्रधान धर्म है। यौगिक साधक के सदृश सूफी-साधना भी रहस्यपूर्ण है। सूफियों को अपना कल्ब (हृदय) शुद्ध करके रूह (आत्मा) को विकसित करना पड़ता है। कल्ब शुद्ध करने के लिए उन्हें सात मुकामात से होकर गुजरना होता है। वे मुकामात क्रमशः प्रायश्चित, अकिंचनता, त्याग, संतोष, ईश्वर-विश्वास, धर्म तथा निरोध हैं। इनके अतिरिक्त साधक के लिए ईश्वर-स्मरण और जप आदि भी आवश्यक होते हैं, इन्हें हालात कहते हैं। बाशरा सूफी लोग सदाचरण, प्रपत्ति और कुरान शरीफ की आयतों का पालन करना भी आवश्यक समझते हैं। इस प्रकार साधक अपने शरीर आत्मा और मन को शुद्ध करके क्रमशः साधना के मार्ग मे अग्रसर होता है। ये मार्ग बहुत ही कठिन और जटिल हैं इसीलिए उसमें उन्होंने चार पड़ाव माने हैं—शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारफत।

धर्न-ग्रन्थ की शरायतों के अनुकूल चलना ही शरीयत है। मानसिक एवं हार्दिक-साधना-मार्ग में अग्रसर होना तरीकत कहलाता है। प्रेम और ज्ञान के सहारे सत्य का वोध करना हकीकत है। मारफत, शुद्ध ज्ञान और समाधि की स्थिति है। उस स्थिति में पहुँचकर साधक ब्रह्ममय हो जाता है। इस स्थिति का वर्णन सूफियों ने बड़े विस्तार से किया है। इस स्थिति के छः पक्ष माने जाते हैं। उनका हम जायसी के प्रसंग में उल्लेख करेंगे।

जायसी में सूफी साधना की उपर्युक्त सभी बातें मिलती हैं उनके रहस्यवाद का वर्णन करते समय उनका विवेचन कर दिया जायेगा।

सूफियों ने भावातिरेकता की अवस्था पर भी बहुत जोर दिया है। साधक को इसी भावातिरेकता की अवस्था में ब्रह्मानुभूति होती है। जब तक साधक का कल्ब बिल्कुल शुद्ध नहीं हो जाता तब तक ब्रह्मानुभूति चिरस्थायी नहीं होती। इस अवस्था को रहस्यवादी लोग

आंशिक अनुभूति की अवस्था मानते हैं। जायसी में इसके वहुत से उदाहरण मिलते हैं। कल्व जव विल्कुल शुद्ध हो जाता है तो उसे माया या शैतान किसी प्रकार भी पराभूत नही कर पाते हैं। तव साधक को चिर-दिव्यानुभूति की अवस्था प्राप्त होती है। दार्शनिक भाषा में इसे जीवन-मुक्ति की अवस्था कहते हैं। जायसी में इस अवस्था के चित्र नही मिलते हैं। उसका कारण यह है कि उनका साधक इस अवस्था को प्राप्त करके भी उसमें स्थिर नहीं रह पाता है। वह नागमती-रूपी सांसारिकता के चक्कर में इस प्रकार फँसा है वह इस अवस्था को प्राप्त करके भी उसे स्थिर वनाए रखने में असमर्थ है। जासीय के आध्यात्मिक-रहस्यवाद के प्रसंग में उनकी अन्योक्ति को स्पष्ट करते समय इस वात पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

जायसी में हमें सूफी-साधना के चार पड़ावों की भी चर्चा मिलती है, वे एक स्थल पर लिखते हैं—

"चार वसेरे सों चढ़ें, सत सों उतरे पार।"

जायसी में इन अवस्थाओं के वर्णन वड़ी रहस्यपूर्ण-शैली में किये गये हैं। जायसी के रहस्यवाद के प्रसंग में इनका संकेत किया गया है।

सूफी-साहित्य एवं साधना में प्रतीकों का वहुत महत्त्व है। उस प्रियतम की अनुभूति वास्तव में गूँगे का गुड़ है। इसीलिए उसकी सम्यक्-अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती है। किन्तु यह मानव का स्वभाव है कि वह अनुभूतियों के अनुभव का लोभ भी संवरण नहीं कर पाता है। इसीलिए वह अनिवर्चनीय और अनिवेद्य को निवेद्य और वचनीय वनाने का प्रयत्न करता है। सूफी आचार्य फारिज ने प्रतीकों के द्विधा महत्त्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि उनके प्रयोगों से दो लाभ होते हैं—एक तो प्रतीकों की ओट लेने से धर्म-वाधा टल जाती है, दूसरे उनके प्रयोगों से उन वातों की अभिव्यंजना भी खूव हो जाती है

जिसके निदर्शन में वाणी मूक अथवा असमर्थ होती है ।[1]

सूफी-साधना का प्रधान तत्त्व रति है । रति का मुख्य उद्दीपक मदिरा है । इसीलिये सूफी-साधना में प्रेम और सुरा की बड़ी चर्चा मिलती है । रति का दाता माशूक होता है, सुरा का साकी । सूफी लोग माशूक के सौन्दर्य को परमात्मा का सौन्दर्य समझते हैं । अल्लाह को ये लोग पुरुष रूप मानते हैं और रमणी को दिव्य-प्रेम का प्रतीक कहते हैं । अरावी नामक सूफी ने लिखा है कि परमात्मा के दर्शन सदैव स्त्री-रूप में ही किये जाने चाहिएँ ।[2] जायसी पर सूफियों की स्त्री-सुरति और सुरा का भी पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है । उन्होंने अरावी के सदृश ही पद्मावती नामक रमणी में परमात्मा के दर्शन किये हैं । पद्मावत में पद्मावती का वर्णन सर्वत्र विराट्-ब्रह्म के रूप में ही किया गया है । जायसी अन्य सूफियों के सदृश सुरा के प्रभाव से भी परिचित थे । उन्होंने प्रेम को ही सुरा कहा है—हे स्त्री सुन जो प्रेम-रूपी मदिरा का पान कर लेता है उसको जीने और मरने का भय नहीं रहता ।[3]

दाम्पत्य प्रतीकों के अतिरिक्त सूफियों में विपरीतात्मक प्रतीकों का भी प्रचार था । विपरीतात्मक प्रतीक कबीर की उलटवासियों से मिलते जुलते हैं । कबीर पर इनका प्रभाव माना जा सकता है । जिली नामक सूफी की एक विपरीतात्मक उक्ति है कि "मेरी प्रार्थना पर मेरी माताओं ने मुझ से प्रणय कर लिया ।" एक दूसरे स्थल पर उसने पुनः लिखा है कि "मेरी माता ने मेरे पिता को जन्म दिया ।"[4] कबीर ने भी इसी ढंग

---

१ देखिए 'तसव्वुफ अथवा सूफी मत' द्वारा चंद्रबली पांडे, पृष्ठ १८

२ देखिए 'स्टडीज इन इस्लामिक मिस्टिसिज्म' द्वारा निकलसन, पृ० १६१

३ सुनिधनि प्रेम सुरा के पिए ।
जियन मरन डर रहे न हिए ॥ जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ १३६

४ देखिए 'स्टडीज इन एस्लामिक मिस्टिसिज्म' द्वारा निकलसन, पृ० ११२-११३ ।

की बहुत सी उक्तियाँ लिखी हैं। उनकी एक उक्ति है—'बिटिया ने बाप जायो।' यह उक्ति अरावी की उपर्युक्त उक्तियों के ठीक अनुरूप दिखलाई पड़ती है। इस प्रकार की उक्तियों के लिए मुक्तक-काव्य में अधिक स्थान रहता है। इसीलिए जायसी में इस कोटि की उक्तियाँ नही पाई जाती हैं।

सूफी, अधिकतर अद्वैतवादी होते हैं। किन्तु उनका अद्वैतवाद एकेश्वरवाद की सीमा को छूता हुआ दिखाई पड़ता है। चन्द्रबली पांडे ने सूफियों के अध्यात्म पर विचार करते हुए लिखा है कि सूफियों के सामने सबसे बड़ी अड़चन यही रही है कि उनको अपने अध्यात्म का आरम्भ अल्लाह से करना पड़ता है। यही कारण है कि उसमें अद्वैतवाद का प्रौढ़ प्रतिपादन खुलकर नहीं हो पाता है।[1] जायसी की आध्यात्मिकता भी अन्य सूफियों के अनुरूप ही थी। उसमें एक ओर तो एकेश्वरवाद की झलक दिखाई पड़ती है और दूसरी ओर भारतीय-अद्वैतवाद की। पद्मावत् में 'बरनों आदि एक करतारू' जैसी एकेश्वरवादी पंक्तियाँ मिलती हैं और दूसरी ओर उसमें अद्वैतवादी ढंग की पंक्तियाँ भी निम्नलिखित रूप में पाई जाती हैं—

आपुहि गुरु सो आपुहि चेला।
आपुहि सब औ आप अकेला॥
आपुहिं मीच जीवन पुनि, आपुहिं तन मन सोय।
आपुहि आप करै जो चाहे, कहाँ सो दूसर कोय॥

जायसी के अतिरिक्त कबीर भी सूफियों की कई बातों से प्रभावित थे। जायसी के सदृश उनमे भी कहीं-कहीं एकेश्वरीय अद्वैतवाद की झलक दिखाई पड़ती है। दाम्पत्य-भाव की सुरति और सुरा का प्रभाव भी कबीर के रहस्यवाद मे ढूँढ़ा जा सकता है। उनके रहस्यवाद का

---

१ देखिए 'तसव्वुफ और सूफी मत,' लेखक चन्द्रबली पांडे, पृ० १३५।

विवेचन करते समय इन बातों का निर्देश किया जा चुका है।[1] अतएव हम उन्हें दोहराना नही चाहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के रहस्यवादी जायसी और कबीर एक ओर तो भारतीय रहस्यवाद की विधि धाराओं की बहुत-सी बातो से प्रभावित हैं और दूसरी ओर उन पर सूफी रहस्यवाद की सुरति, सुरा आदि विविध तत्त्वों की छाया दिखाई पड़ती है। कबीर-जायसी आदि हिन्दी-कवियों के रहस्यवाद का अध्ययन उपर्युक्त रहस्य-वादी धाराओं के प्रकाश मे ही करना चाहिए।

कबीर का रहस्यवाद

कबीर का रहस्यवाद

परिचय और प्रकार

आध्यात्मिक अनुभूतियों की रसमयी अभिव्यक्ति का नाम रहस्यवाद है। इस कोटि की अभिव्यक्ति का चरम-सौन्दर्य हमें महात्मा कबीर के काव्य में मिलता है। वे हमारी भाषा के एक महान् रहस्यवादी-कवि हैं। अंडरहिल ने उन्हें 'The most interesting personality of the history of Indian mysticism'. अर्थात् भारतीय रहस्यवाद के इतिहास में बड़ा ही रोचक व्यक्तित्वपूर्ण रहस्यवादी कहा है। वास्तव में बात सत्य है। कबीर में हमें रहस्यवाद के समस्त प्रकार और प्रक्रियाएँ मिलती हैं। उनमें अभिव्यक्ति के इतने स्वरूप मिलते हैं, इतनी प्रणालियाँ पाई जाती हैं कि उनका अध्ययन करना कठिन हो जाता है। फिर वे रहस्यवादी होकर भक्त, सुधारक, योगी आदि न जाने क्या-क्या हैं। इन्हीं सबसे उनका रहस्यवादी व्यक्तित्व अत्यन्त महान्, पूर्ण और रोचक लगता है।

भिन्न-भिन्न विद्वानों ने रहस्यवाद के स्वरूप को अपने-अपने ढंग से समझाने की चेष्टा की है। किन्तु उसका स्वरूप आज भी अस्पष्ट है। इसका प्रमुख कारण यही है कि उसका वर्ण्य-विषय आध्यात्मिक होता है। अध्यात्म सदैव से ही जटिल और अस्पष्ट रहा है। दर्शन का विवेच्य-विषय भी अध्यात्म होता है। इसलिए वह भी अत्यन्त जटिल और दुरूह समझा जाता है। किन्तु दर्शन और रहस्यवाद में अन्तर है। दर्शन की नींव बुद्धि पर खड़ी है। किन्तु रहस्यवाद में बुद्धि के साथ-साथ भाव का मधुर मिश्रण रहता है। भाव का अर्थ प्रेम

भी होता है। कालिदास ने अपने 'कुमार-सम्भव' में इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है। इस प्रकार रहस्यवाद को हम विचार और प्रेम के मिश्रण से बना हुआ मधुर रसायन कह सकते हैं। 'Joyons Mysticism' नामक ग्रन्थ में यह बात दूसरे ढंग से कही गई है—'Love & thought these are the keys of the mystic realm' अर्थात् विचार और प्रेम रहस्यवादी संसार की चाबियाँ हैं। महात्मा कबीर के जीवन का लक्ष्य एक ओर तो अध्यात्म का निरूपण करना था तथा दूसरी ओर राम-रस या प्रेम-रस का पान करना भी था। यह बात उन्होंने अपने पद में इस प्रकार कही है—'अध्यात्म-चिन्तन करते-करते उन्हें राम-रस की प्राप्ति हुई। उस राम-रस का पान करके उनकी आत्मा आनन्द से तृप्त हो उठी। बड़ी भारी विचारात्मक-साधना के बाद सार-रूप में राम-रस का मधुमय-आसव मिला। उस आसव में इतनी दिव्य मधुरिमा है कि कबीर का साधक बार-बार पीकर भी नहीं अघाता है। उसकी खुमारी लगी रहती है।'[1] वह अनिर्वचनीय रस-रूप ब्रह्म की अनुभूति करने लगता है। कबीर का दृढ़ विश्वास था कि सच्ची रसानुभुति गूढ़-आध्यात्मिक-चिन्तन के फलस्वरूप ही होती है।

"आप ही आप विचारिए तब केता होय अनन्द रे।"

विचार-मूलक इस राम-रस की प्राप्ति हो जाने पर संसार के सभी अन्य रस विस्मृत हो जाते हैं—

"राम-रस पाइगा रे ताथे बिसरि गए रस और।"

---

१ "छाकि पर्‌यो आतम मतिवारा।
पीवत राम-रस करत विचारा॥"
"बहुत मोलि मंहगै गुड़ पावा, ले कसाब रस राम चुआवा।
तदन पाटन में कीन्ह पसारा मांगि-मांगि रस पीवे विचारा।
कहै कबीर फाबी पीवत सब राम-रस लगी खुमारी।"

कबीर ग्रन्थावली

इसी राम-रस को पीकर शिव-मनकादिक भी आनन्द निमग्न रहते हैं और कभी नहीं अघाते—

"इहि रसि सिव सनकादि माते पीवत अजहुँ न अघाय ।"

कबीर के रहस्यवाद की महत्ता का रहस्य उनके अध्यात्म-चिन्तन-राम-रस में अन्तर्निहित है। राम-रस को हम अधिक स्पष्ट शब्दों में चिन्तन-जनित अनन्य प्रेममूलक आनन्द कह सकते हैं। महात्मा कबीर के व्यक्तित्व का यह सबसे महान वैशिष्ट्य था कि शुष्क अध्यात्म-चिन्तन को मथ कर वे 'राम-रस' रूपी मधुमय दिव्य नवनीत निकाल लेते थे। उनके व्यक्तित्व के इस वैशिष्ट्य के मूल में उनकी प्रवृत्ति की विचारात्मक भावुकता थी। वे विचारक के साथ-साथ भावुक भी थे। उनकी वाणी के एक-एक शब्द से विचारात्मकता और भावुकता का मधुमय-मिश्रण टपकता है।

अभी हम पीछे संकेत कर चुके हैं कि कबीर में उच्च-कोटि की विचारात्मकता के साथ-साथ सरस-भावुकता की मधुमयी सुसंगति पाई जाती है। यहाँ पर उनकी इन दोनों विशेषताओं पर संक्षेप में विचार कर लेना अनुचित न होगा। कबीर की यह विचारात्मकता दार्शनिकों की विचारात्मकता से भिन्न थी। दार्शनिकों की विचारात्मकता शुष्क, तर्क-मूलक-बुद्धि-प्रधान, एवं गूढ-चिन्तना-जनित होती है। कबीर की विचारात्मकता राम-रस से सराबोर होने के कारण कही भी शुष्क, नीरस और कोरी बुद्धि-प्रधान नही प्रतीत होती। वह तर्कना-प्रधान भी नहीं थी। तर्क-वितर्क करना वे स्थूल बुद्धि का कार्य मानते थे। उन्होने एक स्थल पर लिखा है जो लोग अद्वैत-तत्त्व की द्वैतता तर्क के सहारे सिद्ध करना चाहते हैं, उनकी बुद्धि स्थूल होती है।[1]

कबीर की विचारात्मकता के विकास में उनकी अलौकिक प्रतिभा भी बहुत अधिक सहायक हुई थी। प्रतिभा का कार्य नये-नये विचारों

---

१ कहै कबीर तरक द्वै साधै तितकी मति है मोटा।
कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १२८

और भावों को जन्म देना होता है। वह उच्च-कोटि की काव्य-विधाएँ भी मानी गई है। संस्कृत आचार्यों ने इनको बहुत अधिक महत्त्व दिया है। उनकी विचारात्मकता प्रतिभामूलक होने के कारण ही अनेकानेक मौलिक आध्यात्मिक चित्रों को प्रस्तुत करने में समर्थ हुई है। ये आध्यात्मिक-चित्र उसकी सरस भावुकता से अनुप्राणित होकर और भी अधिक मधुर, सजीव एवं आकर्षक बन गये हैं। सच तो यह है कि भावुकता ने ही उनके आत्म-विचार को सरस-काव्य के रूप में अभिव्यक्त किया है। वे उच्च-कोटि के विचारक एवं आध्यात्म-चिन्तक होने के साथ-साथ परम-भावुक भी थे, यह हम अभी कह चुके हैं। सच्चे भावुक की यही पहिचान होती है कि वह शुष्क को मधुर और निर्जीव को सजीव बना देता है। इस सजीवता, सरसता आदि की प्रतिष्ठा वह कल्पना के द्वारा लाये हुये मधुर-चित्रों, स्वाभाविक साहित्यिकता एवं सात्विक सहानुभूति के सहारे करता है। इसके लिए उसे जड़ में भी मानव-रूप और हृदय का आरोप करना पड़ता है। शुष्क आध्यात्मिक तथ्यों को चित्र-रूप में प्रस्तुत करने के लिए मधुर परिस्थितियों एवं पदार्थमूलक रूपकों तथा ध्वनि-प्रधान अन्योक्तियों की योजना करनी पड़ती है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित अवतरण प्रस्तुत करते हैं। इन अवतरणो में आत्मा परमात्मा के मिलन का आध्यात्मिक-तथ्य वर्णित हैं। इस तथ्य को कवि ने दाम्पत्य-प्रतीक एवं विवाह आदि के रूपकों के सहारे बड़े ही सुन्दर एवं भावपूर्ण ढंग से प्रतिष्ठित किया है।

कबीर आत्म-रूपी दुलहिन को सम्बोधित कर कहते हैं—'हे आत्मा-रूपी दुलहिन तेरे प्रियतम तेरे घर पर आये हैं। अब तू खूब प्रसन्न हो ले। इस पर आत्मा-रूपी साधिका कहती है कि मैं उस परमात्मा-रूपी प्रियतम के लिए अपना शरीर, अपना मन, सब कुछ समर्पित कर दूँगी। क्योंकि प्रियतम-साक्षात्कार का ऐसा अवसर आना फिर कठिन है। बड़ी बात तो यह है कि परमात्मा-रूपी प्रियतम ही मुझ आत्मा-

रूपी साधिका से मिलने के लिए पधारे हैं। मेरा रोम-रोम उनके मिलने के लिए व्याकुल है। मेरे इस आध्यात्मिक-मिलन के साक्षी भूत पंच तत्व होंगे।'[1]

इसी प्रकार एक दूसरे पद में कबीर ने लिखा है "बहुत दिनों के पश्चात् प्रियतम से भेंट हुई है। हमारा परम सौभाग्य है कि घर बैठे ही वे आ गए हैं। उनके शुभागमन से हमारे घर में मंगलाचरण हो रहा है। मै उनके दर्शन जनित आनन्द में विभोर हूँ। उनसे भेंट हो जाने के कारण हमारे शरीर-रूपी-मंदिर में ज्ञान का प्रकाश हो गया है। मैं उनसे मिलकर तद्रूप हो गई हूँ। यह उनकी ही महिमा है कि मुझ तुच्छ को अपनाकर इतना गौरव प्रदान किया है। मैंने कुछ साधना भी नहीं की, किन्तु फिर भी उसने हमें सौभाग्य प्रदान करके कृतार्थ किया है।"[2]

उपर्युक्त ढंग पर आध्यात्मिक-विषय को लेकर काव्यत्व और भावुकता के सहारे अभिव्यक्त की हुई उक्तियाँ ही रहस्यवाद की सच्ची

---

१ दुलहिन गावहु मंगलचार।
हम घर आए हो राजा राम भरतार॥टेक॥
तन रति करि मैं मन रति करिहौं पंचतत बराती॥
राम देव मोरे पाहुंन आए मैं जोवन मदमाती॥ इत्यादि

कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ८७

२ बहुत दिनन थे प्रीतम पाए।
भाग बड़े घर बैठे आए।
मंगलचार माहि मन राखौं राम रसाइन रसना चाखौं।
मन्दिर माँहि भया उजियारा ले सूती अपना पीव पियारा॥
मैं रनि रासी जे निधि पाई हमहि कहा यह तुम्हहिं बड़ाई।
कहै कबीर मैं किछु नहिं कीन्हा सखीसुहाग राम मोहि दीन्हा॥

कबीर ग्रंथावली पृ० ५८७

उक्तियाँ कही जायेंगी। कबीर की रचनाएँ इस प्रकार की मधुर एवं भावपूर्ण आध्यात्मिक अनुभूतियों और चित्रों का वृहत् कोष हैं। इस प्रकार की समस्त उक्तियाँ उनके अनुभूतिमूलक रहस्यवाद के अन्तर्गत आती हैं।

रहस्यवाद का विस्तार बहुत व्यापक है। उसके अन्तर्गत किसी भी प्रकार की साधनामूलक रहस्य-वर्णनाएँ भी आ सकती हैं। यही कारण है कि कुछ रहस्यपूर्ण यौगिक-वर्णनों को भी रहस्यवाद के अन्तर्गत माना जाता है। कबीर सच्चे योगी थे, अतः उनमें यौगिक रहस्यवाद भी पाया जाता है। कभी-कभी रहस्यवाद की सर्जना कोरे पारिभाषिक-शब्दों के सहारे या विविध प्रकार की बुद्धिमूलक चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति-प्रणालियों के सहारे भी हो जाया करती है। कबीर के काव्य में उपर्युक्त प्रकार के रहस्यवाद भी पाए जाते हैं। इस प्रकार स्थूल-रूप से उनमें हमें रहस्यवाद की तीन स्पष्ट धाराएँ मिलती हैं—

१—अनुभूतिमूलक रहस्यवाद
२—साधनात्मक या यौगिक रहस्यवाद
३—अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद।

कबीर का अनुभूतिमूलक रहस्यवाद

रहस्यवाद में अनुभूति का महत्त्व—पहले हम अनुभूतिमूलक रहस्यवाद पर विचार करेंगे। जिस प्रकार बुद्धिमूलक-तर्क दर्शन की आधारभूमि है, उसी प्रकार हृदयमूलक अनुभूति इस कोटि के रहस्यवाद की पृष्ठभूमि है। जब भारतीय-दार्शनिकों ने अध्यात्म-चिन्तन में तर्क की समर्थता समझ ली तो फिर उन्हें "नैषा मतिः तर्केण आपनीया" "तर्काप्रतिष्ठानात्" जैसी उक्तियाँ लिखनी पड़ीं। फलस्वरूप दर्शन के क्षेत्र में अनुभव की मान्यता प्रतिष्ठित हो चली। केवल भारतीय-दार्शनिकों ने ही अनुभव की महत्ता नहीं स्वीकार की वरन् पाश्चात्य

दार्शनिकों में भी इसकी प्रतिष्ठा हुई। जे० एस० मेकेंजी साहब ने 'आउटलाइन्स आफ मेटाफिजिक्स' में अध्यात्म विद्या के लक्षण में अनुभव शब्द का प्रयोग किया है। उनके मतानुसार "अध्यात्म विद्या उस विद्या को कहते हैं जिसमें अनुभव का सार रूप से विचार होता है।" राधाकृष्णन् की अध्यात्म-सम्बन्धी परिभाषा भी ऐसी ही है। उन्होंने लिखा है "अध्यात्म विद्या उस विद्या को कहते हैं जिसमें मुख्यतः अनुभूतिगत तत्व का विचार किया जाय।" रहस्यवाद में अनुभव की मान्यता दर्शन से भी अधिक है। किन्तु दोनों में अन्तर है। अध्यात्म में अनुभूतिगत तत्व का विचार होता है जबकि रहस्यवाद में तत्व की अनुभूतिमूलक अभिव्यक्ति होती है। अनुभूति का सम्बन्ध प्रधानतः हृदय से होता है। रहस्यवाद में रहस्यमय की हृदयमूलक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की जाती है। इस अभिव्यक्ति में हृदय की भाव-प्रवणता, सुकोमलता और सरसता भरी रहती है। यही कि राण है क अनुभूतिमूलक-रहस्यवाद अत्यधिक भाव-प्रवण, सरस और सुकोमल होता है। हम पहले बता चुके हैं कि कबीर में विचारात्मकता और भावुकता दोनों का सुन्दर समन्वय पाया जाता है। इसीलिए उनमें अध्यात्म-चिन्तन के साथ-साथ सरस रहस्यानुभूति भी पाई जाती थी।

आस्तिकता—सच्चे रहस्यवादी साधक की सबसे प्रधान विशेषता उसकी आस्तिकता है। उसमें अपने आराध्य के अस्तित्व के प्रति दृढ़ निष्ठा होनी चाहिए। नास्तिक कभी रहस्यवादी हो ही नहीं सकता। सम्भवतः इसीलिए पाश्चात्य विद्वान् रूडोल्फ ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ Mysticism in East and West में आस्तिकता को रहस्यवाद की आधारभूमि कहा है। जहाँ तक कबीर की आस्तिकता का सम्बन्ध है उसके विषय में दो मत नहीं हो सकते। वे कट्टर आस्तिक थे। एक स्थान पर उन्होंने स्पष्ट कहा है कि "मेरे साथी दो ही व्यक्ति हैं— एक वैष्णव और दूसरे राम। इनमें से वैष्णव राम की विभूति प्रदान

करता है और राम मुक्ति का दाता है।"[1]

जिज्ञासा—वे मुक्ति देने वाले अपने आराध्य राम से मिलने के हेतु पागल थे। उनके सम्बन्ध में सब कुछ जानने के लिए उनकी आत्मा विकल रहती थी। उनके दर्शनों के लिए वे लालायित रहते थे। जिज्ञासा की औत्सुक्यपूर्ण व्यंजना करते हुए उन्होंने लिखा है—"मैं न जाने तुम्हें कब देखूंगी। मैं तुम्हारे दर्शनो के लिए रात-दिन तड़पती हूं। मेरे नेत्र तो केवल तुमको ही चाहते हैं। ये तुम्हारे प्रेम में इतना अधिक अनुरक्त हैं कि कभी खिन्न नही होते। हे राम ! तुम यह भली प्रकार समझ लो कि विरहाग्नि मेरे इस तन को और अधिक जला रही है। हे स्वामी ! हमारी विनती सुनकर अनसुनी न करिए। तुम धैर्यवान हो किन्तु मैं अधीर हूँ। मेरी स्थिति ऐसी है जैसी कि कच्चे बर्तन मे जल की होती है। बहुत समय से बिछुड़े हुए होने के कारण हमारे मन में धैर्य नही रहा है। अब आप कृपा कर अपने इस उपासक को सशरीर दर्शन दीजिए।"[2]

---

१ मेरे संगी दुई जना एक वैष्णव ए रामक।
एक दाता है मुकति का एक सुमिरावै राम॥
कबीर ग्रंथावली पृ० ४९

२ हौं बलियां कब देखोंगी तोहि।
अहनिस आतुर दरसन कारिन, ऐसी व्यापै मेहि॥
नैन हमारे तुम्हकूं चाहैं, रतीं न मानैं हारि।
विरह अगिन तन अधिक जरावै, ऐसा लेहु विचारि।
सुनहुं हमारी दादि गुसाईं, अब जिन करहु अधीर।
तुम्ह धीरज मैं आतुर स्वामी, काचैं भांडैं नीर।
बहुत दिनन के बिछुरे माधे, माधौ मन नहीं बांधे धीर।
देह छतां तुम्ह मिलहु कृपा करि, आरतिबंत कबीर॥
कबीर ग्रंथावली पृ० १९१

रहस्यवादी साधक का पात्रत्व—रहस्यवाद भी एक प्रकार की आध्यात्मिक साधना है। हमारे यहाँ आध्यात्मिक साधक के पात्रत्व पर विशेष विचार किया गया है। कठोपनिषद् में इस सम्बन्ध में कहा गया है कि 'जो पाप कर्म से निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हुई हैं और जिसका चित्त असमाहित या अशांत है, वह उस परमात्मा को आत्मज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता है[1]

कठोपनिषद् की यह उक्ति रहस्यवादी साधक पर भी पूर्ण रूप से लागू होती है। वास्तव में रहस्यवाद की साधना तब तक सफल नहीं होती जब तक साधक पाप-कर्मों से निवृत्त नहीं होता, उसका मन अशांत रहता है तथा उसकी इन्द्रियाँ उसके अधीन नहीं होतीं। महात्मा कबीर सच्चे अध्यात्म साधक थे। वे पाप कर्मों से निवृत्त हो चुके थे। उनकी इन्द्रियाँ उनकी अधीन थीं। वे वास्तव में जीवन मुक्त की दशा को प्राप्त हो चुके थे। एक स्थान पर उन्होंने इस ओर संकेत करते हुए लिखा है कि जीवन्मुक्त साधक अहंकार से हीन होकर अविगत परमात्मा में लीन रहता है। उसकी समस्त तृष्णाएँ, कल्पनाएँ, और आशाएँ शान्त हो जाती हैं और वह भगवान राम के आनन्द में निमग्न रहता है।'[2]

उपास्य स्वरूप—अब थोड़ा-सा रहस्यवादी के उपास्य स्वरूप पर विचार कर लिया जाय। रहस्यवादी का उपास्य भक्त के उपास्य से भिन्न होता है। भक्त का उपास्य सगुण और साकार होता है। उसकी प्रतिष्ठा लोक के बीच रहती है। तुलसी ने उसका संकेत करते हुए

---

१ नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो ना समाहितः।
नाशांत मानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात॥ कठोपनिषद् १।२।२३

२ मैं मंता अविगति रता अकलप आसा जीति।
राम अमलि माता रहे जीवन मुकुति अतीत॥
कबीर ग्रंथावली पृ० १७

लिखा है 'कि अन्तर्यामी से ठोस जगत में विचरण करने वाला परमात्मा कही अधिक महान् होता है। जब प्रह्लाद पर आपत्ति पड़ी थी उस समय भी भगवान खम्भे से ही आविर्भूत हुए थे, हृदय से नही।'[1]

इससे स्पष्ट है कि भक्त का उपास्य-स्वरूप ठीक वही होता है जो समाज में मान्य होता है। समाज के उपास्य से भक्त का उपास्य भिन्न नही होता। किन्तु रहस्यवादी का प्रियतम सगुण और निर्गुण दोनों ही होता है। निर्गुण तो इस अर्थ में कि लोक में वह उस रूप में प्रतिष्ठित नही होता, जिस रूप मे रहस्यवादी उसे मानता है। तथा सगुण इस अर्थ में कि वह रहस्यवादी के हृदय में मूर्त्तिमन्त रहता है। रहस्यवादी उपास्य के स्वरूप की विशेषताओ पर अन्डरहिल ने एक वाक्य से ही बहुत अच्छा प्रकाश डाल दिया है—"The absolute of the mystics is lovablo attainable alive and personal"

अर्थात् रहस्यवादियों का निर्गुण उपास्य प्रेम करने योग्य, प्राप्त करने योग्य, सजीव और वैयक्तिक होता है। इस परिभाषा मे रहस्य-वाद उपास्य की निम्नलिखित विशेषताएँ निर्दिष्ट हैं—

१ वह निर्गुण होते हुए भी।
२ प्रेम करने योग्य।
३ प्राप्त करने योग्य।
४ सजीव एवं।
५ वैयक्तिक होता है।

रहस्यवादी कबीर के उपास्य में यह सभी विशेषताऐं पाई जाती हैं। इनके अतिरिक्त उनकी अपनी एक अलग विशेषता है। कबीर

---

१ अंतर्जामिहु तें बड़ बाहिर जामी।
राम जो नाम लिए ते॥
पैंज पड़े प्रल्हादहु के।
प्रगटे प्रभु पाहन ते न हिये ते॥

आचार्य शुक्ल के 'तुलसीदास' से उद्धृत

भारतीय मर्यादावादी भक्त संत थे। उनकी भक्ति-भावना का प्रभाव उनके रहस्यवादी ब्रह्म पर भी पड़ा है। यही कारण है कि वह सूफी रहस्यवादियों के उपास्य की भांति प्रियतम न होकर पति है। अतः वह अधिक मर्यादामय और पूज्य बन गया है। कबीर वेदान्ती दार्शनिक भी थे, इसीलिए उन्होंने ब्रह्म का निरूपण निर्गुण, निराकार, निरंजन तथा तत्त्व रूप में किया है। किन्तु ये वर्णन कोरे दार्शनिकों के वर्णनों की भांति शुष्क नीरस नहीं हैं। उसके रहस्यवादी ने इनमें प्राण प्रतिष्ठा कर दी है। यही कारण है कि उन्होंने जहां अपने उपास्य को 'पुहुप बास से पातरा, ऐसा तत्व अनूप' कहा है, वहीं उसे कबीर का स्वामी 'गरीब निवाज' "हरि मेरा पीउ मैं हरि की बहुरियों" और "हम घर आए हो राजा राम भरतार", "सखी सुहाग राम मोहि दीन्हा" आदि लिखकर पूर्ण सजीव, वैयक्तिक प्राप्त करने योग्य, पूजा करने योग्य आदि भी ध्वनित कर दिया है। रहस्यवादी कबीर की यह अपनी विशेषता थी। उनके रहस्यवादी उपास्य स्वरूप पर कहीं-कहीं योग का प्रभाव भी पड़ गया है जिसके फलस्वरूप उन्होंने अपने प्रियतम को "सुनि मंडलवासी" पुरुष भी कहा है। किन्तु उनके रहस्यवाद में इस प्रकार की उक्तियां बहुत नहीं हैं।

प्रेम और सौन्दर्य—पहले हमने रहस्यवादी उपास्य के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि उसे प्रेम करने योग्य होना चाहिए। मनुष्य का स्वभाव है कि वह प्रेम उसी से करता है, या तो जिसके रूप को देखकर वह मुग्ध होता है या जिससे उसका कुछ स्वार्थ सिद्ध होता है। रहस्यवादी सच्चा संत और साधक होता है। वह लोक के स्वार्थादि तुच्छ बन्धनों से ऊपर उठकर अपनी मधुमयी साधना में ही लीन रहता है। वह सौन्दर्य-प्रिय भी होता है। उसका भावप्रवण और कोमल हृदय अपने प्रियतम के सौन्दर्य पर रीझकर उसके अनन्य प्रेम में डूब जाता है। इस प्रकार सौन्दर्य और प्रेम दोनों की ही रहस्यवाद में बड़ी प्रतिष्ठा है।

कुछ सूफियो ने तो इन तत्वो को ही ईश्वर का रूप कल्पित कर लिया है। इब्नेसिना सौन्दर्यवादी थे। वे अपने उपास्य को सौन्दर्य-रूप मानते थे। मसूर हल्लाज सौन्दर्य के उपासक होते हुए भी प्रधानतः प्रेमवादी थे। ये अपने प्रियतम को प्रेम रूप मानते थे। महात्मा कबीर यद्यपि सूफियो से प्रभावित हुऐ थे, किन्तु वे मूलतः भारतीय भक्त थे। यही कारण है कि उनमे सौन्दर्यवाद और प्रेमवाद का वह मधुरतम रूप नही मिलता जिससे हिन्दी के सूफी कवि जायसी का काव्य रसमय है। प्रेम मादक वर्णन तो कबीर मे मिल भी जाते हैं, किंतु सौन्दर्य-वर्णन मे तो उन्होने पूरी कृपणता दिखाई है। उनके समस्त काव्य मे शायद ही कही प्रियतम के सौन्दर्य का कोई हृदयाकर्षक एवं रमणीय चित्र चित्रित किया गया हो। उन्होने अपने प्रियतम के रूप की कल्पना साक्षात प्रेम रूप मे की है। साहित्य मे प्रेम का रंग लाल माना जाता है। 'कबीर सर्वत्र अपने प्रियतम की लालिमा ही देखते हैं। वे उसमे इतने तन्मय हो जाते हैं कि स्वय भी लाल हो जाते हैं। ऐसा है उनके प्रियतम की लालिमा का अद्भुत प्रभाव।[1]

कुछ स्थलो पर तो उन्होने प्रियतम के रूप की कल्पना ज्योति के रूप मे भी की है। ऐसे वर्णनो पर सम्भवतः यौगिक ज्योतिवाद का प्रभाव पडा है।

एक स्थल पर उन्होने इस तेज के सम्बन्ध मे कहा है—'उस परमात्मा का तेज ऐसा प्रचण्ड प्रतीत होता है कि मानो सूर्यो की राशि उदित हो रही हो। इस रहस्य को वही साधक जानता है, जिसने अपने प्रियतम के लिए कठोर साधना की है।[2]

---

१ लाली मेरे लाल की जित देखो तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥ कबीर वचनावली पृ० ६

२ कबीर तेज अनन्त का मानो ऊगी सूरज सेणि। कबीर ग्रथावली
पति संग जागी सुन्दरी कौतिक दीठा तेणि॥ पृ० १२

महात्मा कबीर सौन्दर्य की अपेक्षा प्रेम के अधिक उपासक थे। उनका प्रेमभाव सूफियो और भक्तो, दोनों के प्रेम तत्वों का मधुमय मिश्रित रसायन है। उन्होने उसे 'राम रसायन' की संज्ञा दी है। इस प्रेम-रस किंवा राम-रसायन का पान करके प्रेमी की तृप्ति नही होती।[1]

कबीर का यह रसायन संसार के अन्य सभी रसायनो से अधिक श्रेयस्कर है। यदि इसका तिल भर भी साधक को मिल जाय, तो वह कंचन रूप हो सकता है।[2]

यह रसायन वही त्यागी एवं तपस्वी पी सकता है जो अपना सिर सौंपने को प्रस्तुत हो।[3] बिना सिर को सौंपे उसका पान करना सम्भव नही है।[4]

इस राम रसायन को पीकर साधक मदमस्त हो जाता है। फिर उसे अपनी सुधि भी नही रहती। एक बार उसका पान कर लेने के पश्चात् उस राम-रस की खुमारी कभी नही उतरती।[5]

---

१ राम रसायन प्रेम रस पीवत नहीं अघाय। कबीर ग्रंथावली पृ० १६

२ सभी रसायण मैं पिया हरि सा और न कोई।
तिल एक घट में सचरे तो सब तन कंचन होई॥
कबीर ग्रंथावली पृ० १७

३ राम रसायन प्रेम रस पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुर्लभ है मांगे सीस कलाल॥
कबीर ग्रंथावली पृ० १६

४ कबीर भाटी कलाल की बहुतक बैठे आय।
सिर सौंपे सोई पिये नहीं तो पिया नहीं जाय॥
कबीर ग्रथावली पृ० १६

५ हरि रस पीया जाणिए कबहु न जाय खुमार।
मैं मंता घूमत रहै नाही तन की सार॥ कबीर ग्रंथावली पृ० १६

इस राम-रस का विचारपूर्वक पान करके साधक अनन्त तृप्ति का अनुभव करने लगता है।[1]

घोर साधना के बल पर राम-रस को प्राप्त करके साधक संसार के अन्य सभी रसो को भूल जाता है।[2]

जैसा कि ऊपर सकेत कर चुके हैं कबीर की प्रेम साधना सूफियो से ही नही भक्तों से भी प्रभावित थी। इसीलिए मदमस्त बनाने वाले "राम रसायन" के मधुर वर्णनो के साथ वे 'प्रेम भगति हिंडोलना' की भी चर्चा करते हैं। यह 'प्रेम भगति हिंडोलना' सब सन्तों का विश्राम-स्थल है।[3]

गुरु का कार्य—ऊपर जिस "राम रसायन" और प्रेम-भक्ति की चर्चा हमने की है, उसकी प्राप्ति कबीर को अपने गुरु से हुई थी क्योंकि कबीर ने स्वयं कहा है कि गुरु ने हमे प्रेम का अंक पढ़ा दिया है।[4]

यह प्रेम केवल आसक्ति रूप ही न था। वह ज्ञान की ज्योति से ज्योतिर्मय भी था। इसीलिए कबीर ने उसकी उपमा दीपक से दी है। जैसा कि कबीर ने कहा है कि मैं लोक-वेद के पीछे घूमता फिरता था, संयोगवश मार्ग मे मुझे सद्गुरु के दर्शन हो गए। उसने मुझे ज्ञान रूपी दीपक दे दिया उसके प्रकाश मे मैं अपना मार्ग देख सका।[5]

---

१ छाकि परयो आतम मतिवारा।
पीवत राम रस करत विचारा॥ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १०६

२ बहुत मौलि मंहगे गुड़ पावा ले कसाव रस राम चुवावा॥
राम रस पाइया तातै बिसरि गए रस और॥ कबीर ग्रथावली

३ हिंडोला तह झूलै आतम राम। कबीर ग्रन्थावली
प्रेम भगति हिंडोलना झूलै सब संतनि विश्राम॥ पृ० ६४

४ गुरु ने प्रेम का अङ्क पढ़ाय दिया रे। कबीर साखी सग्रह से

५ पीछे लागा जाय था लोक वेद के हाथ।
आगे थे सद्गुरु मिला दीपक दीया हाथ॥ कबीर ग्रंथावली पृ० २

इस प्रेम-दीपक के लिए कबीर गुरु के आजन्म ऋणी रहे थे। इसका प्रतिदान संसार में उन्हें दिखाई ही नहीं पड़ा, जिसको देकर वे अपने गुरु को संतुष्ट कर सकते[1]। वे अपने अस्थि-पंजर शरीर को भी गुरु को अर्पित करने के लिए प्रस्तुत रहते थे।[2]

गुरु ही साधक को इस शरीर के परिष्करण की ओर उन्मुख करता है। इस बात की कबीर के नाम से प्रचलित इस पद में बड़ी ही सुन्दर अभिव्यक्ति पाई जाती है। यह पद रूपात्मक प्रतीक शैली का बड़ा सुन्दर उदाहरण है। इसमें कबीर ने धोबी के प्रतीक से भाव की अभिव्यक्ति की है। चुनरी शरीर का प्रतीक मानी जा सकती है, रंगरेज को हम ब्रह्म का प्रतीक कह सकते हैं।[3]

गुरु प्रदत्त प्रेम-तत्त्व ज्यों-ज्यों विकसित होता जाता है त्यों-त्यों रहस्यवादी कवि रहस्यानुभूति के मार्ग में अग्रसर होता जाता है। अन्त में एक वह अवस्था आती है जब साधक अपने साध्य से अथवा प्रियतम से मिलकर एक हो जाते हैं। इसी बात को रहस्यवाद का सूक्ष्म शास्त्रीय अध्ययन करने वाली पाश्चात्य महिला एविलिन अंडरहिल ने दूसरे ढंग से लिखा है। वे लिखती हैं कि 'मानव-आत्मा में एक प्रकार का ऐसा प्रसुप्त स्फुलिंग होता है, जिसको पुनर्जीवित

---

१ राम नाम के पटन तरे देवे को कछु नाहिं।
क्या ले गुरु संतोषिए हौंस रही मन माहिं॥

कबीर ग्रंथावली

२ बलिहारी गुरु आपणें द्यौं हांडी को वार।
जिनि मानस ते देवता करत न लागी वार॥

कबीर ग्रंथावली पृ० १

३ नैहर में दाग लगाई आई चुनरी।
रंगरेजवा के मरम न जानै नहिं मिलै धोबिया कवन करै उजरी॥

इत्यादि कबीर ग्रन्थावली

करके रहस्यवादी साधक ब्रह्मानुभूति कर सकता है ।[1] एक दूसरे स्थल पर उन्होंने उपर्युक्त बात दूसरे ढंग से रक्खी है। उन्होंने लिखा है कि 'रहस्य-वादी का कार्य प्रसुप्त आत्म-ज्योति को प्रज्वलित करना है' ।[2] इस आत्म-ज्योति को प्रज्वलित करने वाला सबसे प्रधान तत्व प्रेम ही है । गुरु यही तत्व शिष्य को देता है । शिष्य इसको प्रदीप्त करता रहता है । इसकी प्रदीप्ति-साधना सरल नहीं होती। इसमें एक जन्म की साधना से ही काम नही चलता । इसके लिए जन्म-जन्मान्तर की साधना अपेक्षित होती है । इसीलिए तो रहस्यवादियो को जन्मान्तरवाद मानना पड़ा है । अंडरहिल ने यह बात स्वीकार करते हुए लिखा है कि रहस्यवादी का मार्ग लम्बा और कटकाकीर्ण होता है, अतः यात्रा जन्म-जन्मान्तर में पूर्ण होती है ।[3]

कबीर भी इसे मानते थे । उन्होने एक स्थल पर स्पष्ट लिखा है 'उस अलेख के दर्शन प्राप्त करने के लिए केवल इस जन्म के ही कर्म पर्याप्त नही होते । उसके लिए कुछ पूर्व जन्म के कर्मों की तथा कुछ ईश्वरेच्छा की अपेक्षा भी होती है ।[4]

---

1 There is a spark in man's soul which is real & by its cultivation we may know reality'.

Mysticism: E Underhill.

2 The spark of soul sleeps in the normal self. The business of the mystics is to wake it up.

Mysticism: E Underhill.

3 The mystic way is long & thorny. The journey has to be made birth after birth.

Mysticism: Underhill-

4. कुछ करनी कुछ करम गति कुछ पूरवला के खेल ।
देखो भाव कबीर का दोसत किया अलेख ॥ कबीर ग्रन्थावली

इस साधना की प्रक्रिया मुख्यतः अंतर्मुखी होती है। टालर नामक पाश्चात्य रहस्यवादी ने अन्तर्मुखी साधना की प्रक्रिया इस प्रकार बतलाई है कि जब साधक विविध साधनाओं के फलस्वरूप बाह्य पुरुष का आन्तरिक पुरुष से तादात्म्य स्थापित कर लेता है तभी ईश्वरत्व की शुद्ध आत्मा में अवतारणा होती है। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा का ऐक्य स्थापित हो जाता है।[1]

अन्तर्मुखी प्रक्रिया—इस अन्तर्मुखी साधना का उल्लेख कठोपनिषद् में बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। वह इस प्रकार है—स्वयं परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी करके हिंसित कर दिया है। इसी से जीव-बाह्य विषयों को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। जिसने अमरत्व की इच्छा करते हुए अपनी इन्द्रियों को रोक लिया है, ऐसा कोई वीर-पुरुष ही प्रत्यगात्मा को देख पाता है।'[2]

कबीर की साधना पूर्ण अन्तर्मुखी थी। उनकी "उलटी चाल" और "शब्द सुरति योग" अन्तर्मुखी साधना से ही सम्बन्धित है। उनका दृढ़ विश्वास था कि सहज-समाधि की अवस्था वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने पर ही प्राप्त होती है। यह वृत्तियाँ जब तक बहिर्मुखी

---

१ When through all manner of exercises the outer man has been converted to the inward man then God head nackedly descend in the depths of the pure soul so that the spirit becomes one with him.'

Quoted from Mysticism in Maharastra Preface

२ पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वंभू,
तस्मात् पराङन पश्यतिनान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष,
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्। कठोपनिषद् १।४।१

रहती है तब तक शरीर कोटि-कोटि उपाधियों से ग्रस्त रहता है।[1]

जीवन मुक्ति की अवस्था भी मन को अन्तर्मुख करने से ही प्राप्त होती है।[2]

कबीर ऐसे ही साधक को सच्चा-साधक मानते थे उसी को वे अपना गुरु बना सकते थे।[3]

महात्मा कबीर का शब्द सुरति-योग बहुत प्रसिद्ध है। इसे हम प्राचीन लय-योग का रूपान्तर कह सकते हैं। इसका सम्बन्ध शब्दवाद से है। उस सिद्धान्त का संकेत उपनिषदों में बार-बार किया गया है। आगे चलकर भर्तृहरि ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ वाक्यपदीय में इसकी पूर्ण प्रतिष्ठा की। उपनिषदों का प्रणववाद प्रसिद्ध शब्दवाद का रूपान्तर है। प्रणववादी साधक की साधना का संकेत करते हुए श्रुति में लिखता है कि 'आत्मा बाण और ब्रह्म लक्ष्य है, जिस प्रकार एक कुशल वेधक के द्वारा छोड़ा हुआ बाण सीधा निशाने को वेधकर उसमें समा जाता है, उसी प्रकार आत्मा को भी सीधे ब्रह्म में जाकर लीन हो जाना चाहिए।'[4] शब्द-सुरति-योग की साधना भी ठीक इसी प्रकार की है। सुरति-रूपी आत्मा का शब्द-रूपी ब्रह्म में लय करना ही शब्द-सुरति योग है। "जो ब्रह्माण्डे सो पिण्डेजान" के सिद्धान्त के अनुयायी इस शब्द-सुरति की साधना अपने पिण्ड में ही करते हैं। उस स्थिति में वे बहिर्मुखी जीव का अन्तर्वासी शुद्ध-बुद्ध मुक्त नित्य स्वरूपी प्रत्यगात्मा से तादात्म्य

---

१ तन माँहि होती कोटि उपाधि।
उलटि भई सुख सहज समाधि ॥ कबीर ग्रन्थावली

२ अब मन उलटि संनातन हुआ तब जान्या जीवत मूवा। क० ग्रं०

३ उलटी चाल मिले पर ब्रह्म सो सद्गुरु हमारा। कबीर ग्रंथावली

४ प्रणवो धनुः शरोहि आत्मा ब्रह्म तल्लक्ष्य मुच्यते।
अप्रमतेन वेधव्यं शरवतन्मयो भवेत् ॥ मुण्डकोपनिषद् २।४

स्थापित करते हैं। इसके लिए वे वहिर्गामी-जीव को अन्तर्मुखी करते हैं। जीव को अन्तर्मुखी करने के लिए वे कभी तो हठयोग की साधना करते हैं, कभी मन-साधना अपनाते हैं और कभी भावना का आश्रय ग्रहण करते हैं। जब मन-साधना एवं शुद्ध-भावना से प्रेरित होकर वहिर्मुखी-जीव अपने प्रियतम-रूपी प्रत्यगात्मा से एकाकारिता प्राप्त करना चाहता है, तभी भावात्मक-रहस्यवाद की अन्तर्मुखी-प्रक्रिया सम्पन्न होती है। महात्मा कबीर की अन्तर्मुखी-प्रक्रिया अधिकतर हठयोगमूलक ही है। उसका वर्णन साधनात्मक-रहस्यवाद के अविधान से किया जायेगा। भावना प्रेरित प्रक्रिया के दर्शन उनमें केवल दो-चार स्थलों पर ही होते हैं। इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप उन्हें उस ब्रह्मरन्ध्र-रूपी महल के दर्शन होते हैं जिसे मुनिजन भी नहीं देख पाते हैं।[1]

वहिर्मुखी प्रक्रिया—रहस्यवाद की इस अन्तर्मुखी-प्रक्रिया के विरुद्ध उसकी एक वहिर्मुखी-प्रक्रिया भी होती है। इन दोनों प्रक्रियाओं को स्पष्ट करते हुए अंडरहिल ने लिखा है कि 'सच्चे रहस्यवादी का आध्यात्मिक-विकास दो विरोधी धाराओं में उन्मुख होता है। एक से तो वह सारे संसार में एकात्मता का अनुभव करता है और दूसरे से वह रहस्यमय-सत्य की अनुभूति करता है।[2] कबीर के रहस्यवाद की अन्तर्मुखी-प्रक्रिया की थोड़ी-सी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। साधनात्मक रहस्यवाद पर विचार करते समय इस पर थोड़ा विस्तार से विचार

---

१ मुनिजन महल न पावई तहां किया विश्राम। कबीर ग्रंथावली

२ The full spritual consciousness of the pure mystics is developed not in one, but in two apparently opposite directions. On one hand he sees the sacramental unity with the whole world. Secondly he develops the power of appreliending truth.

Mysticism—E. hunderill

करेंगे। अब हम उनके रहस्यवाद की बाह्यात्मक प्रक्रिया पर थोड़ा-सा प्रकाश डाल देना चाहते हैं।

बहिर्मुखी प्रक्रिया के दो पक्ष—सारी सृष्टि से एकात्मता का अनुभव करना भारतीय-धर्म और दर्शन की प्रधान विशेषता रही है। वेद की "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" "रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव" आदि उक्तियाँ इसी एकात्मता की ओर संकेत कर रही हैं। भगवान ने गीता में इस एकात्मता को ज्ञान की पराकाष्ठा का सात्विक ज्ञान कहा है—कहा है कि जो समस्त प्राणियों में एक अव्यय-भाव का अनुभव करता है तथा समस्त विभक्त पदार्थों मे एक अविभक्त अद्वैत तत्त्व के दर्शन करता है वही सच्चा ज्ञानी है और उसका ज्ञान ही सात्विक ज्ञान होता है।[1]

महात्मा कबीर भारतीय संत थे। उनकी आत्मा इस सात्विक-ज्ञान से, भरपूर थी। उनका यह सात्विक ज्ञान दो धाराओं में विकसित हुआ है—अद्वैतवाद के रूप में और साम्यवाद के रूप में।

अद्वैतवाद की स्थापना—अद्वैतवाद भारतीय वेदान्त-दर्शन का सबसे मान्य सिद्धान्त है। इसके अनुसार ब्रह्म ही एक-मात्र सत्ता है। सब-कुछ ब्रह्म ही है। जीव और ब्रह्म में कोई तात्विक भेद नहीं। जो भेद हमें दिखाई पड़ता है, वह माया मूलक है। माया अनिर्वचनीय है। माया का जब ज्ञान से निराकरण हो जाता है, तभी जीव ब्रह्म-रूप हो जाता है। अद्वैतवादी-जगत् को मिथ्या मानते हैं। उनके अनुसार जगत् माया विनिर्मित होते हुए भी ब्रह्म में प्रतिष्ठित है। संक्षेप में यही-अद्वैतवाद का सिद्धान्त है। रहस्यवाद की बहिर्मुखी-प्रक्रिया भी साधक को अद्वैतता का अनुभव कराती है। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि दार्शनिक अद्वैतवाद कोरा सिद्धान्त-कथन-मात्र होता है-।

---

१ सर्वभूतेषु येनेकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं बिद्धि सात्विकम्॥ गीता १८।२०

किन्तु रहस्यवाद में साधक अद्वैतता और एकात्मता का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। इस प्रकार दर्शन का सिद्धान्त रहस्यवादी के जीवन का एक अंग बन जाता है। महात्मा कबीर ने रहस्यानुभूति की इस बहिर्प्रक्रिया की अभिव्यक्ति स्थूल-रूप से तीन प्रकार से की है—

१—सर्वत्र प्रियतम के दर्शन करने से।

२—रूपकों और दृष्टान्तों के माध्यम से।

३—सिद्धान्त-कथन के ढग पर।

प्रथम प्रकार की अभिव्यक्ति के उदाहरण रूप मे हम उनकी वह प्रसिद्ध साखी दे सकते है, जिसमे कि वे अपने प्रियतम की लाली को सर्वत्र देखते हैं और उसके दर्शन करते-करते स्वय भी उसी रग मे रग कर लाल हो जाते हैं।[1]

दूसरे तरह की अभिव्यक्ति का यह उदाहरण बहुत प्रसिद्ध है, जिसमे कि उन्होने एक घड़े का रूपक लेकर कहा हैं कि ससार में जीव की स्थिति ठीक इस तरह है जिस तरह कि जल मे रखे हुए कुम्भ के बाहर और भीतर दोनो ही ओर जल होता है। कुम्भ के फूट जाने के पश्चात् जल, जल मे समा जाता है। इसी तरह आत्मा भी इस शरीर-रूपी घट के फूटने पर ब्रह्म मे मिल जाती है।[2]

तीसरे तरह के उदाहरण मे हम उनकी उस प्रसिद्ध उक्ति को ले सकते हैं जिसमे उन्होने बताया है कि ईश्वर ससार के हर-एक स्थान मे है और ईश्वर मे ही यह सारा संसार है। वह ईश्वर सारे जीवों

---

१ लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल।

कबीर वचनावली पृ० ६

२ जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तत कथ्यौ गियानी॥

कबीर ग्रथावली, पृष्ठ १०३

के शरीरों में व्याप्त है।[1] इस कथन को हम "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" का रूपान्तर मानते हैं।

साम्यवाद की प्रतिष्ठा—महात्मा कबीर ने आदर्श-साम्यवाद की स्थापना की थी। उनका विश्वास था कि मानव-मात्र समान होते हैं। क्योंकि सबका निर्माण एक ही विन्दु मल-मूत्रादि से होता है। सबके शरीर में मांस, चमड़ी आदि समान रूप से पाई जाती है। सबमें प्राण-प्रतिष्ठा करने वाली ज्योति भी एक ही है। उनका साम्यवाद इस सीमा तक पहुँच चुका था कि वे स्त्री-पुरुष के, नाम-रूप के सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण आदि के तात्विक भेद भी स्वीकार नहीं करते थे।

एक स्थल पर उन्होंने इस ओर संकेत करते हुए कहा है कि इस संसार में सब-कुछ रहस्यपूर्ण है। वेद कतेब का क्या रहस्य है? किसे दीन कहते हैं, किसे दुनिया कहते हैं? कौन स्त्री है और कौन पुरुष है? यह सब रहस्यमय है।[2]

एक दूसरे स्थान पर उन्होंने यही बात दूसरे प्रकार से कही है कि सभी प्राणियों में एक ही विन्दु विद्यमान है, एक ही मल-मूत्र है, एक ही चर्म और गुदा है। एक ही ज्योति से यह सब उत्पन्न हुए हैं। यहां कौन ब्राह्मण है और कौन शूद्र। समस्त प्राणी सहज-भाव से समान रूप से एक ही मिट्टी से निर्मित शरीर को धारण करते हैं। सबमें समान रूप से ही नाद अर्थात् ब्रह्म-तत्त्व और विन्दु जीव-तत्त्व विद्यमान रहते हैं। शरीर के नष्ट हो जाने पर केवल अनिर्वचनीय

---

१ लोका जानि न भूलो भाई।
खालिक खलक-खलक में खालिक सब घट रह्यौं समाई॥
कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०४

ऐसा भेद विगूचन भारी।
वेद कतेब दीन अरु दुनियां, कौन पुरुष कौन नारी॥
कबीर ग्रन्थावली पृ० १०६

आत्म-तत्व ही शेष रह जाता है। उसको किसी नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता, यह सब भ्रम-कारक प्रतीत होता है। त्रिवेदवाद व्यर्थ है क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु और महेश क्रमशः सत रज तम गुणों से उत्पन्न हुए हैं। अतः एक निर्गुण राम की ही उपासना करनी चाहिए।[1]

इस प्रकार महात्मा कबीर ने बड़े सशक्त तर्कों के आधार पर व्यावहारिक साम्यवाद की प्रतिष्ठा की है। उनमें आध्यात्मिक साम्यवाद भी मिलता है। आध्यात्मिक साम्यवाद की प्रतिष्ठा उन्होंने अद्वैतवाद के सहारे की है। अद्वैतवाद का मूल सिद्धान्त यही है कि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् सब कुछ ब्रह्म रूप ही है। किन्तु माया के कारण इस सत्य की अनुभूति नहीं हो पाती। अब माया-जनित संशय नष्ट हो जाता है तभी सर्वत्र त्रिभुवन के दर्शन होने लगते हैं। एक स्थान पर उन्होंने स्पष्ट लिखा है 'कि सभी प्राणियों में एक ही ईश्वर समान रूप से विद्यमान है। भेदभाव तो केवल वाह्य और कायिक है। जिस प्रकार एक ही मिट्टी से कुम्हार भाँति-भाँति के घड़े बनाकर तैयार करता है उसी प्रकार अनेकों शरीरों में एक ही ईश्वर का अंश व्याप्त है। चाहे हम किसी भी वर्ण की गाय को क्यों न दुहें किन्तु यह बात निश्चित ही है कि दूध सभी का श्वेत होगा। इस कारण समस्त शंकाओं को दूर करके सारे संसार को ईश्वर से व्याप्त समझना चाहिए। वही

---

१ एक बूंद एकू मल-मूतर एक चाम एक गूदा।
एक ज्योति थे सब उतपन्ना कौन बाह्मन कौन सूदा।
माटी का पिण्ड सहजि उतपन्ना नादरु ब्यन्द समाना।
बिनसि गया थैं का नाव धरिहौ पढि गुनि भ्रम जाना।
रजगुन ब्रह्मा तमगुन शंकर सतगुन हरि हौ सोई।
कहै कबीर एक राम जपहु रे हिन्दू तुरक न कोई॥

कबीर ग्रंथावली पृ० १०६

वस्तुतः सर्वत्र परिव्याप्त है ।[1]

किन्तु इस प्रकार के वर्णन रहस्यवाद के नीरस उदाहरण मात्र कहे जायेंगे । वास्तव मे यह वर्णन दर्शन और उपदेश के अधिक समीप हैं, रहस्यवाद के कम ।

मूल तत्त्व प्रेम—कबीर का प्रेम-तत्त्व उनके रहस्यवाद का प्राणभूत उपादान है, यह बात हम कई बात दोहरा चुके हैं । किन्तु कबीर के प्रेम का आदर्श अन्य प्रेमियो के आदर्श से भिन्न था । तुलसी ने अपने प्रेम का आदर्श चातक का प्रेम माना है । उन्होंने इसके सहारे अपने भक्ति-मूलक-प्रेम की तीव्रता, साधनात्मकता एवं एकनिष्ठता पर विशेष बल दिया है । सूफी साधकों ने भी अपनी साधना मे प्रेम को सबसे अधिक महत्त्व दिया था । उनके प्रेम का आदर्श लैला-मजनू और शीरी-फरहाद आदि प्रेम कहानियो मे प्रतिष्ठित किया गया है । उन्होने प्रेम मे वासना एवं भाव-मूलक-तीव्रता और एकनिष्ठता को ही विशेष महत्व दिया है । कबीर ने अपने प्रेम का आदर्श तुलसी आदि भक्त-कवियो तथा सूफी-साधको के प्रेमादर्श से सर्वथा भिन्न प्रदर्शित किया है । उनके प्रेम का आदर्श सती और सूरा है । उसकी अभिव्यक्ति प्रतीकों, रूपको एवं अन्योक्तियो से की गई है । वे प्रेम को केवल उपभोग की वस्तु नही मानते थे । उनके प्रेम में जहाँ एक ओर मादकता है, तीव्र माधुर्य है, खुमारी है, वही उसमें घोर त्याग एवं तपस्या, कठिन साधना, पूर्ण आत्म समर्पण, आदि की भी आवश्यकता रहती है । अपने प्रेम की इन विभिन्न-विशेषताओ को एक साथ व्यंजित करने के लिए उन्होने सती और सूरा के प्रतीक सामने रक्खे हैं । वे प्रेम को खाला

---

१ सोहं हंसा एक समान, काया के गुण आनहिआन ।
माटी एक सकल संसारा, बहु विधि भांडे घडै कुम्हारा ॥
पंचवरन दस दुहिन गाय, एक दूध देखौ पतियाय ।
कहै कबीर ससा करि दूर, त्रिभुवननाथ रहा भरिपूरि ॥

के घर के सदृश केवल सुखमय ही नहीं मानते थे। उनके मतानुसार सच्चा-प्रेम घोर-तपस्या, पूर्ण-त्याग और आत्म-समर्पण की भूमि पर ही पनपता है। इसीलिए उन्होने लिखा है "प्रेम के घर में वही प्रवेश कर सकता है जिसने अपना सिर काट कर अपने हाथ में ले लिया है, अर्थात स्वयं घोरातिघोर-साधना के लिए प्रस्तुत है।"[1]

प्रेम के मार्ग में इन्द्रियों से युद्ध करना पड़ता है। इस युद्ध में वही सफल हो सकता है जो सच्चा वीर है या जिसमें सती नारी के समान पूर्ण पातिव्रत-जैसा युद्ध-व्रत पाया जाता है। वे कहते हैं कि इन्द्रियों से युद्ध करते हुए सच्चे प्रेमी को पीछे नही हटना चाहिए—

"कबीर मर मैदान में करि इन्द्रियाँ से जूझ।"

यह युद्ध विना ज्ञान के विजय-विधायक नहीं हो सकता। ज्ञान के साथ-साथ सहज-संयोग की भी आवश्यकता होती है। तभी तो उन्होंने लिखा है 'ज्ञान रूपी हाथी पर चढ़ कर, सहज-संयोग रूपी कवच धारण करके युद्ध करने पर अवश्य विजय होती है।'[2]

ऐसा साधक रूपी सूर अपनी साधना के लिए सब कुछ त्याग कर भी कभी हिम्मत नहीं हारता। वह तो अपनी साधना के संघर्ष में ही अपना सर्वस्व न्योछावर कर देता है।[3]

---

१ कबीरा ये घर प्रेम का खाला का घर नाहिं।
सीस उतारे भुंइ धरै, सो पैठे घर माहिं॥

कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ६९

२ सूरै सार संवाहिवा पहिर्‌या सहज संजोग।
अब के ज्ञानि गयंद चढ़ि खेत पड़न का जोग॥

कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ६८

३ सूरा तबहि परखिए लड़ै धणीं के हेत।
पुरजा-पुरजा ह्वै पड़ै तबहुँ न छाड़ै खेत॥

कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ६९

वह मृत्यु से भी नहीं डरता। बल्कि सच तो यह है कि वह मृत्यु को आनन्द-रूप समझने लगता है। क्योंकि ऐसा साधक मृत्यु के बाद ही पूर्ण परमानन्द प्राप्त करने के लिये सदा उत्सुक रहता है। संसार के लिये भले ही यह मृत्यु भयास्पद हो।[1]

जब साधक रूपी सूर अपना सिर काट कर अपने हाथ में ले लेता है तब उसे भगवान के दर्शन होते हैं।[2]

जब साधक का मन अपने प्रियतम में उसी प्रकार तन्मय हो जाता है जिस प्रकार सती का मन अपने प्रियतम में तन्मय रहता है, तभी दोनों का भेद मिट ने लगता है। ऐसी दशा में साधक रूपी सती अपने पति को अपना तन-मन पूर्णतः अर्पित कर देती है। उनके मध्य किसी प्रकार के भेद भाव की रेखा नहीं रहती।[3]

इस प्रकार कबीर ने अपने प्रेम की एकनिष्ठता, पवित्रता, तथा तपस्यामूलकता का अच्छा सकेत किया है। उनका प्रेम वास्तव में बड़ा ही निर्मल और अनिर्वचनीय है।

अवस्थाएं—रहस्यवाद का सूक्ष्म-अध्ययन करने वाले आचार्यों ने प्रेम-साधना की अवस्थाओं के आधार पर रहस्यवादी-साधना के विकास की

---

१ जिस मरने ते जग डरै सों मेरे आनन्द।
कब मरिहहुँ कब देखिहहुँ पूरन परमानन्द॥

कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ६६

२ सूरै सीस उतारिया छाड़ी तन की आस।
आगे थे हरि मुलकिया आवत देखा दास॥

कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ७०

३ सती जलन कूँ नीकली चित्तधरी एकम मेख।
तन मन सौंपा पीव कूँ अन्तर रही न रेख॥

कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ७१

कई अवस्थाऐं मानी हैं । इविलिन अंडरहिल के मतानुसार वे अवस्थाऐं इस प्रकार हैं:—

१ जागरण की अवस्था (State of awakening)

२ परिष्करण की अवस्था (Purification)

३ अंशानुभूति की अवस्था (Illumination)

४ विघ्नों की अवस्था (Dark Night)

५ मिलन की अवस्था (Unitive state)

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने एक छठी अवस्था "पूर्ण-एकाकार" की मानी है । मेरी समझ में इन अवस्थाओं से साधना के समस्त पक्ष स्पष्ट नहीं हो पाते हैं । रहस्यवाद की अवस्थाओं का निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है ।

१ सत्यानुभूति के लिए तीव्र औत्सुक्य, २ गुरु की खोज, गुरु की प्राप्ति, गुरु का महत्व, गुरु-मंत्र, आदि, ३ आध्यात्मिक-जागरण की अवस्था, ४ विवेक और वैराग्य की अवस्था, ५— आत्म-परिष्करण की अवस्था, ६ भावातिरेकता की अवस्था, ७— आंशिक-अनुभूति की अवस्था, ८ विघ्न और उनके युद्ध की अवस्था, ९ विरह की अवस्था, १० आत्म-समर्पण की अवस्था, ११— मिलन की पूर्वावस्था, १२ मिलन की अवस्था, १३ पूर्ण आत्म-समर्पण की अवस्था, १४ तादात्म्य की अवस्था ।

जागरण की अवस्था—प्रथम दो अवस्थाओं का संकेत हम पहले ही कर चुके हैं । अब हम अन्य अवस्थाओं का विवेचन करेंगे । तीसरी अवस्था जागरण की है । जब गुरु मंत्र दे देता है तो साधक सत्य की खोज की ओर उन्मुख हो उठता है । इस जागरण की अवस्था में साधक में विवेक का उदय होता है । यह विवेक उसमें सत और असत का भेद स्पष्ट करता है । महात्मा कबीर में इस अवस्था के स्पष्ट चित्र पाये जाते हैं । एक चित्र है—'कबीर असत्-संसार के पीछे जा रहे थे, किन्तु गुरु ने

कृपा की, उसने उन्हें ज्ञान-रूपी-दीपक प्रदान कर दिया। जिससे वे सन्मार्ग में प्रवृत्त हो गए।'[1]

एक दूसरे स्थल पर वे कहते हैं कि 'गुरु ने मुझे ज्ञान रूपी प्रकाश प्रदान कर दिया है। अब मैं उसे कदापि नहीं भूल सकता। जब ईश्वर ने कृपा की तभी मुझे सद्गुरु की प्राप्ति हो सकी।' इस प्रकार उन्होंने यह स्पष्ट रूप मे प्रकट किया है कि सद्गुरु की प्राप्ति ईश्वर की कृपा होने पर ही होती है।[2]

विवेक और वैराग्य—गुरु की कृपा से साधक का विवेक इतना जाग्रत हो जाता है कि वह केवल गोविन्द को ही सत्-रूप समझने लगता है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि 'जिस साधक को ईश्वर-ज्ञान का प्रकाश उपलब्ध नही है, उसके हृदय को चौंसठ कला रूपी चौसठ दीपकों और चौदह विद्यारूपी चन्द्रमाओं का प्रकाश भी प्रकाशित नहीं कर सकता'[3]।

इसी अवस्था में साधक को माया के मिथ्यात्व का भी ज्ञान हो जाता है तभी तो उन्होने कहा है कि माया-रूपी-दीपक में मानव-रूपी पतिंगे बार-बार भ्रमित हो कर जा पड़ते हैं। गुरु की कृपा होने पर ही

---

१ पीछे लागा जाय था लोक वेद के साथ।
आगे ते सद् गुरु मिला दीपक दीया हाथ॥

कबीर ग्रंथावली पृ० २

२ ज्ञान प्रकासा गुरु मिल्या सो जानि बीसरि जाय।
जब गोविन्द कृपा करी तब मिलिया गुरु आय॥

कबीर ग्रंथावली पृ० २

३ चौंसठ दीवा जोई कर चौदह चन्दा माहि।
तिहि घर किसको चानिणौं जिहि घर गोविन्द नाहि॥

कबीर ग्रंथावली पृ० २

कोई साधक इस मायाजाल से बच कर निकल पाता है।[1]

इस अवस्था में किसी प्रकार का संशय, जो विनाश-मूल है, नहीं रह जाता है। क्योंकि गुरु के द्वारा प्रदत्त ज्ञान से साधक की सारी शंकाएँ एवं भ्रान्तियाँ दूर हो जाती हैं।[2]

किन्तु इस प्रकार का विवेक सब को नहीं होता। इसके लिए गुरु का सद् और शिष्य का सुपात्र होना आवश्यक है। यदि गुरु अंधा और अविवेकी है तो फिर दोनों ही कूप में पड़ते हैं। भला अंधा अंधे को क्या मार्ग बतायेगा।[3]

यदि शिष्य ही अनधिकारी और अयोग्य है तो फिर उसे विवेक कैसे हो सकता है।

"सतगुरु बपुरा क्या करे जो सिखही माँही चूक।"

एक दूसरे स्थल पर उन्होंने लिखा है कि यदि मन में ही अविवेक भरा हुआ है तो फिर सद्गुरु क्या कर सकता है? यदि किसी कपड़े के तानों और बानों में ही दोष आ गया हो तो फिर उसका बना हुआ वस्त्र भला कैसे ठीक हो सकता है।[4]

---

१ माया दीपक नर पतंग भ्रमि भ्रम इवैं पडन्त।
कहै कबीर गुरु ज्ञान म एक आध उबरन्त॥

कबीर ग्रन्थावली पृ० ३

२ संसय खाया सकल जग संसा किनहू न खद्ध।
जे बेधे गुरु अषिखरा तिनि संसा चुणि खद्ध।

कबीर ग्रन्थावली पृ० ३

३ जाका गुरु भी आंधला चेला खरा निरंध।
अन्धा अन्धै ठेलिया दून्यो कूप तडन्त॥ कबीर ग्रन्थावली पृ० २

४ सतगुरु मिल्या तो क्या भया जे मनि पाणी भोल।
पासि बिनंठा कपड़ा क्या करै बिचारी चोल॥

कबीरग्रंथावली पृ० ३

इस प्रकार स्पष्ट है कि जागरण जनित अवस्था तभी उदय होगी जब शिष्य अधिकारी और पात्र होगा और उसे सद्गुरु मिल जायगा।

जायसी ने जागरण की अवस्था के बाद वैराग्य की अवस्था का वर्णन किया है। उनके अनुसार जागरण के बाद यही अवस्था आती है। ज्ञान का उदय होते ही साधक मानों सोते से जाग उठता है और विरक्त हो उठता है[1]।

वैराग्य सभी प्रकार के आध्यात्मिक साधनों के लिए परम-अपेक्षित होता है। फिर कबीर फक्कड़ थे ही, वे विवेकी होते ही घर फूँक कर तमाशा देखने को निकल पड़े। साथ ही अपने हाथों में मशाल भी ले ली और अपने अनुयायियो का भी घर जलाने के लिए प्रस्तुत हो गये।[2]

एक अन्य स्थल पर उन्होंने लिखा है कि "इस संसार से प्रेम नहीं करना चाहिए। जो इस संसार के सुख-भोगों का आस्वादन करने में लीन रहना है, वह कभी इस संसार से मुक्त नही हो सकता।"[3]

लोक संग्रह—इसी अवस्था में पहुँच कर वे रहस्यवादी वैरागी के साथ-साथ उपदेशक बन जाते है। एक ओर तो वे संसार की नश्वरता का संकेत करते हैं, दूसरी ओर सदाचार का उपदेश देते है। जगत् की नश्वरता का प्रतिपादन करते हुए कबीर ने लिखा है कि 'हे मानव तुम इस यौवन की आशा में क्यों गर्व करते हो। चार ही दिन के लिए टेसू का फूल फूलता है। पुनः वह पलाश का वृक्ष कोरा कंकाल मात्र

---

१ जब चेत उठा वैरागा। च.उर जनी सोइ उठि जागा॥
जायसी ग्रंथावली

२ हम घर जाल्या आपुंडा लिया मुराडा हाथि।
अब घर जालौं तास का जे चले हमारे साथि॥ वही पृष्ठ ६७

३ जग सो प्रीत न कीजिए समझि ले मन मेरा।
स्वाद हेत लपटाइये को निकसै सूरा॥ वही

रह जाता है।"[1]

एक अन्य स्थल पर वे लिखते हैं कि "हे मानव तुम अपने शरीर के गर्व में क्यों फूले नहीं समाते हो। क्या तुम्हें ज्ञात नहीं कि साँप एक वार अपनी जिस केंचुली को त्याग देता है, पुनः उसे ग्रहण नहीं करता। तुम भी इसी शरीर को पुनः नहीं प्राप्त कर सकोगे।"[2]

सदाचार का उपदेश देते हुए उन्होंने लिखा है—

"काम क्रोध तृष्णा तजै ताहि मिलै भगवान।"

सम्भवतः इन्हीं उपदेशों के कारण रहस्यवादी को लोकरक्षक की उपाधि दी जाती है।

Joyous mysticism नामक ग्रन्थ में M. Spencer ने लिखा है—"Mystics are the highest saviours of the world." अर्थात् रहस्यवादी लोक के महान् रक्षक होते हैं।

आत्म-परिष्करण की अवस्था या सदाचार—वैराग्य की अवस्था के वाद आत्म-परिष्करण की अवस्था आती है। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं है। प्रत्येक साधक अपने-अपने ढंग पर आत्म-परिष्करण करता है। कबीर ने आत्म-परिष्करण के लिए किसी साधना-पद्धति-विशेष के विधि-विधानों का निर्देश नही किया है। उन्होंने अधिकतर उन्हीं नैतिक बातों पर जोर दिया है जिनसे समाज में किसी प्रकार के मिथ्याडम्बर फ़ैलने की आशंका नहीं रहती। इनमे से उन्होंने कुछ का निर्देश विधि के रूप में किया है और कुछ का निषेधों के रूप में। इन नैतिक विधि-निषेधों की अभिव्यक्ति अधिकतर उपदेशात्मक शैली में हुई है। सबसे पहली बात, जिस पर कबीर ने विशेष बल

---

१ कबीर कहा गरबियो इस जीवन की आस।
केसू फूले दिवस चारि खंखर भये पलास॥ वही पृ० २१

२ कबीर कहा गरबियो देही देख सुरंग।
बीछड़ियां मिलिबो नहीं ज्यों कांचुली भुवंग॥ वही

दिया है, वह है निष्कपटता—सच्चे साधक का हृदय अवश्य ही निष्कपट होना चाहिए। यदि हृदय निष्कपट नही है, तो सभी साधनाएँ व्यर्थ हैं। भक्त के हृदय मे तो ईश्वर के प्रति सच्चा प्रेम होना चाहिये। उसके अभाव में अनहद-नाद श्रवण भी निरर्थक है।[1]

वे वेश-भूषा को कोई महत्त्व नही देते थे। यदि साधक का हृदय शुद्ध और निष्कपट है तो फिर वह जटा रख ले या मूँड मुँडा ले। दोनो में कोई अन्तर नही पड़ता।[2]

हृदय की निष्कपटता के साथ-साथ सत्य, शील, भाव, भक्ति आदि का पालन भी आवश्यक होता है।[3]

मन की साधना—इस प्रकार के आचरण करने के लिए सबसे आवश्यक बात है अपने मन को अधीन करना। मन की प्रवृति वहिर्मुखी होती है। वह स्वभाव से ही वाह्य विषयों में आसक्त रहता है। यदि वह वश मे न रखा जाय तो बड़ा अनर्थ हो सकता है। इसलिए कबीर ने मन-साधना पर बहुत बल दिया है। वे मन को गोविन्द रूप मानते थे। इसलिए उन्होंने उसे अपने आधीन करने का उपदेश दिया है।[4]

---

१ हृदय हेत हरि सू नहि सांच्यों।
कहा भयो जो अनहद नाच्यो॥

वही पृ० १८२

२ साँई सेति साँच चल औरा सो सुध भाय।
भावै लांबे केस कर भावै घुरड़ि मुँडाय॥ वही

३ साँच शील का चौका दीजे।
भाव भगति की सेवा कीजे॥ वही पृ० २४४

४ मन गोरख मन गोविन्दो मन ही औघड़ होय।
जे मन राखे जतन कर तो आपै करता सोय॥

वही पृ० २६

जब इस मन को धीरे-धीरे साधना करते-करते बिलकुल मार दिया जाता है, तभी ब्रह्म के दर्शन होते हैं।[1]

प्रपत्ति मार्ग–मन-साधना का मार्ग वास्तव में कठिन है। साधारण साधक इतनी कठिन साधना नहीं कर सकता। अतएव कबीर ने प्रपत्ति का सरलतम मार्ग भी निर्दिष्ट किया है। प्रपत्ति का अर्थ है शरणागति। भगवान को पूर्ण-आत्म-समर्पण कर देना ही प्रपत्ति है। इसके विविध-अंग भी होते हैं। इन सबको यहाँ वर्णन करना कठिन ही नहीं, अनावश्यक भी है। कबीर ने प्रपत्ति का स्थान-स्थान पर उपदेश दिया है। उन्होंने कहा है 'कि साधक को मन के समस्त भ्रमों को त्याग कर केवल ईश्वर का नाम-भजन करना चाहिए तथा एक ही ईश्वर की शरण को अपनाना चाहिए'।[2]

कबीर का आत्म-समर्पण का भाव भी दर्शनीय है। एक स्थल पर उन्होंने आत्म-समर्पण करते हुए कहा है 'कि मैं राम का कुत्ता हूँ तथा मेरे गले में राम की रस्सी पड़ी हुई है। राम इसे जिधर चाहेंगे खींच लेंगे।'[3]

सत्संगति–आत्मसुधार-विधायक साधनों में कबीर ने सत्संगति को भी बहुत अधिक महत्व दिया है क्योंकि साधु संगति कभी व्यर्थ नहीं जाती। साधु-संगति के प्रताप से नीच भी ऊँचा बन जाता है जिस

---

१ मैं मंता मन मारि रे नन्हा करि-करि पीस।
तब सुख पावै सुन्दरी ब्रह्म झलक्कै सीस॥
वही पृ० २६

२ कहत कबीर सुनहु रे प्रानी छाडहु मन के भरमा।
केवल नाम जपहु रे परहु एक की सरना॥ वही

३ कबीर कूता राम का मोतिया मेरा नाऊं।
गले राम की जेवड़ी जित खींचै तित जाऊं॥
वही पृ० २०

प्रकार कि नीम के वृक्ष में चन्दन की सुगंध आ जाने पर, उसे नीम कोई नहीं कहता अपितु चन्दन ही कहा जाता है ।[1]

साधु की संगति दुर्मति को दूर करके सुमति प्रदान करती है। इस कारण सदा उसका सेवन करना चाहिए ।[2]

कबीर के नाम से प्रसिद्ध एक पद में रूपकात्मक-प्रतीकों के सहारे आत्म-परिष्करण में सत्संगति का अत्यधिक महत्त्व ध्वनित किया गया है। उन्होंने लिखा है कि न जाने किस रंगरेज ने मेरी इस शरीर रूपी चुनरी को रंगा है। यह चुनरी पांच तत्वों की बनी है। जिसको धारण करके आत्मा रूपी सुन्दरी अत्यन्त सुन्दर दिखाई देती है। इस चुनरी के निर्माण का आधार और कर्म के धागे हैं। इस सुन्दरी के गले मे हार तथा हाथ में मुँदरी है। यह सोलह शृंगार किए हुए तथा सदैव सुन्दर आभूषण धारण किये हुए है तथा अपने प्रियतम परमात्मा के ध्यान में लीन रहती है तथा सदैव उसी का नाम उच्चारण करती है। किन्तु इस सुन्दरी का सुधार होने का कारण सत्संगति ही है। उसके अभाव में इसका परिष्करण नहीं हो सकता था ।[3]

---

४ कबीर संगति साध की कदे न निरफल होय ।
चन्दन होसी बासना नींव न कहसी कोय ।। वही पृ० ४६

५ दुरमति दूर गंवाइसी देती सुमति बताई ।
कबीर संगति साध की बेगि करी जँ आई ।। वही पृ० ४६

६ कौन रंगरेजवा रंगी मोरी चुन्दरी ।
पांच तत्व की बनी चुन्दरिया, चुन्दरी पहिरि के लगे बड़ी सुन्दरी ।
टेकुआ तागा करम के धागा, गरे बिच हरवा हाथ बिच मुन्दरी ।
सोरहों सिंगार बत्तीसों अभरन, पिय पिय रटत पिया संग घुमरी ।
कहत कबीर सुनो भई साधो, बिन सत्यसंग कवन विधि सुधरी ।
वही पृ० ४६

रहस्यवाद के अन्तर्गत परिष्करण के साधनों का इसी शैली में वर्णन करने वाले पद आएँगे। उपरिलिखित कुछ, साखियाँ बात को स्पष्ट करने मात्र के लिए दी गई हैं। वे रहस्यवाद के सच्चे उदाहरण नहीं हैं।

ज्ञान—आत्म-परिष्करण के लिए सदाचार, मन-साधना और प्रपत्ति-मार्ग के अतिरिक्त ज्ञान की भी आवश्यकता होती है। विना ज्ञान-रूपी आँधी में भ्रमरूपी टाटी उड़ नहीं सकती।[1]

ज्ञान की लहरी ही अनहद्-नाद के श्रवण में सहायक होती है और तृष्णा नष्ट कर देती है।[2]

जिसने ज्ञान का विचार नहीं किया तो समझ लेना चाहिए उसका जन्म व्यर्थ है। यह संसार तो एक हाट के समान है। इस हाट से सभी को यथाभिप्रेत-ज्ञान-प्राप्त कर लेना है[3]

प्रेम भगति—ज्ञान के अतिरिक्त "प्रेम भगति" भी साधक के परिष्करण में बहुत अधिक सहायक होती है। कबीर ने प्रेम-भगति

---

१ सन्तो भई आई ज्ञान की आँध।
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी माया रहै न बाँधी॥
कबीर ग्रन्थावली पृ० ९३

२ अवधू ग्यान लहर धुनि माँडि रे।
सबद अतीत अनाहद राता, रहि विधि शिष्णाँ षांडी।
वही पृ० ९१

३ जौ मैं ग्यान विचार न पाया।
तौ मैं यौं ही जन्म गँवाया॥
यह संसार हाट कर जानूं, सबको बणिजण आया।
चेति सकै तो चेतौ रे भाई, मूरिख मूल गँवाया॥ वही
जे जन जान जपै जग जीवन, तिनका ग्यान न नासा।
कहै कबीर वै कबहूं न हारैं, जानि न ढारैं पासा॥ वही

हिंडोलने का बडे सुन्दर ढंग से वर्णन किया है। उनकी दृष्टि में यही प्रेम हिंडोलना समस्त भक्तों और सन्तों के लिए विश्राम-स्थल है। [1]

इसीलिए कबीर ने प्रेम भगति करने का उपदेश देते हुए कहा है— "हमें मुख रूपी चन्द्र से प्रेम-भगति रूपी अमृत की वृष्टि करनी चाहिए।"[2]

भावातिरेकता की अवस्था—आत्म-परिष्करण हो जाने पर साधक भाव-जगत में बैठ कर अपने प्रियतम को प्राप्त करना चाहता है। इसलिए भावातिरेकता की अवस्था का उदय होना नितान्त आवश्यक होता है। सभी रहस्यवादी इसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं। "Joyous Mysticism" में स्पेन्सर ने लिखा है:—

रहस्यवाद हृदयमूलक धर्म है। जब हृदय प्रभावित हो जाता है तब आनन्दमयी भावातिरेकता की स्थितियों का उदय होना स्वाभाविक होता है। उनमें भावात्मक-नृत्य और संगीत भी प्रादुर्भूत हो जाता है। अब प्रश्न यह है कि वे कौन सी बातें हैं जिनसे हृदय इतना अधिक प्रभावित हो जाता है कि भावातिरेकता की अवस्था जाग्रत हो जाती है।[3] इस सम्बन्ध में आचार्यों में मतैक्य नहीं हैं।

---

१ हिंडोलना तहां झूले आतम राम।
प्रेम भगति हिंडोलना सब संतनि को विश्राम॥

कबीर ग्रन्थावली पृ० ६४

२ प्रेम भगति ऐसी कीजिए,
मुख अमृत बरसै चंद। वही

३ Mysticism is a religion of the heart and when the heart is touched it is natural that there should be divine ecstacies accompanied even by rapturous dancing and singing. —Joyons mysticism by Spencer.

रहस्यवादी कबीर भी भावातिरेकता की अवस्था में विश्वास करते थे। उन्होने इस अवस्था का वर्णन कही पर उन्मनी और कही समाधि के नाम से किया है। कबीर ने समाधि या सहज-समाधि की अवस्था का जन्म कई बातों से माना है। हम ऊपर रहस्यवाद की आतरिक प्रक्रिया की चर्चा करते समय उल्टी चाल से समाधि की अवस्था का उदय होना बता चुके हैं। अतः यहाँ पर उसे दोहराना बेकार है। कबीर को समाधि की अवस्था तक ले जाने वाली दूसरी साधना भक्ति-मार्ग की है। जो सच्चा भक्त है, वह भगवान के गुणो का वर्णन करता हुआ आनन्द-निमग्न रहता है। इस आनन्द की अवस्था मे, इस समाधि की स्थिति मे कोई भी सामारिक-द्वन्द्व उसे व्याप्त नही होते हैं। उन्होने लिखा है कि "ईश्वर-भक्त की पहिचान यही है कि उसके हृदय में आतुरता नही होती, उसके मन मे सदैव स्थिरता रहती है। वह सदा सन्तुष्ट रहता है। उसकी तृष्णा जल जाती है। उसे काम-क्रोध आदि दोप-विकार नही सताते हैं। इस प्रकार भक्त का हृदय सदैव ईश्वर के भजन में निमग्न रहता है उसे दूसरे की निन्दा नही सुहाती। वह कभी असत्य-भाषण नही करता। वह मृत्यु के भय से विमुक्त होकर ईश्वर के चरणों मे अपना चित्त रमाता है। उसकी दृष्टि सदैव सम तथा शीतल रहती है। उसके मन मे वितर्क के लिए स्थान नही होता। ऐसा ही सच्चा दास भक्त कहलाने का अधिकारी होता है।"[1]

---

१ राम भजै सो जानिए जाके आतुर नाहि।
सन्त सन्तोष लीए रहै, धीरज मन माँहि॥
जन को काम क्रोध व्यापै नहीं तृष्णा जरावै।
प्रफुल्लित आनन्द में गोविन्द गुण गावै।
जन को पर निन्दा भावै नही और असति न भाखै।
काल कल्पना मेटि कर चरन चित राखै॥
जन सम दृष्टि शीतल सदा दुविधा नहि आनै। कबीर ग्रन्थावली
कहै कबीर ता दास सू मेरा मन मानै॥ पृ० २०६

नाम-जप—भक्ति एवं उल्टीचाल के अतिरिक्त कबीर ने नाम-जप को भी विशेप महत्व दिया है। साधक राम का नाम स्मरण करते करते स्वयं भी राममय हो जाता है। उसका अहं भाव पूर्णतः नष्ट हो जाता है। वह पूर्णतः ईश्वर के प्रति अपने को अर्पित कर देता है।[1]

कबीर ने इस विषय मे लिखा है कि राम का स्मरण करते २ मेरा मन राममय हो गया है। अव मैं मस्तक किसे नवाऊं ? जो साधक था वह स्वय ही उपास्य बन बैठा। यही भक्ति की चरम सीमा है।[2]

किन्तु यह स्मरण पट्मुखी होना चाहिए। पांच ज्ञानेन्द्रियां और मन इन छहों से स्मरण करना चाहिये। तभी "राम रतन" की प्राप्ति होगी।[3]

यह तभी भावातिरेकता को जन्म दे सकता है जब मनसा, वाचा, कर्मणा किया जावे—

"मनसा, वाचा, कर्मणा राम नाम सो होत।"

कीर्तन—नाम-जप के अतिरिक्त वे सम्भवतः कीर्त्तन और संगीत में भी विश्वास करते थे। उनका कीर्त्तन-प्रेम उनकी पैगम्बर पीर की प्रशसा से टपकता है। उन्होंने लिखा है कि "हमारा हज्ज तो गोमती नदीके किनारे पर है। वहाँ हमारा पीताम्वर-पीर रहता है। वह सुन्दर

---

१ तू तू करता तू भया मुझ में रही न हूं।
वारी फेरी बलि गई जित देखों तित तूं॥

कबीर ग्रन्थावली

२ मेरा मन सुमरै राम कू मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहि ह्वै रहा सीस नवाओ काहि॥

कबीर ग्रन्थावली

३ पंच संगी पिउ पिउ करै छठा सुमिरै मन।
आई सूति कबीर की पाया राम रतन॥

कबीर ग्रंथावली

संगीत सुनाता है। उसके द्वारा गाया हुआ हरिसंकीर्तन मेरे मन भाता है।"[1]

उनका संगीत-प्रेम उनके संगीत-संबंधी रूपकों से भी प्रकट होता है। यों तो कबीर ने भावातिरेकता को जन्म देने वाले उपर्युक्त साधनों का आश्रय लिया है, किन्तु मेरी दृष्टि में यह सब साधन गौण हैं। उनकी भावात्मकता के विधायक योग और प्रेम-तत्व ही हैं। प्रेम और योग के सहारे ही कबीर सहज-समाधि की प्राप्ति करते हैं।

कबीर की भावातिरेकता और प्रेम—यहां पर योग-जनित भावातिरेकता का उल्लेख नहीं किया जायेगा। इसका विस्तृत-वर्णन साधनात्मक-रहस्यवाद के अन्तर्गत किया जायगा। देखिये कबीर प्रेम-रस को भावातिरेकता में कितना अधिक सहायक मानते हैं। वास्तव में प्रेम-रस बड़ा मधुर होता है। उसे पीकर साधक आनन्द-निमग्न हो जाता है किन्तु इस रस का पान करना सरल नहीं है। इसका पान करने से पूर्व तलवार को शीश की भेंट चढ़ानी पड़ती है।"[2]

इस "हरि रस" या प्रेम को पीकर ही साधक समाधि की स्थिति को प्राप्त हो जाता है। कबीर ने इसे सहज-समाधि कहा है। यही उनकी उन्मनावस्था है। इसी का उल्लेख करते हुए कबीर ने कहा है कि जब से इस मन ने उन्मनावस्था का बोध प्राप्त किया है तब से वह उस ईश्वर में ही लीन रहता है। उस अवस्था में पहुंचने के पश्चात् इस शरीर और मन में कोई भेद नहीं रहता। यह दोनों मिल कर एक ही

---

१ हज्ज हमारी गोमती तीर,
जहाँ बसै पीताम्बर पीर।
वाह-वाहु क्या खूब गावता है,
हरि का नाम मेरे मन भावता है॥ कबीर ग्रन्थावली

२ राम रसायन प्रेम रस पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुर्लभ है मांगे सीस कलाल॥ वहीं

जाते है। इस निर्द्वन्द्वावस्था में हमारा मन प्रसन्न रहता है। इस दशा में यह आत्मा अखण्ड-ब्रह्म में लीन हो कर तद्रूप हो जाती है।[1]

इसी अवस्था में साधक महा-रस का पान करता है। "यह महा-रस अमृत-तुल्य है। उसे पीकर साधक आनन्द-विभोर हो उठता है। वह ब्रह्माग्नि में अपने अहंकार को नष्ट करके और अजपा जाप के सहारे अनन्त-समाधि में लीन हो जाता है। त्रिकुटी में उसका ध्यान केन्द्रित रहता है और विषय वासनाओं का त्याग करके स्वाभाविक समाधि की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।[2]

इसी उन्मनावस्था में जब उसे प्रियतम इत्यादि के रहस्य की अनुभूति होती है तभी वह चिल्ला उठता है—

"जानी जानी रे राजा राम की कहानी।"

विघ्न की अवस्था—किन्तु भावातिरेकता की यह अवस्था, कबीर की यह सहज-समाधि नहीं रह पाती है। माया उसमें बाधक हो जाती है।

"मुख कडियाली कुमति की कहन न देई राम।"

माया—कबीर ने माया के बड़े ही रोचक और रहस्यमय-वर्णन लिखे हैं। देखिये, डायन के रूपक से उसका कितना रहस्यपूर्ण और मनोरंजक-चित्र चित्रित किया है। वे लिखते हैं कि "माया रूपी डायन मेरे मन में रहती है। यह नित्य मेरे मन को विकृत करती है, इस

---

१ जब थे इन मन उन मन जाना,
तब रूप न रेख तहां ले बाना।
तन मन मन तन एक समाना,
इन अनमैं माहे मन माना।
आतम लीन अखण्डित रामा,
कहै कबीर हरि माहि समाना। कबीर ग्रन्थावली

२ आत्मा अनन्दी जोगी, पीवै महा रस अमृत भोगी।
ब्रह्म अगिनि पर जारी अजपा जाप उन्मनी तारी॥ वही

डायन के पांच लड़के हैं—काम, क्रोध, मद, मोह लोभ । वे रात-दिन मुझे नाच नचाते हैं ।[1]

यह माया विविध प्रकार से मनुष्य को फँसाना चाहती है । देखिए यह कैसी ट्रिक खेलती है । "यह विनय-पूर्वक मनुष्य पर अपना अधिकार करती है । बड़े विनम्र वचन बोलकर, हाथ जोड़ती है, और बार-बार चरण छूती है । बार बार उसका यह आग्रह होता है कि हे मानव ! तुम जी भर कर स्वर्ण लो और मन भर कर कामिनी का विलास प्राप्त करो । कभी वह पुत्र के प्रेम की ओर आकृष्ट करती है और कभी विद्या के अहंकार किंवा राजकीय सुख-भोगों का प्रलोभन देती है । इसी प्रकार वह आठों सिद्धियों और कभी नौ निधियों को प्रदान करने का प्रलोभन देती है । माया बिना ही कुछ माँगे देवताओं, मुनियों और नरपतियों को समस्त सुख प्रदान कर देती है" ।[2]

यह माया सच्चे सन्त से ही डरती है । कबीर ने उसके स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है—"माया रूपी सुहागिनी सारे संसार को प्रिय है । वह समस्त संसार के समस्त जन्तुओं की पत्नी है वह अपने पति

---

१ इक डायनी मेरे मन में बसै रे ।
नित उठि मेरे जिय को डसै रे ।।
या डायनि के लरिके पाँच रे ।
निसिदिन मोहि नचावें नांच रे ।। कबीर ग्रंथावली

२ नैक निहारि हो माया बिनती करै ।
दीन वचन बोलै कर जोरे, पुनि पुनि पांइ परै ।।
कनक लेहु जेता मनि भावै, कामिनि लेहु मन हरनी ।
पुत्र लेहु विद्या अधिकारी, राज लेहु सब धरनी ।।
अठि सिन्ध लेहु तुम्ह हरि के जनां, नवै निधि है तुम्ह आगै ।
सुरनर सकल भवन के भूपति, तेऊ लहै न माँगै ।।
कबीर ग्रंथावली

की मृत्यु पर खिन्न नही होती। एक पति की मृत्यु होने पर दूसरे पति को वर लेती है। वह उस पति का भी नाश कर देती है। वह जीते जी तो इसके प्रभाव से भोग-विलासों मे लीन रहता है और मृत्यु के पश्चात नरक भोगता है। यह केवल सन्तो से ही हारती है, उन्हें वह विषवत् मानती है। वह औरो के पीछे लगी फिरती है किन्तु सन्तो से घबडाती है। यदि सन्तो पर उसका जादू चल भी जाता है और वे उसके जाल मे फँस जाते हैं तो गुरु के त्रास के कारण वह सन्तों के समीप नही आने पाती। शाक्त लोगो के पीछे पडी रहती है। किन्तु सन्तो की दृष्टि मे यह दुष्टा है। जब गुरु कृपा करके अपनी भक्ति प्रदान करते हैं तभी सन्त को इसका भेद ज्ञात हो पाता है। पुनः वह इसकी पहुँच की सीमा के बाहर हो जाता है। सासारिक पुरुषो को यह दृढ करके पकड लेती है।[1]

माया के इस प्रकार के और भी अनेक सुन्दर चित्र कबीर में पाए जाते है।

विरह तत्त्व—जब माया प्रियतम को आंशिक-अनुभूति से विरत कर देती है तो साधक विरह से तडफ उठता है। यह विरह-तत्त्व रहस्यवादी

---

१ एक सुहागिन जगत पियारी, सकल जीव जन्तु की नारी।
खसम मरै वा नारिन रोवै, उस रखवाला औरै होवै॥
रखवाले का होइ विनास, उतहि नरक इत भोग विलास।
सुहागनि गलि सो हार, संतनि बिख बिलसै संसार॥
पीछै लागी फिरै पचि हारी, सन्त की ठठकी फिरै बिचारी।
सन्त भजै वा पाछी पड़ै, गुरु के सबदूं मारयो डरै॥
साषत कै यहु प्यंड पराइनि, हमारी दृष्टि परै जैसे डाइनि।
अब हम इसका पाया भेद, होइ कृपाल मिले गुरुदेव।
कहै कबीर इब बाहरि परी, संसारी के अचलि टरी॥

कबीर ग्रन्थावली पृ० २११

साधना में अपना वहुत वड़ा महत्त्व रखता है। विरह की अग्नि में ही साधक इस माया को भस्म करना चाहता है। इसका संकेत करते हुए कवीर ने लिखा है कि "हमें अपने घर को फूँक देना चाहिए, क्योंकि इसी के कारण मन संसार के धंधों में पड़ता है।[1]

विरह पुकार-पुकार कर कहता है कि वह उसे परब्रह्म तक ले जायेगा।[2] अतः कवीर को उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए।

इसीलिए किसी को विरह की निन्दा नहीं करनी चाहिए। वह तो साधना का सुलतान है। जिसके मन में विरह जागृत नहीं होता, उसके शरीर को साक्षात् मसान समझना चाहिए। सन्त को सदा इस विरह से प्रेम होना चाहिए।[3]

वास्तव में प्रियतम-प्राप्ति का सवसे सरल मार्ग विरह का ही है। विरह मानव का पूर्ण परिष्करण कर देता है, तभी तो सूफी कवि उसमान ने लिखा है कि साधक विरहाग्नि में जल कर कुन्दन के समान जाज्वलयमान हो उठता है, उसका शरीर पूर्णतः शुद्ध एवं निर्मल हो जाता है।[4]

---

१ लावी वावा जलाओ घरा रे।
जा कारण मन धंधे परा रे॥

कवीर ग्रंथावली

२ विरहा कहै कवीर सों तू जिन छाँडै मोहि।
पारब्रह्म के तेज में तहाँ ले राखौं तोहि॥

कवीर ग्रन्थावली

३ विरहा वुरहा मत कहौ, विरहा है सुलतान।
जिहि घर विरह न संचरै सो घर सदा मसान॥

कवीर ग्रन्थावली पृ० ९.

४ विरह अगिनि जरि कुन्दन होई।
निर्मल तन ...वै पै सोई॥ उसमान

महात्मा कबीर भी इसी सिद्धान्त में विश्वास करते थे। इसीलिए उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि साधक सांसारिक सुखोपभोगों से नहीं, बल्कि रुदन-हाहाकार-प्रधान विरह से ही प्रियतम की प्राप्ति में समर्थ होता है—

"हँस हँस कंत न पाइयें जिनि पाया तिनि रोय।"

सच्चे विरह की कसौटी यही है कि रोते-रोते आँखो से लहू टपकने लगे।

"जे लोचन लोहू चुवै तो जानै हेत हियाहि।"

इसीलिए सच्चा साधक सांसारिक-सुखों का परित्याग करके आध्यात्मिक-विरह में लीन रहना ही श्रेयस्कर समझता है। बिना रुदन के साधक को अपने प्रियतम एवं मित्र ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव नही है।[1]

विरह-साधना के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए महात्मा कबीर ने विरह दीपक का रम्य रूपक सामने रखा है। जब सच्चा साधक अपने शरीर-रूपी दीप में जीव-रूपी बत्ती तथा अश्रुजनित रक्त-रूपी तेल डालकर उसे ज्योतित करता है तभी उसे अपने प्रियतम के दर्शन होते हैं।[2]

इस प्रकार विरह-साधना में लीन साधक या तो जीवित ही नही रहता और यदि किसी प्रकार जीवित भी रह जाये, तो वह बावला हो जाता है—

---

१ कबीर हँसना दूरि करि रोवण सो करि चित्त।
बिन रोया क्यों पाइए, प्रेम पियारा मित्त॥

कबीर ग्रन्थावली पृ० ६

२ इस तन का दीवा करू बाती मेल्यू जीव।
लोहू सींचू तेल ज्यों, तब मुख देखू पीव॥

कबीर ग्रन्थावली पृ० ६

"राम वियोगी ना जियै जियै तो बौरा होय।"

क्योकि विरह सर्प के सदृश भयकर होता है, उसकी विप-रूपी पीडा को सहन करने की शक्ति केवल साधु में होती है।[1]

विरह-साधना का साधक की दृष्टि मे एक महत्त्व है वह अपने शरीर को विरहाग्नि मे इसलिए जला देना चाहता है कि किसी प्रकार उसके जलने का धुआँ ही प्रियतम तक पहुँच जाय। उस धुऐ को देख कर कदाचित् प्रियतम तरस खा जाय और प्रेमी को दर्शन दे ही दे, जिससे सारी ज्वाला शान्त हो जाय।[2]

विरह, विरही के शरीर की समस्त धमनियो की तात तथा शरीर को रबाव बनाकर हर समय बाजा बजाता रहता है। उस दैवी-सगीत को साधारण मानव नही सुन सकता। उसे या तो साधक ही सुनता है या उसका साध्य-रूप प्रियतम।[3]

कबीर मे विरह के कुछ अधिक भावात्मक-चित्र भी मिलते हैं। ऐसे स्थानो पर उन्होने दाम्पत्य प्रतीको का प्रयोग किया है। उन्होने अधिकतर साधक को प्रियतमा या पत्नी और साध्य को प्रियतम अथवा पति रूप मे ही कल्पित किया है।

---

१ विरह भुअगम पैसि कर किया कलेजे घाव।
साधु अंग न मोडही, ज्यो भावै त्यो खाय॥

कबीर ग्रथावली पृ० ६

२. यह तन जालूं मसि करूं ज्यो धूंवा जाय सरग्गि।
मति वै राम दया करै बरसि बुझावै अग्गि॥

कबीर ग्रन्थावली पृ० ६

३ सब रग तांत रबाव तन विरह बजावै नित्त।
और न कोई सुनि सकै कै सांई कै चित्त॥

कबीर ग्रन्थावली पृ० ६

इस प्रकार के दाम्पत्य-प्रतीकों के सहारे अभिव्यक्त विरह-चित्रों में एक विचित्र माधुर्य पाया जाता है। इनसे कबीर के रहस्यवाद का मूल्य बहुत बढ़ गया है। यहाँ पर इस कोटि के कुछ मधुरतम-चित्रों का संकेत कर देना अनुपयुक्त न होगा।

अश्रुओं का विरह-वेदना में बहुत बड़ा महत्त्व है। फारसी काव्य-शास्त्र में इसीलिए विरह की नौ अवस्थाओं में इसे भी स्थान दिया गया है। हमारे यहाँ इसकी गणना सात्विकों के अन्तर्गत की गई है। हिन्दी के छायावादी कवियों ने इन्हें जीवन की अनुपम निधि माना है। "जीवन की यह अनुपम निधि" रहस्यवादियों का सब कुछ है। महात्मा कबीर ने भी विरहिणी की साश्रु अवस्था के मार्मिक चित्र चित्रित किए हैं। एक चित्र है कि विरहिणी ने रो-रो कर अपनी आँखें लाल कर ली हैं। यह लालिमा प्रियतम के प्रेम का प्रतीक है। किन्तु संसार वाले इस रहस्य को नहीं समझते। वे सोचते हैं कि कबीर की आँखें दुखने आई हैं। वास्तव में बड़ी विडम्बना है।[1]

इसी साश्रु अवस्था का वर्णन उन्होंने एक दूसरे प्रकार से किया है। नेत्रों से हर समय जल-धार प्रवाहमान रहती है। इस बात को कवि ने रहट के दृष्टान्त से बड़े प्रभावपूर्ण ढंग से कह दिया है। साथ ही साथ पिय-पिय की रटन को पपीहे की वाणी से सम्बद्ध कर विरह का जीता-जागता चित्र प्रस्तुत किया है।[2]

---

१ आखडियां प्रेम कसाइयां लोग जानै दूखड़ियां।
सांई अपने कारणें रोई रोई रातड़ियां॥

कबीर ग्रंथावली पृ० ६

२ नैना नीझर लाईया रहट बहै निसि जाम।
पपिहा ज्यों पिव-पिव करें कबहु मिलेंगे राम॥

कबीर ग्रंथावली

इसी प्रकार विरह की अन्य अवस्थाओं के सरल वर्णन भी मिलते हैं। संस्कृत-काव्य-शास्त्र मे वर्णित विरह की अवस्थाओ मे सर्वप्रथम अभिलाप' आती है। कबीर में इन अवस्था के भावपूर्ण-चित्र मिलते हैं। विरही की सबसे सात्विक अभिलाषा अपने प्रियतम के दर्शन की होती है। दर्शनो के लिए व्याकुल प्रियतमा कल्पना और भावना मे ही अपने प्रियतम के दर्शन करती है। अपने दर्शन की पिपासा को इसी प्रकार शान्त करती है। कबीर ने एक स्थल पर अपनी कामना प्रगट करते हुए लिखा है कि "मैं अपने नेत्रों को अन्तर्मुखी करके सदैव तेरे दर्शन करता रहूँ, यही मेरी कामन है'। 'न जाने वह शुभ-दिन कब आएगा जब कि मैं अपने प्रियतम के चिर-दर्शन कर सकूँगी।"[1]

दर्शन की अभिलाषा के सदृश ही मिलन की अभिलाषा भी बडी ही मार्मिक होती है। विरहिणी मार्ग की ओर ही ध्यान लगाए रखतीहै। जो पथिक आते हुए दिखाई पड़ते हैं उनसे प्रियतम का सदेश पूछती है– कि मेरे प्रियतम मुझसे कब आकर मिलेगे।[2]

इस प्रकार अभिलाषा के साथ-साथ प्रतीक्षा और आशा की अवस्था की ध्वनि भी मिलती है। फारसी काव्य-शास्त्र की दृष्टि से इसे हम "इन्तजारी" और "बेकरारी" की हालतो का मिला हुआ रूप कह सकते हैं।

विरह-जनित टीस एवं वेदना की भी अभिव्यक्ति कबीर में बडी ही भावात्मक-शैली मे हुई हैं। एक पद मे उन्होने लिखा है––

---

१ नैना अन्तरि आचरु निसि दिन निरखों तोहि।
कब हरि दर्शन देहुगे सो दिन आवै मोहि॥
कबीर ग्रंथावली पृ० ९

२ विरहिन ऊभी पंथ सिर पंथी बूझै धाय।
एक सबद कहि पीव का कबरु मिलेंगे आय॥
कबीर ग्रथावली पृ० ८

"मेरा हृदय अपने प्रियतम के दिव्य-विरह में तडफ रहा है । न तो दिन मे चैन है, और न रात नींद आती है । तड़फते ही तडफते ज्ञान का प्रभात हो जाता है । रहटे के समान सारा शरीर एवं मन डोलायमान हो रहा है । सूनी सेज पर ही जन्म व्यतीत होता जा रहा है । प्रियतम की प्रतीक्षा करते-करते नेत्र थक चुके हैं । अब हमें मार्ग भी दिखाई नहीं देता । वह प्रियतम बडा ही निष्ठुर है । उसने अभी तक हमारी सुधि नही ली , हे प्रियतम ! अब मेरी पीड़ा को आकर मिटा दो, अब विरह ने मुझे अत्यधिक व्याकुल कर दिया है" ।[1]

इसी प्रकार एक दूसरे पद में भी देखिए । विरह जनित व्यथा की कथा कैसे मार्मिक ढंग से कही गई है। विरहिणी प्रियतम से कहती है- "नाथ ! सब कोई मुझे तुम्हारी पत्नि कहते हैं किन्तु तुम मेरी रत्ती-भर भी चिन्ता नही करते । मैं तुम्हारे विरह मे क्षीण होती जाती हूं । प्रियतम प्रियतमा का संबंध ही कैसा जब दोनों मिलकर एक नहीं हो जाते ।"[2]

---

१ तलफ़ै बिन बालम मोर जिया ।
दिन नहिं चैन रात नहीं निदिया, तलफ तलफ के भोर किया ।
तन-मन मोर रहट अस डोले सून सेज पर जनम लिया ।।
नैन थकित भए पंथ न सूझै सांई बेदरदी सुध न लिया ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो हरो पीर दुःख जोर किया ।।
कबीर ग्रन्थावली

२ बालम आओ हमारे गेह रे ।
तुम बिन दुखिया देह रे ।।
सब कोई कहै तुम्हारी नारी ।
मोको है सन्देह रे ।।
एक मेक ह्वै सेज न सोवै ।
तब लग कैसा नेह रे ।। कबीर ग्रन्थावली पृ० १९२

कवीर का लक्ष्य अलौकिकता की आड में लौकिकता का वर्णन करना नही था। यही कारण है कि इतने मधुर-चित्र चित्रित करते हुए भी वे यह बात नही भूलते कि वे एक भक्त हैं। इनका लक्ष्य अपने भगवान के दर्शन प्राप्त करना है। उन्होने लिखा है--"मैं कब अपने प्रेमी राम को देखूँगी। उसके अभाव में मेरा शरीर पीडित हो रहा है। मैं तेरा पथ निहार रही हूँ। हे अन्तर्यामी ! तुम कब आकर मिलोगे। जिस प्रकार बिना जल के मछली तडफा करती है। उसी प्रकार मेरा हृदय हरि के अभाव मे तडफ रहा है। मुझे रात-दिन हरि के बिना नीद नही आती। मैं तो राम के दर्शन की प्यासी हूँ। उनके दर्शन के बिना मुझे चैन नही हो सकता। हे राम ! अब विलम्ब न करो। मुझे अपना समझ कर शीघ्र दर्शन दो'।[1]

आत्मा किस प्रकार संसार में आकर सांसारिक बन्धनों में बँध जाती है। उसे यह स्मरण ही नही रहता कि उसको अपने प्रियतम से मिलना भी है। इस बात को कबीर ने विवाह के रूपक से बडी ही गूढ़ भावात्मक-शैली में इस प्रकार व्यक्त किया है—

आत्मा रूपी प्रियतमा कहती है—

---

१ कब देखूं मेरे राम सनेही।
जा बिन दुःख पावै मेरी देही॥
हूं तेरा पंथ निहारूं स्वामी।
कबरु मिलिहुगे अन्तर्यामी॥
जैसे जल बिन मन तलफै।
ऐसे हरि बिन मेरा जिया कलपै॥
निस दिन हरि बिन नींद न आवै।
दरस पियासी राम क्य सचुपावै॥
कहै कबीर अब विलम्ब न कीजै।
अपनो जानि मोहि दर्शन दीजै॥ कबीर ग्रन्थावली

में शरीर धारण करके इस संसार रूपी ससुराल में प्रियतम-मिलन को आई थी। किन्तु मेरी प्रियतम मिलन की कामना पूर्ण नहीं हुई। मेरा जीवन स्वप्न के समान व्यतीत हो गया। प्रियतम से गठबंधन के स्थान पर संसार से गठबंधन होगया। संसार रूपी ससुराल में लाकर प्रियतम से मिलाने के लिए पंच-तत्त्व रूपी पांच व्यक्तियों ने आयोजन किया। तीन गुणों ने मिलन की व्यवस्था की। विवाह के इस शुभ अवसर पर जगत की अन्य आत्माओं रूपी सखियों ने मंगलाचार-गान किया था। सुख-दुख रूपी हल्दी माथे पर लगायी। इस प्रकार नाना प्रकार के सांसारिक सुख-भोगों के साथ भांवरें फेरी गईं। हमारे पूर्व जन्म के कर्म रूपी बाबा ने इस प्रकार हमारा गठ-बंधन किया। हमारा यह सारा विवाह-कर्म बिना पति के ही सम्पन्न हुआ। हमारी तृष्णा रूपी माता ने विवाह का चौक पूरा। हमने अपने प्रियतम के दर्शन कभी नहीं किये। अब मैं प्रियतम की विरह साधना रूपी चिता में अपने को जला रही हूं। जब मैं अनहद-नाद रूपी तुरही बजा कर इस संसार को पार करूंगी और अपने वास्तविक पति को प्राप्त करूंगी।[1]

---

१ मैं सासने पीव गौहिन आई।
साई संग साध नहीं पूजी, गयो जीवन सुपिना की नाईं ।।टेक।।
पंच जना मिलि मंडप छायो, तीन जना मिलि लगन लिखाई।
सखी सहेली मंगल गावैं, सुख-दुःख माथे हलद चढ़ाई ।।
नाना रंगै भावरी फेरी, गांठ जोर बाबै पति ताई।
पूरि सुहाग भयो बिन दूलह, चौक के रंग धरयो सखी माई।
अपने पुरिख मुख कबहुं न देख्यो, सती होत समझी समझाई।
कहै कबीर हूं सर रचि मरहूं, तिरौं कंत ले तूर बजाई।
कबीर ग्रंथावली

इस प्रकार कबीर के रहस्यवाद में विरह की विविध रूपी अभिव्यक्तियाँ पाई जाती हैं। उनके विरह-वर्णन के भावात्मक-चित्रों से उनके रहस्यवाद का मूल्य बहुत बढ़ गया है।

आध्यात्मिक-युद्ध—विरहोदय के साथ-ही युद्ध की अवस्था भी प्रारम्भ हो जाती है। माया और उसका समाज ही साधक की आंशिक अनुभूति की अवस्था को शाश्वत अनुभूति की स्थिति नहीं बनने देता। इसीलिए साधक इनको अपना कट्टर शत्रु समझने लगता है। इसके विरुद्ध युद्ध करना उसके जीवन का लक्ष्य हो जाता है। इस युद्ध में सूर साधक ही सफल होता है। ऐसा साधक जीवन-मरण को समान समझकर युद्ध-क्षेत्र नहीं छोड़ता, चाहे फिर वह टुकड़े-टुकड़े होकर नष्ट क्यों न हो जाए।[1]

इस अवस्था में साधक के हृदय में साध्य के प्रति किसी प्रकार के संशय शेष नहीं रह जाते हैं। हरि में उसकी पूर्ण निष्ठा हो जाती है। इस प्रकार वह निश्चिन्त होकर काम-क्रोधादि शत्रुओं से युद्ध करने में संलग्न हो जाता है। फिर उसे यह सोचने की आवश्यकता नहीं रहती कि यह युद्ध-क्षेत्र कितना विस्तृत बना हुआ है।[2]

सच्चा साधक रूपी सूर व्यर्थ के प्रदर्शन में विश्वास नहीं करता। प्रदर्शन की प्रवृत्ति तो कायर रूप झूठे साधक में होती है। सच्चे

---

१ सूरा तबहि समझिए लडै धनी के हेत।
पुरजा-पुरजा ह्वै पडै तऊ न छाडै खेत॥
खेत न छाडै सूरिवां, झूझै द्वै दल माँहि,
आशा जीवन मरण की मन में आनै नाँहि॥

कबीर ग्रंथावली पृ० ६६

कबीर मेरे संसा को नहीं हरि सूं लागा हेत।
काम क्रोध सू जूझणा चौडै माड्या खेत

कबीर ग्रन्थावली पृ० ६८

साधक रूपी सूर की साधना रूपी शक्ति का परिचय तो उसके कार्यों से ही मिलता है ।[1]

ऐसे सूर साधक को मृत्यु भी प्यारी लगने लगती है । वह कहता है कि जिस मरने से सारा संसार डरता है उसी मृत्यु को पाकर मैं प्रसन्न होता हूँ । मुझे तो सदा यही कामना रहती है कि कब मैं मरूं और कब परमानन्द को प्राप्त करूँ । उसे इस जीवन में परमानन्द प्राप्त करना सम्भव नही दिखाई देता ।[2]

इस-प्रकार काम क्रोधादि से युद्ध करते-करते वह उन पर विजय प्राप्त कर लेता हे । इसीलिए माया और काम-क्रोधादि सन्त से डरते हैं—

"सन्त की ढिठकी फिरै विचारी"

आत्म-समर्पण की अवस्था—इस प्रकार साधक एक ओर विरह की दैवी अग्नि में अपनी आत्मा परिष्कृत करता है और दूसरी ओर इन्द्रियों से युद्ध करके उन पर विजय प्राप्त कर लेता है । अब वह आत्म-समर्पण प्रपत्ति और न्यास के मार्ग को अपनाता है । पूर्ण समर्पण के बिना प्रियतम से मिलन नही होता । सम्भवतः इसीलिए हमारे धार्मिक साहित्य में प्रपत्ति को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है कि "वाल्मीकि रामायण" में लिखा है—

---

१ कायर बहुत पमावहीं, बहकि न बोलै सूर ।
काम पडा ही जाणिए किसके मुख पर धूर ।।

कबीर ग्रन्थावली पृ० ६६

२ जिस मरने ते जग डरै सो मेरे आनन्द ।
कब मरिहों कब देखिहों पूरन परमानन्द ।।

कबीर ग्रन्थावली पृ० ६६

"केवल एक बार मै शरणागत हूँ" ऐसा कहने पर मैं जीव को अभय कर देता हूँ । ऐसी मेरी प्रतिज्ञा है ।[1] श्रीमद्भगवद्गीता मे भी भगवान् ने इसी भाव को इस प्रकार प्रतिध्वनित किया है—

"हे प्राणी ! तू सर्व-धर्मों का परित्याग करके एक मात्र मेरी शरण का आश्रय ले । मैं तुम्हे सभी पापो से मुक्त करके निस्सन्देह मुक्ति प्रदान करूँगा ।"[2]

महात्मा कबीर शरणागति या प्रपत्ति के इस महत्व से पूर्णतया परिचित थे । उन्होने अपने प्रियतम के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण कर दिया था । उन्होने दूसरो को भी यही उपदेश दिया है कि "हे प्राणियो ! तुम समस्त मन के भ्रमों को त्याग कर केवल ईश्वर की शरण मे जाओ और उसी के नाम का जाप करो ।"[3]

आत्म-समर्पण के भाव की पराकाष्ठा उस समय दिखाई पडती है, जब वे अपने को राम का गुलाम कहते हैं और अपना तन-मन-धन उन्हें सौंपते हुए कहते हैं—"मैं राम का गुलाम हूँ । मैं स्वामी के विक्रयार्थ हूं । मेरा तन-मन और धन केवल राम के लिये है ।" [4]

---

१ सकृदेव प्रकृपन्नाय तवास्मीति याचते ।
अभय सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥ वाल्मीकि रामायण

२ सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः ॥ गीता

३ कहत कबीर सुनहु रे प्रानी छोडहु मन के भरमा ।
केवल नाम जपहु रे प्रानी परहु एक की सरना ॥
कबीर ग्रंथावली

४ मैं गुलाम मोहि बेचि गुसाईं ।
तन मन धन मेरा राम जी के ताईं ॥
कबीर ग्रन्थावली

अपनाव और प्राप्त्याशा—इस प्रकार आत्म-समर्पण कर देने पर प्रियतमा को प्रियतम अपना लेता है। भ्रमों और कर्मों के बंधन कट जाते हैं। प्रियतम बाँह पकड कर अपने समीप बुला लेता है।[1]

किन्तु यही पर मिलन नही हो जाता। कबीर भारतीय मर्यादावादी संत थे। अतः विना विवाह के मिलन दिखा भी कैसे सकते थे। अतः विवाह की तैयारी होने लगती है। प्राप्त्याशा की यह स्थिति वास्तव में वड़ी मधुर होती है। प्रेयसी अपने प्रियतम के लोक एवं उसकी अटारियों आदि की विविध-रंगी कल्पनाओं से विभोर हो उठती है। देखिए वह प्रियतम के लोक की मधुर कल्पना से पुलकित होकर कहती है—"हमे अपना पीहर अच्छा नहीं लगता। प्रियतम की नगरी परम सुन्दर है। वहाँ पर कोई आता जाता नहीं है।"[2]

इस साईं की नगरी के समान ही उसकी अटारियाँ भी वड़ी भव्य हैं। प्रियतमा की कल्पना उसे भी देखने के लिए व्याकुल रहती है। इस प्रियतम की ऊँची अटारी पर पहुँचने के लिए नाम की ही डोरी का मार्ग बना है। सूर्य और चन्द्रमा के दीपक इस मार्ग को जगमगाया करते हैं। प्रियतमा को फिर भी मार्ग नही दिखाई पड़ रहा। इस कारण वह मार्ग में भ्रमित हो गई।[3] अज्ञानता में साधक की यही दुर्दशा होती है।

---

१ वालपने के करम हमारे काटे जान दई।
बाँह पकरि करि कृपा कीन्ही आप समीप लैई॥ कवीर पदावली

२ नहरवा हमको नहि भावै।
साँई की नगरी परम अति सुन्दर जहाँ कोई आवै न जावै।
कवीर का रहस्यवाद पृ० ५८

३ पिया रे ऊँची अटरिया जरद किनरिया लगी नाम की डोरिया।
चांद् सुरज सम दियना, वरतु है ता विच भूली डगरिया॥
कवीर रहस्यवाद पृ० ५९

"पिया की ऊँची अटरिया" की कल्पना करते-करते वह प्रेयसी कुछ अधिक रहस्यात्मक हो जाती है और भँवर-गुफा की ओर संकेत करने लगती है। भँवर-गुफा का जो सुपुम्ना मार्ग है उसे उसने "झीनी गैल" या "सूक्ष्म मार्ग" कहा है। कल्पना मे ही वह उस झीनी-गैल से पिय की अटरिया तक डरते-डरते पहुँचने की चेष्टा करती है। बेचारी मुग्धा होने के कारण कुछ देर तो प्रियतम की प्रतीक्षा मे सकोच और लज्जा के भार से लदी हुई खड़ी रहती है, किन्तु क्षण भर मे वह आगे बढ़ने का फिर प्रयत्न करती है।[1]

इसी प्रकार कल्पना करते-करते वह सो जाती है तो क्या देखती है कि प्रियतम पास आगये हैं। उन्होने सोती हुई को जगा दिया। इतने मेही उसकी निद्रा भंग हो जाती है और वह बेचारी निराश हो जाती है।[2]

मिलन-क्षणों की कल्पनाएँ—इसी अवस्था मे विरहिणी की मिलन क्षणो की कल्पनाएँ भी आती हैं। वास्तव मे मिलन से मिलन की कल्पनाएँ अधिक मधुर होती हैं। भावुक कबीर इस प्रकार की कल्पनाएँ चित्र-रूप में चित्रित किये बिना नही रह सके। प्रियतमा सोचती है "कि प्रियतम आकर न जाने क्या करेंगे! इस भय से थर-थर काँपने

---

१ पिया की ऊँची अटरिया आस रहौं कब लौं खरी।
ऊँचे नहि चढि जाय मने लज्जा भरी॥
पांव नहि ठहराय चहुँ गिर गिर परु।
फिरि-फिरि चढ़हुँ सम्हारि चरन आगे धरूँ॥
अङ्ग-अङ्ग ठहराय तो बहु विधि डर रहूँ॥

कबीर ग्रन्थावली

२ सुनि सखि सुपने की गति ऐसी हरि आए हम पास।
सोवत ही जगाइया जागत भए उदास॥

कबीर ग्रन्थावली

लगती है । इसी कल्पना में उसके दिन-रात व्यतीत होते जा रहे हैं ।"[1]

साक्षात्कार की अवस्था—अन्त में साक्षात्कार और मिलन की स्थिति आती है। साक्षात्कार की अवस्था का वर्णन उपनिषदों में बड़े विस्तार से किया गया है। ये वर्णन दार्शनिक अधिक और साहित्यिक कम हैं। आत्मा का परमात्मा से साक्षात्कार होता है। हृदय की मोह-ग्रन्थियाँ विदीर्ण हो जाती हैं। सब संशय निर्मूल हो जाते हैं और कर्मजाल नष्ट हो जाता है।[2]

उपनिषदों के सदृश कबीर ने भी साधक और साध्य के मिलन होने पर साधक के तापों को नष्ट हो जाना मना है। उनका विश्वास था कि साक्षात्कार होते ही साधक का जीवन आनन्दमय हो जाता है। तदनन्तर साधक रात-दिन सुख के सागर में निमग्न रहने लगता है।[3]

किन्तु इस कोटि के वर्णन काव्यात्मक एवं भावात्मक न होने के कारण रहस्यवादी कम और दार्शनिक अधिक कहे जाएँगे।

विवाह और मिलन—कबीर में साक्षात्कार और मिलन की अवस्था के भावपूर्ण चित्र भी बहुत पाए जाते हैं। यह चित्र दाम्पत्य प्रतीकों पर ही आधारित है। जैसा कि हम अभी कह चुके हैं। कबीर ने दाम्पत्य-प्रतीकों में भी पति-पत्नी के प्रतीकों को अधिक अपनाने को ही

---

१ थर-थर कम्पै बाला जीव, न जाने क्या करसी पीव।
रैनि गई मति दिन भी जात, भंवर गए बग बैठे आय॥

कबीर ग्रन्थावली

२ भिद्यते हृदय ग्रन्थि छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्मणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ पंचदशी

३ हरि संगति शीतल भया मिटी मोह की ताप।
निसि वासर सुख निधि लहा अन्तर प्रगटा आप॥

कबीर ग्रन्थावली पृ० १५

अधिक अपनाने की चेष्टा की है। वास्तव में इस प्रकार का चुनाव भारतीय संसकृति के अनुकूल भी था। भारत मे सदा से प्रणय क्षेत्र में मर्यादा को विधेय माना गया है। प्रियतमा और प्रियतम का सम्वन्ध मर्यादा के विरुद्ध माना जाता है। विवाह हो जाने पर यही सम्वन्ध पवित्र हो जाता है। कबीर भारतीय संस्कृति के संरक्षक सन्त थे। इसीलिए उन्होंने मिलन और साक्षात्कार के पूर्व विवाह की योजना दिखाई है। किन्तु यह विवाह साधारण मानवों के विवाह से भिन्न है। आत्मा और परमात्मा का मिलन साधारण हो भी कैसे सकता है? इसलिए कबीर ने असाधारण विवाह का वर्णन किया है। देखिए एक रूपक में कबीर से साधारण विवाह के समय का कैसा संश्लिष्ट चित्र खीचा है। 'आत्मा रूपी दुल्हन का अपने प्रियतम राम से परिणय होने वाला है। अतः अन्य आत्मा रूपी सखियां मिलनोत्सुक आत्मा रूपी दुलहिन से आनन्दित होसे के लिए कहती हैं। आज पति रूप मे रास स्वयं ही आत्मा रूपी दुलहिन के घर परिणय हेतु जा पहुँचे हैं। वे अकेले नहीं आंए हैं। साथ में लम्बी चौड़ी बरात भी लाऐ हैं। तैंतीस करोड़ देवता अठासी सहस्र ऋषि ही बराती हैं। ब्रह्मा जी संस्कार सम्पन्न कराने के लिए पुरोहित बन कर आए हैं, इत्यादि। इससे अधिक दिव्य और असाधारण परिणय हो भी क्या सकता है।[1]

---

१ दुलहिन गावहु मंगलाचार।
हम घर आए हो राजा राम भरतार॥ टेक
तन रति करि मै मन रत करहुँ पंच तत्त बराती।
रामदेव मोरे पाहुन आए, मै जोवन मदमाती॥
सरीर सरोवर वेदी करिहूँ, ब्रह्मा वेद उचार।
रामदेव संगि भांवरि लेहूँ धनि-धनि भाग हमार।
सुर तैंतीस कोतिग आए मुनिवर सहस अठासी। कबीर ग्रंथावली
कहै कबीर हम ब्याहि चले हैं पुरुष एक अविनासी॥ पृ० ८७

विवाह के पश्चात् सुहाग रात आती है। नायिका सोलह शृंगार करती है—

"किया सिगार मिलन के ताईं।"

शृगार कर लेने पर भी प्रिय के पास सहसा जाने का साहस नही होता। लज्जा और संकोच उसे आगे नही बढने देते। इसलिए वह सोचने लगी—"मैं प्रियतम से मिलने की आशा में कब तक खडी रहूँ। पति का शयनागार ऊपर स्थित है। लज्जा के कारण वहाँ चढने का साहस नही है। वहां चढने के लिए पैरों मे पर्याप्त बल दिखाई नही देता। इस कारण बार-बार गिर पडती हूँ। मुझसे चढा नहीं जाता। ज्यो-त्यो कर बार-बार साहस कर आगे कदम बढाती हूँ। कर्म रूपी किवाड मार्ग बन्द किए हुए हैं। मैं कब तक इस भ्रम मे पडी रहूँ।"1

नायिका नवोढा और अज्ञाता है। अतः वह बेचारी मिलन को कठिन जानकर डरती भी है। इस कारण वह सोचती है—"पति से मिलना बडा कठिन है। मैं किस प्रकार पति से जाकर मिलूँ। यद्यपि मैं बार-बार यत्नपूर्वक पग आगे बढाती हूँ किन्तु चल नही पाती। बार-बार पैर फिसल जाता है। मार्ग बडा ही रपटीला है। उनके निवास का स्थान ऊँचा है। उस मार्ग मे पैर भी नही टिकता। लोक-लज्जा और कुल-मर्यादा का ध्यान आते ही मन में संकोच होने लगता है। पीहर मे रहकर अपनी लज्जा का त्याग करना कठिन हो रहा है।

---

१ पिया मिलन की आस रहौ कबलौं खरी।
ऊँचे नहि चढ़ि जाय मने लज्जा भरी॥
पांव नहि ठहराय चढूं गिर गिरि परूँ।
फिरि-फिरि चढ़हुं सम्हारि चरन आगे धरूँ॥
अङ्ग-अङ्ग ठहराय तो बहुविधि डरि रहूँ।
करम कपट मग घेरि तो भ्रम में परि रहूँ॥

कबीर ग्रन्थावली

पति का महल भूमि से सर्वथा पृथक् है। वहाँ पर चढ़ा नहीं जाता।"[1]

संकोच करते-करते नायिका अपने प्रियतम तक पहुँच जाती है। प्रियतम तक पहुँचने पर प्रियतम से उसका साक्षात्कार नही हो पाता। उसका घूँघट दोनों के प्रत्यक्ष-मिलन में बाधक है। अतः सखियाँ उसके घूँघट को उघाडने का उपदेश देती हैं—

"तोको पीव मिलेंगे घूँघट का पट खोल रे।"

अन्त मे घूँघट का पट खुल ही जाता है और प्रियतमा प्रियतम से सुहाग प्राप्त करती है। वह आनन्द-विभोर होकर कह उठती है—"बहुत दिनों के बाद प्रियतम को मैने प्राप्त किया है। यह मेरा परम-सौभाग्य है कि मुझे प्रियतम घर बैठे ही प्राप्त हो गए। निरन्तर मंगलाचार मे मन लगाने से तथा जिह्वा से राम-रूपी रसायन का आस्वादन करने से मन-रूपी मन्दिर में ज्ञान-रूपी प्रकाश आच्छादित हो गया जिसके फलस्वरूप आत्मा-रूपी दुलहिन को परमात्मा रूपी पति के दर्शन हो सके। यह दुलहिन का परम सौभाग्य है कि उसे अनन्त सुख-सौभाग्य-राशि रूप परमात्मा प्राप्त हो गया। वास्तव मे दुलहिन ने इसके लिये कुछ उपचार नही किया अपितु स्वयं राम ने ही कृपा करके इस दुलहिन को अचल सुहाग प्रदान किया।[2]

---

१ मिलना कठिन है कैसे मिलौंगी पिय जाय।
समुझि सोच पग धरौं जतन से बार-बार डिग जाय॥
ऊँचो गैल राह रपटीली पाँव नहीं ठहराय।
लोक लाज कुल मरजादा देखत मन सकुचाय॥
नैहर वास बसा पीहर मे लाज तजी नहि जाय।
अधर भूमि जहाँ महल पिया का हम पर चढ़ौ न जाय॥

कबीर ग्रन्थावली

२ बहुत दिनन थे पीतम पाए।
भाग बड़े घर बैठें आए॥ टेक॥

इस सुहाग के अवसर पर भी कबीर भारतीय-संस्कृति की मर्यादा को नही भूल पाये हैं।

नायिका सुहाग के अवसर पर अपने प्रियतम के चरणों को पकड़ कर प्रेम को शाश्वत बनाने का आग्रह करती है—हे प्रियतम ! अब मैं तुम्हें नही जाने दूँगी। जिस प्रकार तुम सन्तुष्ट हो सको, उसी प्रकार तुम हमारे बनो। मेरा परम सौभाग्य है कि मैंने चिरकाल के पश्चात् अपने प्रियतम को पा लिया है। यह उससे भी बढ कर सौभाग्य की बात है कि मुझे अपने प्रियतम के दर्शन घर बैठे हो हो गये हैं। हे प्रियतम मैं चरणो मे प्रीति रखते हुये तुमसे निवेदन करती हूँ कि तुम जिस प्रकार हो सके इस मेरे प्रेम को स्थिर बना दो। तुम भूलकर भी पुनः भ्रमित होकर मेरे प्रेम को मत भूल जाना अपितु सदैव इस मन-मन्दिर मे अपना स्थान बनाये रहना।[1]

मिलन के मधुर-रस का अनुभव कर लेने पर नायिका उस रस के बिना रह ही नही पाती। वह हर समय उससे सुहाग प्राप्त करने के लिए व्याकुल रहती है। इसी कारण वह कहती है—"हे पति ! अब

मंगलचार माँहि मन राखौ, राम रसायन रसना चाखौ।
मन्दिर माँहि भया उजियारा, ले सूती अपना जीव पियारा॥
मैं रनि रासी जे निधि पाई, हमहिं कहा यह तुमहिं बड़ाई।
कहै कबीर मैं कछु नहिं कीन्हा, सखी सुहाग राम मोहि दीन्हा॥

कबीर ग्रन्थावली

१ अब तोहि जानि न देहौं राम पियारे।
ज्यूँ त्यूँ होऊ हमारे॥ टेक॥
बहुत दिन के बिछुरे हरि पाए, भाग बड़े घर बैठे आए।
चरनन लागि करौं बरि आई, प्रेम प्रीति राखौं, अरुझाई।
इस मन मन्दिर रहौ नित चोखे, कहै कबीर परहु मत धोखे॥

कबीर ग्रन्थावली

शय्या की ओर चलो। यह आँखें अलसाने लगी हैं। यह आत्मा-रूपी नायिका खम्भा पकड़ कर डोल रही है जिस प्रकार दीपक के चारों ओर पतंग डोलता है। वह बार-बार मधुर-वाणी से प्रियतम को रिझाने का प्रयास करती है और कहती है–'हे पति ! यह फूलों की शय्या तुम्हारे शयन के लिये बिछाई गई है। तुम्हारे अभाव में यह शय्या कुम्हलाने लगी है।' उसे लोक लज्जा का भी भय है। इस कारण वह अपने पति को संबोधित करके कहती है कि तुम धीरे-धीरे कदम बढ़ाते हुए शय्या पर आओ। ऐसा न हो कि कहीं ननन्द या जिठानी जाग जायें और फिर हमारे आनन्दोल्लास में विघ्न पड़े।"[1]

सेज पर पहुँच जाने पर भी नायिका स्वयं पहिले नही मिलती। भारतीय-मर्यादा ऐसा ही कहती है। सकोच की पराकाष्ठा तो यह है कि एक ही शय्या पर प्रियतम-प्रियतमा विश्राम करते हैं। किन्तु प्रियतमा प्रियतम से मिलना तो दूर रहा, उसे देखती भी नहीं है—

"सेजै रहूँ नैन नही देखौं,
वह दुःख कासौ कहूँ हो दयाल ॥"

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने आध्यात्मिक-मिलन की अभिव्यक्ति दाम्पत्य प्रतीकों के सहारे कितने सुन्दर ढंग से की है। वास्तव मे इन वर्णनों के कारण उनका अनुभूतिमूलक रहस्यवाद इतना मधुर मालूम पड़ता है।

---

१ ये अँखियाँ अलसानी पिय हो सेज चलौ।
खम्भा पकरि पतंग अस डोले बोले मधुर वानी।
फूलन सेज बिछाय जो राख्यो पिया बिना कुम्हलानी ॥
धीरे पाँव धरो पलंगा पर जागत नन्द जिठानी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो लोक लाज बिछलानी ॥

कबीर रहस्यवाद पृ० ५७

तादात्म्य की अवस्था—यहाँ पर एक प्रश्न उठ खड़ा होता है। वह है कि क्या कभी इस मिलन में पूर्ण तादात्म्य भी स्थापित होता है। इस सम्वन्ध में विद्वानों के मतानुसार सूफी रहस्यवादियों को कभी पूर्ण तादात्म्य नही प्राप्त होता। इस वर्ग के विद्वानों के मुखिया निकलसन साहब हैं। इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "Idea of personality in Suficism" में इस मत का सतर्क प्रतिपादन किया है। इसके प्रमाण मे वे जलालुद्दीन रूमी की निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं। इन पंक्तियों में तादात्म्य की नीर-क्षीर के दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है :—

"तुम्हारी मधुर आत्मा से यह आत्मा इस प्रकार मिल गई है जैसे मदिरा से जल मिल जाता है। मदिरा और जल को अथवा मुझको और तुमको कौन अलग कर सकता है।"[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि सूफी रहस्यवादी पूर्ण तादात्म्य मे विश्वास करते थे।

भारत में अद्वैतवाद का सदैव ही बोल-बाला रहा है। अद्वैतवाद आत्मा और परमात्मा के पूर्ण तादात्म्य में विश्वास करते हैं। उनके इस विश्वास की अभिव्यक्ति भारत के भावुक रहस्यवादी सन्त कवियों मे भी दिखाई देती है। सन्त ज्ञानेश्वर ने तादात्म्य की परिस्थिति का चित्र इस प्रकार खीचा है—

"जब उसने साधना की कुटी में प्रवेश किया तो उसके शरीर की चेतना विलीन हो गई। उसका मस्तिक उन्मनावस्था में अवस्थित हो गया। समस्त सीमा के बंधन शिथिल हो गए। शब्द निश्शब्दता

---

1 With thy sweet soul this soul of mine,
Hath mixed as water doeth with wine,
who can the wine and water part,
Or me and thee when we combine.

—Rumi by Nicholson.

को प्राप्त हुये और उसने अपने स्वत्व को पहचाना। उसकी नेत्र-पुतलिकाओ की झिलमिलाहट ने दिन और रात के अन्तर को पहचानना भी बन्द कर दिया। समस्त विश्व एक प्रकाश मात्र रह गया। उसके कण-कण मे ईश्वर का आलोक जगमगाने लगा। उसके वरद सौन्दर्य की झिलमिलाहट से सारा ससार चकित हो उठा।"[1]

यह वर्णन होते हुए भी भक्त और भगवान के सम्बन्ध को बनाए हुए हैं। भारतीय रहस्यवादी ऐसे ही तादात्म्य मे विश्वास करते है। महात्मा कबीर ने भी तादात्म्य के जो वर्णन प्रस्तुत किए हैं वे बहुत कुछ इसी ढंग के है। निम्नलिखित साखियो से उनका तादात्म्य का सिद्धान्त पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। साधक और साध्य मे बूँद और समुद्र जैसा सम्बन्ध है। जिस प्रकार बूँद समुद्र मे जा कर समुद्र-रूप ही हो जाती है और फिर उसके अलग अस्तित्व को खोजना कठिन हो जाता है उसी प्रकार भक्त अपने व्यक्तित्व को भगवान मे इस प्रकार मिला देता है कि फिर दोनो मे कोई भेद नही रह जाता।[2]

---

1 When he has entered the santuary, his bodily consciousness was lost. His mind was changed to super mind. All sense of boundness than our reason came to a stand still. Words were metamorphosed into no words, and he saw his own self. His eye lashes ceased to twinkle distinction between night and day was gone. The whole universe was a light and was filled with resonance of God, was merged in an ocean of bliss and his beautification was effable.

—Mysticism in Maha Rastra, page 12

२ हेरत हेरत हे सखी रहा कबीर हिराय।
बुँद समानी समुद्र में सो कत हेरी जाय॥

कबीर ग्रंथावली पृ० १७

इसी बात को ध्यान में रखकर अंडरहिल ने लिखा है कि रहस्यवाद वास्तव में व्यक्तित्व का लोप करना है—

Mysticism indeed implies the abolition of individuality.

महात्मा कबीर में तादात्म्य के भावात्मक-वर्णन भी पाए जाते हैं। जब प्रियतम और प्रियतमा मिल जाते हैं तब फिर कोई भेद नहीं रह जाता। यदि प्रियतम मरेंगे तो फिर प्रियतमा भी मरेगी अन्यथा वह भी उसी के समान अमर रहेगी।[1]

हरि तो अमर और शाश्वत रूप हैं, फिर भला प्रियतमा ही क्यों मरेगी। इसीलिए वह कहती है कि "हम नहीं मर सकते चाहे सारा संसार मर जाए। हमे तो हमारा जिलाने वाला मिल गया है। फिर भला मृत्यु हमारे पास कैसे फटक सकती है ?"[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर पूर्ण तादात्म्य में विश्वास करते थे। उनका यह तादात्म्य तात्विक दृष्टि से पूर्ण अद्वैती था किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उनमें भगवान और भक्त के सम्बन्ध में बने रहने की ध्वनि निकलती है। वे कहते हैं कि राम और कबीर, भगवान और भक्त जब एक हो जाते हैं तब उन्हें कोई पहचान नहीं पाता। उनका भेद दूसरों को स्पष्ट नहीं हो पाता। उनमें जो भेद रहता है, उसे केवल भगवान और भक्त ही जानते हैं—

"राम कबीरा एक भए हैं कोउ न सकै पछाणि।"

सत्य की अखण्ड अनुभूति—यहाँ पर एक प्रश्न और विचारणीय है। वह यह कि क्या कबीर को सत्य के सौन्दर्य की सम्पूर्णता में

---

१ हरि मरिहैं तो हमहुँ मरिहैं।
हरि न मरै तो हम काहे को मरिहैं॥ कबीर ग्रन्थावली

२ हम न मरैं मरि है संसारा।
मिला हमहि को जियावन हारा॥ कबीर ग्रन्थावली

अनुभूति हुई थी या वे उसके किसी एक पक्ष का दर्शन करके रह गए थे।

कबीर की रहस्यानुभूति का मनोयोग से अध्ययन करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने सम्पूर्ण सत्य की सम्पूर्ण भावात्मक झाँकी देखी थी। उन्होंने स्वयं भी स्वीकार किया है कि उनका "परचा" पूरे से हुआ था। इस परिचय के हो जाने के बाद उनके समस्त दुःख दूर हो गए क्योंकि उस अखण्ड पूर्ण रूप ब्रह्म ने आत्मा को निर्बल बना दिया था।[1]

सत्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य को देखकर ऐसा स्वाभाविक है कि मौन आ जाय। कबीर ने उसके दर्शन सम्पूर्णता में किये थे किन्तु उसकी वर्णना में वे सर्वथा असमर्थ थे। इसीलिए उन्हें कहना पड़ा—'मैंने जिसे देखा है तथा जो कुछ देखा है उसका वर्णन कैसे करूँ! और यदि वर्णन करूँ भी तो मेरा कौन विश्वास करेगा। वास्तव में ब्रह्म तो जैसा है वैसा ही है। इसलिए हे साधक कबीर! तू मन में प्रसन्न होकर उसके गुणों का गान कर।"[2]

वास्तव में वह पूर्ण अद्भुत अनिर्वचनीय ही है। वेद और कुरान भी उसकी अनुभूति का रहस्य नहीं बता सकते। अतः यदि कबीर उसका कुछ वर्णन भी करें तो किसी को विश्वास ही नहीं होगा।[3]

---

१ पूरे सू परच्या भया सब दुख मेल्या दूरि।
निर्मल कीन्हीं आत्मा ताथै सदा हुजूरि॥ कबीर ग्रन्थावली पृ० ४

२ दीठा है तो कस कहूँ कह्या न कोइ पतियाय।
हरि जैसा तैसा रहो तू हरिखि हरिखि गुन गाइ॥
कबीर ग्रन्थावली पृ० १७

३ ऐसा अद्भुत जिनि कथै, अद्भुत राखि लुकाय।
वेद कुरानौ गमि नहीं कह्या न को पतियाइ॥
कबीर ग्रन्थावली पृ० १८

यदि उसका किसी प्रकार वर्णन करने का प्रयत्न भी किया जाय तो उसके तेज का कथन-मात्र किया जा सकता है। वह सैकड़ों सूर्यों की ज्योति से भी विलक्षण होता है। जो आत्मा रूपी सुन्दरी परमात्मा रूपी पति के साथ जागरण करती है, वही इस कौतुक को देख सकती है।[1]

साधक को जब रहस्य की अनुभूति अपनी सम्पूर्णता में होती है, तब फिर वह उसका वर्णन किसी एक ही ऐन्द्रिक अनुभूति के माध्यम से नहीं करता। वह अपनी रहस्यानुभूति की सम्पूर्णता व्यक्त करने के कारण सभी प्रकार की ऐन्द्रिक अनुभूतियों का आश्रय लेता है। कभी तो वह विचित्रातिविचित्र दृश्य देखता है; कभी वह मिलन और स्पर्श के मनोरम चित्र सामने लाता है। इसी प्रकार वह अपूर्व सुगन्धियों का वर्णन करता है। इस प्रकार वह सभी ऐन्द्रिक विषयों के माध्यम से उस रहस्यरूप प्रियतम का वर्णन करता है। कबीर ने अपनी रहस्यानुभूति को सम्पूर्णता में व्यक्त करने की कामना से विविध ऐन्द्रिक अनुभूतियों के सहारे उसका वर्णन किया है। महात्मा कबीर शब्दाद्वैतवाद में विश्वास करते थे। अत. उन्होंने अधिकतर रहस्यमय को विविध प्रकार की विचित्र ध्वनियों के सहारे अभिव्यक्त किया है। उन्हें उसकी अनुभूति कभी-कभी गगन के गर्जन के रूप में होती थी। उन्होंने कहा है—"उस शीतल सहस्रार-कमल में स्थित ब्रह्मरंध्र रूपी गगन में अनहद नाद रूपी बादलों की गर्जना सुनाई देती है तथा अमृत की वृष्टि होती है। वहाँ अखण्ड प्रकाश की किरणें दिखाई देती है। इस आनन्द का भागी कोई विरला सच्चा साधक ही होता है।"[2]

---

१ कबिरा तेज अनन्त का मानो ऊगी सूरजसेणि।
पति संग जागी सुन्दरी कौतिक दीठा तेणि॥ वही पृ० १२

२ गगन गरजि अमृत च्वै कदली कँवल प्रकास।
तहाँ कबीर बंदगी कै कोई निजदास॥ वही पृ० १५

योग से प्रभावित होने के कारण वे अनहद नाद के रूप में भी उसकी अनुभूति करते थे। इसका सकेत करते हुए उन्होने लिखा है—"सहस्रार-कमल के विकसि हो उठने के बाद वहाँ अखण्ड तेज प्रकाशित होता है। उस तेज के सम्मुख अज्ञान रूपी निशा का अन्धकार नष्ट हो जाता है। वहाँ अनहद-नाद सुनाई देता है।"[1]

यहाँ पर शब्द और रूप दोनों ऐन्द्रिक विषयो का मिश्रण करके उससे—रहस्यमय की अभिव्यक्ति की गई है। उसी प्रकार वे 'ज्ञान लहरी धुनि' सुनते है। शब्द रूप ब्रह्म का अनहद-नाद जब साधु को सुनाई देता है तो उसकी समस्त तृष्णा का नाश हो जाता है।[2]

कबीर ने अपने प्रियतम की अनुभूति सुगन्ध रूप में भी की थी। कस्तूरी की सुगन्ध सबसे अधिक तीव्र होती है। अतः उन्होंने उसका ही वर्णन किया है। वे लिखते हैं—"इस शरीर में जब प्रेम का प्रकाश विकीर्ण हुआ तो हृदय में ज्ञान रूपी प्रकाश फैल गया। मुख में जो कस्तूरी की सुगन्ध थी वह सुगन्धमयी वाणी के रूप मे फूट पड़ी।[3]

स्पर्शेन्द्रिय से सम्बन्धित उक्तियों की भी कमी कबीर में नही है। मिलन के चित्रों में स्पर्शमूलक अनुभूतियों का विचित्र आकर्षण भरा है। मिलन का यह एक छोटा सा चित्र देखिये—"आत्मा रूपी प्रियतमा परमात्मा रूपी प्रियतम को अंग में लपेट कर प्रेमपूर्वक मिल रही है। उसके मन में धैर्य को स्थान नही है। जब तक यह शरीर का बंधन नष्ट

---

१ कबीर कँवल प्रकासिया उपजा निर्मल सूर।
निसि अँधियारी मिट गई बागे अनहद नूर॥ वही पृ० १६

२ अवधू ज्ञान लहरि धुनि भांडी रे।
सबद अतीत अनाहद राता इहि विधि तृष्णा खाधी रे॥

३ पिंजर प्रेम प्रकासिया अन्तरि भया उजास।
मुख कस्तूरी महमही वाणी फूटी बास॥

कबीर ग्रन्थावली पृ० १३

नही हो जाता तब तक आत्मा की परमात्मा से भेंट नहीं हो सकती ।"[1]

इसी प्रकार "ले सूती अपना पीव पियारा" में भी स्पर्शजनित रहस्यानुभूति का ही कथन है। कबीर ने अपने प्रियतम की अनुभूति रस रूप में भी की थी। उनके राम रसायन की चर्चा हम पीछे बड़े विस्तार से कर चुके हैं। इसी प्रकार उन्होंने गगन-मण्डल के अमृत और बङ्क नालि के रस का वर्णन किया है। उन्होने लिखा है कि "गगनमण्डल मे रहने वाला साधु वहाँ पर सदा बरसने वाले अमृत-रस का पान करता है तथा सुषुम्ना की साधना के आनन्द को प्राप्त करता है।"[2]

इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर उन्होंने लिखा है—"मेरा मन मतवाला हो रहा है, वह उन्मनावस्था में पहुँच कर गगन-मण्डल पर अवस्थित है तथा वहाँ अमृत रस का पान करता है। तीनों लोकों में उसे प्रकाश ही प्रकाश दिखाई देता है।"[3]

कबीर की रूप सम्बन्धी अनुभूतियाँ भी बड़ी ही मधुर हैं। उन्होंने मानव रूप में प्रियतम की अनुभूति कम की थी। वे अधिकतर उसके दर्शन ज्योति रूप में करते थे या लालिमा के रूप में। इनके उदाहरण दूसरे प्रसंगो में दिये जा चुके हैं। यहाँ मैं इतना ही कहना चाहता हूँ

---

१ अंक भरे भर भेंटिया मन में नाहीं धीर।
कहै कबीर ते क्यूं मिले जब लग दोइ सरीर ॥
कबीर ग्रन्थावली पृ० १४

२ अवधू गगनमण्डल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै बङ्क नालि रस पीजै ॥
कबीर ग्रन्थावली पृ० ११०

३ अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मनि चढ्या गगन रस पीजै त्रिभुवन भया उजियारा ॥ पृ० १२

महात्मा कबीर ने अपने प्रियतम की अनुभूति सम्पूर्णता में की थी। इसीलिए उन्होंने ऐन्द्रिक विषयों के माध्यम से उसकी अनुभूतियाँ व्यक्त की हैं।

यौगिक रहस्यवाद

आत्म-दर्शन में योग—बृहदारण्यकोपनिषद् में आत्म-साक्षात्कार के साधनों का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:"

अर्थात् आत्मा का ही दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन से करना चाहिए। इस उद्धरण में श्रवण और मनन के सदृश निदिध्यासन को भी आत्म-साक्षात्कार का साधन माना गया है। निदिध्यासन ध्यान का पर्यायवाची कहा जा सकता है। यह भव्य योग-भवन का सप्तम सोपान है। इससे स्पष्ट है कि आत्म साक्षात्कार के साधनों में योग का बहुत बड़ा महत्व है। इसका उल्लेख "ऋग्वेद-संहिता" तक में किया गया है। उसमें एक स्थल पर इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है—परमात्मा हमारी समाधि के निमित्त अभिमुख हो, वह विवेक ख्याति रूपी धन तथा अतीतानागतादि अनन्त वस्तु-विषयक होने से व विधि बुद्धि ऋतम्भरा के उत्पादन निमित्त अनुकूल हो।[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि अध्यात्म क्षेत्र में योग की मान्यता सदा से रही है। योग का लक्ष्य भी वही होता है जो रहस्यवाद भक्ति आदि अन्य साधनों का। 'योग वाशिष्ठ' में लिखा है कि आत्मा और परमात्मा को मिलाने वाला साधन योग कहलाता है। योग के चार प्रमुख भेद माने गए हैं—

---

१ स घानो योग आभुवत सा रायेत .
पुरं ध्याम् गमद वाजेभिरास नः। - ऋग्वेद

योग के विविध भेद—१—हठयोग, २—राजयोग, ३—लययोग, ४—मन्त्रयोग। इनमें सबसे प्राचीन राजयोग या अध्यात्मयोग है। "कठोपनिषद्" में इसका इस प्रकार वर्णन किया गया है—"वह आत्मा जो इतना तेजस्वी है कि देखा नहीं जा सकता, गहन स्थान में प्रवेश किए हुए है; गुहा में बैठा हुआ और गह्वर में रहने वाला उसे अध्यात्म योग के द्वारा जानना चाहिए।"[1] यदि रहस्यवाद की अन्तर्मुखी प्रक्रिया से इसकी तुलना करें तो तुरन्त स्पष्ट हो जायगा कि वास्तव में अध्यात्म-योग एक प्रकार का अन्तर्मुखी रहस्यवाद है। रहस्यवाद का लक्ष्य भी इसी प्रकार सगुण और निर्गुण रूप देव के साथ एकाकार प्राप्त करना होता है। उपर्युक्त चारों प्रकार के योग वास्तव में उस "गुहाहितं गह्वरेष्ठ देवं" तक पहुँचने के चार प्रकार के शरीर, मन, बुद्धि और प्राणमूलक साधन हैं। हठयोग विशेष रूप से शरीर-साधना है। लययोग का सम्बन्ध विशेष रूप से मन से है। मंत्रयोग में बुद्धि की क्रिया प्रधान रहती है। राजयोग वास्तव में प्राण साधना का समन्वित रूप है। योगी इनकी साधना व्यष्टि रूप से भी करते हैं और समष्टि रूप से भी। "श्वेताश्वतर उपनिषद्" में इन सब समष्टिमूलक साधनाओं पर विशेष जोर दिया गया है। उसमें इस प्रकार लिखा है—

"शरीर की त्रिरुन्न अर्थात् छाती और सिर उन्नत और सम करके मन सहित इन्द्रियों को हृदय में नियत करके ब्रह्म-रूप नौका से विद्वान् सब भयानक प्रवाहों को उत्तीर्ण कर जाता है। इस शरीर में प्राणों का अच्छी तरह निरोध करके युक्तचेष्ट हो और प्राण के क्षीण होने पर नासिका-द्वारों से श्वास छोड़े और इन दुष्ट घोड़ों की लगाम मन को

---

२ तं दुर्दर्श गूढमनु प्रविष्टं।
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्॥
अध्यात्म योगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्ष शोकौ जहाति॥ कठोपनिषद्

विद्वान अप्रमत्त होकर धारण करे । ध्यान योग के सहारे से अत्यन्त गूढ़-सा जो आत्मा है उसे देखे ।[1]

उपनिषद् के इस यौगिक वर्णन में रहस्यवाद का भी पुट है । जब गूढ़ यौगिक-प्रक्रियाएँ साधनात्मक-रहस्यवाद का रूप धारण कर लेती हैं । वर्णनात्मक-शैली में लिखी गई यौगिक बातें रहस्यवाद नहीं मानी जा सकतीं । वे कोरी योग-साधना की निधि मानी जायेंगी । उपर्युक्त पांच प्रकार के योग-स्वरूपों का यहाँ पर यत्किचित् निर्देश कर देना आवश्यक है । सबसे प्रथम हठ-योग आता है ।

हठयोग और कबीर—हठयोग का साहित्य बड़ा विशाल है । इसका वर्णन योग-ग्रन्थों और तन्त्र-ग्रन्थों में तो विस्तार से हुआ ही है । अन्य धर्म-ग्रन्थों में भी इसके विस्तृत वर्णन मिलते हैं । इसकी सैकडों शाखाएँ प्रशाखाएं हैं उन सबका विस्तार से उल्लेख करना कठिन ही नहीं असम्भव भी है । अतः हम यहां पर हठयोग की उन्हीं बातों का संकेत करेंगे जिनको लेकर कबीर ने अपना साधनात्मक रहस्यवाद खड़ा किया है । हठयोग बहुत प्राचीन है । कहते हैं इसके आदि-पुरस्कर्त्ता मार्कण्डेय ऋषि थे । मध्ययुग में मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ ने इस योग-शास्त्र का फिर से पुनरुद्धार किया और इसकी प्रतिष्ठा अपने ढंग पर की । इसीलिए हठयोग दो प्रकार का माना जाता है । यथा—

---

१ त्रिरुन्नत - स्थाप्य समं शरीरं ।
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य ॥
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् ।
स्त्रोतांसि सर्वाणि भया वहानि ॥
प्राणान प्रपीड्येह संयुक्त चेष्टः ।
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत् ॥
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं ।
विद्वान् मनो धारयताप्रमत्तः ॥ श्वेताश्वतर उपनिषद्

"हठ योग दो प्रकार का होता है, एक तो गोरक्ष आदि साधकों के द्वारा प्रवर्त्तित किया हुआ और दूसरा वह जिसको मृकण्ड आदि के पुत्रों ने प्रतिष्ठित किया था।"[1]

महात्मा कबीर गोरक्ष आदि साधकों के हठयोग से प्रभावित हुये थे क्योंकि इनकी परम्परा मे इनका पूरा सम्बन्ध था। इस नवीन मत्स्येन्द्रनाथी-हठयोग का विवेचन गोरक्ष हता, गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह, सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति, सिद्ध-सिद्धान्त संग्रह, घेरण्ड संहिता, हठयोग दीपिका आदि ग्रन्थों में विस्तार से किया गया है। इनके अतिरिक्त इसका वर्णन तन्त्र-ग्रन्थों और बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में भी हुआ।

तान्त्रिकों और बौद्धो मे पहुँचकर इसने बहुत अधिक विकास पाया। विकसित होते-होते यह इतना जटिल हो गया कि स्वयं रहस्यमय बन गया। महर्षि मार्कण्डेय अष्टांग-योग को ही हठयोग मानते थे। किन्तु गोरक्षोपदिष्ट हठयोग के केवल ६ अंग माने गये हैं। यम और नियम हठयोग के अन्तर्गत नहीं लिये गये हैं। हठयोग का सबसे प्रमुख विषय है नाडी जय; इसका विकसित रूप कुण्डलिनी-शक्ति का है। योग-तंत्र ग्रन्थो में इसका बड़े विस्तार से विचार किया गया है। कबीर, नाथों, सिद्धों और तान्त्रिकों से एक समान प्रभावित थे। अतः इनमें नाड़ी-जय और कुण्डलिनी-शक्ति योग आदि की सूक्ष्मातिसूक्ष्म बात मिलती है। इन्होंने कल्पना, आलंकारिकता, और चित्रात्मकता के सहारे रहस्यमय बना दिया है। कुण्डलिनी शक्ति-योग में सबसे रहस्यपूर्ण-वर्णन चक्रों के हैं। हठयोगी प्रायः ६ चक्र ही मानते हैं, किन्तु तंत्र ग्रन्थों में ११ चक्रों तक की कल्पना की गई है। महात्मा कबीर ने इन चक्रों का बड़े ही रहस्यात्मक ढंग से बार-बार उल्लेख किया है। अतः अत्यन्त संक्षेप में हम यहाँ इन चक्रो और उनकी रहस्यात्मकता का परिचय देना आवश्यक

---

१ द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादि सुसाधकैः।
अन्योमृकण्ड पुत्रैः साधितो हठसंज्ञक ॥ अज्ञात लेखक

समझते हैं। चक्रों के रहस्य को समझने के लिए, नाड़ियों के रहस्य को समझने के लिए नाड़ियों की चर्चा कर देना आवश्यक है क्योंकि शरीर की प्रमुख नाड़ियाँ ही इन चक्रों को बाँधे हुए हैं। इन चक्रो से संबंधित सबसे प्रमुख नाड़ियां इड़ा, पिंगला, और सुषुम्ना नाड़ी को लपेटे रहती हैं। इड़ा बांई ओर होती है। उसका वर्ण शुभ्र होता, है। पिंगला सुषुम्ना के दाहिनी ओर होती है। यह रक्त-वर्ण की होती है। इड़ा को अमृत विग्रहा और पिंगला को रौद्रात्मिका मानते हैं। सुषुम्ना के मध्यभाग में वज्रा नाडी मानी है। वज्रा मे चित्रा नाडी अन्तर्निहित रहती है। इस चित्रा के मध्य में ब्रस नाड़ी होती है। सुषुम्ना नाड़ी अग्नि स्वरूपा मानी जाती है। वज्रा सूर्य रूपा कही गई है। चित्रा पूर्ण चन्द्र-मण्डल रूपा होती है। चित्रा नाड़ी ब्रह्म-द्वार कहलाती है क्योंकि कुण्डलिनी शक्ति इसी में से होकर ऊर्ध्वगामिनी होती है। सुषुम्ना में कुण्डलिनी तव प्रवेश करती है जव इडा, और पिंगला समगति से चलती हैं। योगी का लक्ष्य कुण्डलिनी शक्ति को सुषुम्ना के बीच से चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रार कमल तक ले जाना होता है। जव कुण्डलिनी सहस्रार् में पहुँच जाती है तव साधक को समाधि की स्थिति प्राप्त हो जाती है। इस समाधि की अवस्था को प्राप्त करने के पश्चात् योगी अमर हो जाता है। अव थोड़ा-सा चक्रों पर प्रकाश डाल देना चाहते हैं।

पहला चक्र मूलाधार के नाम से प्रसिद्ध है। यह पृथ्वी-तत्त्व का दर्शक माना जाता है। इसमें चार दल होते हैं। ब्रह्मदेव इसके देवता हैं उपर्युक्त चार दल प्राण शक्ति के सहारे उत्पन्न होते हैं। इन्हीं में कुण्डलिनी प्रसुप्त रहती है। कुण्डलिनी इसी चक्र के नीचे त्रिकोणात्मक रूप में स्वयं लिंग से साड़े तीन वलयों में आवर्तित सुप्तावस्था मे पड़ी रहती है। कुण्डलिनी द्वारा निर्मित इस त्रिकोण को त्रिपुर कहते हैं। जो योगी इस मूलाधार चक्र की साधना में सफल होता है उसे वाक्-सिद्धि

प्राप्त होती है । शिव-संहिता में स्पष्ट-रूप से इसका संकेत मिलता है ।[1]

दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र है । इस चक्र का रंग रक्तवर्ण माना जाता है; इसमे ६ दल हैं । ब भ म य र ल उनके संकेत अक्षर हैं । इस चक्र की स्वामिनी शाकिनी देवी मानी गई है । इसके देवता विष्णु हैं । तीसरा चक्र मणिपुर के नाम से प्रसिद्ध है । इसका रंग सुनहला होता है । इसमें दस दल हैं । उन दलों के संकेताक्षर ड ढ ण त थ द ध न प फ माने गए हैं । इसके देवता रुद्र हैं । इसकी अधिष्ठात्री देवी का नाम लाकिनी है । इस चक्र की साधना सफल होने पर पाताल नामक सिद्धि मिलती है । वह सर्वगतिमय हो जाता है । इसके बाद हृत्पद्म या अनाहत चक्र आता है । यह हृदय स्थल मे स्थित रहता है । इसमें बारह दल होते हैं । इसका वर्ण रक्त होता है । विश्वसारतन्त्र के अनुसार इस स्थान में उत्पन्न होने वाली अनाहत ध्वनि ही शिव रूप है । यही जीवात्मा का वास-स्थान माना गया है । इसकी साधना में सफलता प्राप्त करने पर साधक को खेचरी शक्ति मिलती है । इसके बाद कंठ पद्म या विशुद्धि चक्र है । इसमें सोलह दल होते हैं । इसके देवता अर्ध-नारी नरेश्वर हैं । इस चक्र का कुछ अंश शुभ्र होता है और कुछ स्वर्णिम रंग का । छठा चक्र आज्ञा चक्र है । इसमें दो दल होते हैं । इसका रंग श्वेत है । इसके दोनों ओर इड़ा पिंगला हैं । वही मानो वरुणा और असी हैं । इसीलिए योगियो में यह स्थान वाराणसी के नाम से प्रसिद्ध है । इसके देवता विश्वनाथ माने गए हैं । कहते हैं आज्ञा चक्र के त्रिकोण में अग्नि, सूर्य और चन्द्र तत्व रहते हैं । अव्यक्त प्रणवरूपी आत्मा का भी यही स्थान माना जाता है । इन सबके बाद सहस्रार चक्र आता है । इसमें एक हजार दल माने गए हैं । कहते हैं

---

१ यः करोति सदा ध्यानं मूलाधारे विचक्षणः ।
तस्य स्याहर्दुरी सिद्धिर्भूमी त्याग क्रमेणावै ॥ शिव संहिता

इसमें २० विवर होते हैं। इनमें-पचास-पचास मातृकाएँ मानी जाती हैं। इस प्रकार सहस्त्र दल हो जाते हैं। इस सहस्त्रार कमल का स्थान तालुमूल माना जाता है। इस तालुमूल में सुषुम्ना नाड़ी ने अधोमुखी होकर गमन किया है। यह कमल शुभ्रवर्ण तथा कुछ अरुण-रक्तवर्ण माना जाता है। इसे लोग अधोमुखी भी बतलाते हैं। इस सहस्त्रार कमल के कन्द देश मे एक पश्चिमोन्मुख त्रिकोण सा है। इस त्रिकोण में ब्रह्म-विवर सहित सुषुम्ना-मूल है। इस स्थान से मूलाधार पर्यन्त जो विवर है, वही ब्रह्म-रन्ध्र है। इसमें ६ छोटे-छोटे छिद्र होते हैं। इस रन्ध्र का रूप बिन्दु (०) के सदृश है। इसी ब्रह्म-रन्ध्र को दशम द्वार भी कहते हैं। इस ब्रह्म-रन्ध्र की साधना करने वाला ब्रह्मरूप हो जाता है।

इन षट्चक्रों के अतिरिक्त तन्त्र-ग्रन्थों में कई और चक्रों की भी चर्चा की गई है। आज्ञाचक्र के समीप एक मनःचक्र की कल्पना की गई है। उसमें ६ दल हैं। मनः चक्र के ऊपर एक सोम-चक्र बताया जाता है। उसके १६ दल बताए जाते हैं। आज्ञा-चक्र के समीप ही कारण शरीर से सम्बन्धित सात कोष हैं। इनके नाम क्रमशः इन्दु, बोधिनी, नाद, अर्ध-चन्द्रिका, महानाद, कला और उन्मनी हैं। कहते हैं इस उन्मनी कोष में पहुँचने पर पुनरावृत्ति नहीं होती है। शक्ति-सम्मोहन तंत्र में ९ चक्रों का उल्लेख किया गया है। किन्तु वे इनसे सर्वथा भिन्न हैं। उनके नाम क्रमशः सर्वानन्दमय, सर्वसिद्धि चक्र, सर्वरोगहर चक्र, सर्वरक्षाकार चक्र, सर्वार्थ साधक चक्र, सार्वभौम भाग्यदायक चक्र, सर्व संक्षोभणी चक्र, सर्वाशा परिपूर्ण चक्र, और त्रैलोक्य मोहन चक्र है। महानिर्वाण तन्त्र में चक्र तो नौ ही माने हैं किन्तु उनके आकार और नाम इनसे सर्वथा भिन्न हैं। कुछ लोगों ने नौ चक्रों के अन्तर्गत ऊपर कथित षट्चक्रों के अतिरिक्त श्री हाटगोल्लाट और त्रिकूट चक्र और माने हैं। हठयोग के अन्तर्गत विविध प्रकार के चक्रों के बड़े जटिल वर्णन आते हैं।

महात्मा कबीर पर हठयोग की चक्रभेदन-प्रक्रिया अथवा कुण्डलिनी-उत्थापन प्रक्रिया का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा था। उन्होंने चक्रों के बड़े ही रहस्यात्मक-वर्णन प्रस्तुत किए हैं। इनकी रचनाओं में इनके वर्णन भरे पड़े हैं। एक स्थल पर वह "मन के मोहन बीठुला" का वर्णन करते हुए कहते हैं—हे मन को मोहित करने वाले विष्णु, यह मन अब तुझमें लगा हुआ है। अब मेरा मन तेरे ही चरण-कमलों में अनुरक्त है। मुझे अब और कोई अच्छा नहीं लगता। तू षट्दल-कमल में निवास करता है। साधक कठिन साधना से तुझे प्राप्त कर पाता है।[1]

इसके आगे वे अष्टदल-कमल निवासी श्री रंग जी का वर्णन करते हुए कहते हैं—श्रीरंग अष्टदल-कमल के भीतर निवास करते हैं तथा क्रीड़ाएँ करते हैं। साधक अत्यन्त घोर तपस्या करने के उपरान्त ही वहाँ तक पहुँच पाता है। उस स्थान तक काल भी नहीं पहुँच सकता।[2]

इन पंक्तियों के उपरान्त ब्रह्मरन्ध्र का सूक्ष्म वर्णन किया गया है। उन्होंने लिखा है—सुषुम्ना मार्ग के अन्दर, पश्चिम दिशा के मार्ग से सदा अमृत झरता रहता है। उस भंवर गुफा के घाट पर रह कर अमृत-रस का पान करो।

---

१ मन के मोहन बीठुला यह मन लागो तोहि रे।
चरन कंवल मन मांनिया और न भावै मोहि रे॥
षटदल कमल निवासिया चहुँ को फेरि मिलाइ रे।

कबीर ग्रन्थावली

२ दहुं के बीच समाधियां, तहाँ काल न पासै आइ रे।
अष्ट कंवल दल भीतरा, तंह श्रीरंग केलि कराय रे॥
बंकि नाल के अन्तरे पश्चिम दिशा की बाट रे।
नाझर झरै रस पीजिए तहँ भँवर गुफा के घाट रे॥

कबीर ग्रन्थावली

ऊपर अभी हम जिस पश्चिमाभिमुख योनि-मण्डल का उल्लेख कर चुके हैं, आगे उसी का रहस्यात्मक चित्रण भी किया गया है। इस ब्रह्म-रन्ध्र में योगी को जिन रहस्यात्मक दृश्यों और स्वर-लहरियों का आभास मिलता है उनका रोचक चित्र खींचते हुए कबीर कहते हैं—"गगनमण्डल पर गरज-गरज कर मेघ उमड़ते हैं तथा अनन्त तारे दिखाई देते हैं। बिजलियाँ चमकती हैं तथा बादलों से वृष्टि होती है। उस अमृतमयी-वृष्टि से समस्त सन्त लोग सराबोर रहते हैं।"[1]

महात्मा कबीर ने ब्रह्मरन्ध्र में अनुभूत होने वाली विचित्र-विचित्र स्वर-लहरियों तथा लोकातीत दृश्यों का सैकड़ों प्रकार से वर्णन किया है। यहाँ पर उनमें से कुछ का निर्देश कर देना आवश्यक है। उनके "परचा" के अङ्ग में इस प्रकार के वर्णनों की भरमार है। कभी तो वे "कमल जो फूले जलह बिन", "देखा चन्द विहूणा चादणा" जैसे विभावनात्मक-दृश्य देखते हैं और कभी प्रियतम के महल में विश्राम करते हैं—

मुनि जन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम।

"अर्थात् मुनि-जन जिस विश्राम-स्थली को प्राप्त नहीं कर पाते उसी विश्राम-स्थली को योगी हठयोग के द्वारा प्राप्त कर लेता है।"

इस ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर केवल नेत्रेन्द्रिय ही तृप्त नहीं होती वरन् सुन्न में स्नान करके उनके शरीर को जी भर सन्तोष मिलता है।

"हद-छाड़ि बेहद गया, किया सुन्न असनान।"

अर्थात् इस ससीम-शरीर के बंधनों को त्याग कर जब साधक निस्सीम-परमात्मा की आराधना में लीन होता है, तभी उसे शून्य में

---

१ गगन गरज मघ जोइये तहँ दीसै तार अनन्त रे।
बिजुरी चमकि घन बरषि हैं तहँ भीजत हैं सब सन्त रे॥
कबीर ग्रन्थावली

स्थित ब्रह्म के दर्शन होते हैं। साथ ही साथ वह उस शून्य रूप ब्रह्म में स्नान भी करता है—

"जेहि सर घड़ा न डूबता मैंगल मलि मलि न्हाय।"

अर्थात् जिस ब्रह्म के अनन्त-प्रेम-रूप-सरोवर में जीव-रूप-घड़ा कभी नहीं डूबता, साधक उसी अपार-सरोवर मे स्नान करके तृप्त होता है।

यहाँ आकर साधक की रस-सम्बन्धी पिपासा भी शान्त हो जाती है क्योंकि यहाँ अमृत झरता रहता है।[1]

साधक यहाँ अनहद-नाद तथा अन्यान्य मधुर-स्वर-लहरियाँ भी सुनता है—

अनहद् बाजै नीझर झरै।

इस प्रकार ब्रह्म-रन्ध्र के रहस्यो को कबीर ने विविध प्रकार की ऐन्द्रिक अनुभूतियों के सहारे उद्घाटित किया है। सहस्रार-चक्र का वर्णन भी कबीर ने रूपकात्मक-शैली में किया है। हम ऊपर बता चुके हैं कि सहस्रार अधोमुखी होता है। कबीर ने उसका वर्णन अत्यन्त रहस्यात्मक ढंग से किया है, वे लिखते हैं—सहस्रार-रूपी कुआँ ब्रह्माण्ड-रूपी आकाश मे उल्टा लटका हुआ है। साधक की जीवात्मा-रूपी पनिहार मूलाधार-रूपी पाताल में स्थित है। उस कुएँ के पानी को कोई विरला हंस-रूपी साधक ही पान कर पाता है।[2]

हमने अभी जिस सुषुम्ना-मार्ग की चर्चा नाड़ियों के प्रसंग में की है, कबीर ने उसके भी रहस्यात्मक-वर्णन लिखे हैं। "सूषिम मारग"

---

१ गरजि गगन अमृत चुवै। — कबीर ग्रन्थावली पृ० १५
अमृत वरिसै हीरा निपजै। — कबीर ग्रन्थावली पृ० १६

२ आकासे मुखि औंधा कुवाँ पाताले पनिहार।
ताका पाणी को हंसा पीवै, विरला आदि विचार॥
कबीर ग्रन्थावली

के अंग में उन्होंने इसी का रूपकात्मक-शैली में वर्णन किया है—

"उस ब्रह्म का निवास-स्थान एक अत्यन्त उच्च शिखर पर है। वहाँ का मार्ग अत्यन्त ढालू और पर्वतीय है। वहाँ पर चीटी का भी पैर नहीं टिकता। लोग सांसारिकता-रूपी बैल को लाद कर वहाँ जाने का यत्न करते हैं, इसी कारण वे वहाँ नहीं पहुँच पाते।"[1]

इसी प्रकार एक और अन्य स्थल पर वे लिखते हैं—"उस मार्ग में चींटी भी नहीं चढ़ सकती और न वहाँ राई ही ठहर सकती है। वह मार्ग अत्यन्त संकीर्ण एवं सूक्ष्म है। वहाँ पर तो मन और वायु जैसे सूक्ष्मतम-तत्वों की भी पहुँच नही है। विरला ही कबीर जैसा साधक वहाँ पहुँच पाता है।"[2]

"वह मार्ग अत्यन्त अगम है। उस पर चढते-चढते मुनि लोग थक-थक कर बैठ जाते हैं। कबीर ने सद्गुरु की सहायता से उस मार्ग को चढकर पार करने में सफलता प्राप्त की थी।"[3]

सुषुम्ना का वर्णन कबीर ने चक्रों के प्रसंग में भी किया है। द्वादश-कमल की ओर संकेत करते हुए सुषुम्ना के उल्लेख का एक उदाहरण देखिए—

---

१ जन कबीर का सिखर घर बाट सलैली सैल।
पांय न टिकै पिपीलिका लोगन लादे बैल॥

कबीर ग्रन्थावली पृ० ३१

२ जहाँ न चींटी चढ़ि सकै और न राइ ठहराय।
मन पवन का गम नहिं तहं कबीर पहुँचे जाय॥

कबीर ग्रन्थावली पृ० ३१

३ कबीर मार्ग अगम है सब मुनि जन बैठे थाकि।
तहाँ कबीरा चल गया गहि सद्गुरु को साखि॥

कबीर ग्रन्थावली पृ० ३१

करते हैं।"[1]

इस प्रकार कबीर ने शुष्क यौगिक बातो को रूपकात्मक-शैली द्वारा वर्णित करके एक ओर तो अत्यन्त रहस्यपूर्ण बना दिया है और दूसरी ओर उनमे एक विचित्र रोचकता ला दी है।

हमने ऊपर आज्ञा-चक्र के समीपस्थ उन्मनी-कोष की चर्चा की है। कबीर ने उसका अनेक बार विविध प्रकार से प्रयोग किया है। इस उन्मनी-कोष मे पहुँच कर साधक की समाधि लग जाती है और वह अजर-अमर हो जाता है। कबीर ने इस उन्मनी-कोष को अपने घट के भीतर खोज लिया था। यही पर वह अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। यह बात निम्नलिखित पंक्ति से प्रकट है।

"उन्मनी ध्यान घट भीतर पाया।"

इस उन्मनी-अवस्था मे साधक अमृत-पान करता है और अमरता को प्राप्त करता है। उसके सम्मुख से अज्ञान का अंधकार हट जाता है और तीनो लोक प्रकाशमान दिखाई देने लगते हैं।[2]

चक्रो, सुषुम्ना-कोष आदि के रहस्यात्मक-वर्णनो के साथ-साथ योगी कबीर ने इला, पिंगला और त्रिकुटि आदि के रहस्यात्मक-वर्णन-

---

१ प्रेम भगति हिंडोलना सब संतनि को विश्राम ।।
चन्द सूर दुई खम्भवा बंक नालि की डोरि।
झूले पंच पियारियां तहँ झूले जिय मोर ।।
द्वादस गम के अन्तरा तहँ अमृत का वास।
जिनि यह अमृत चाखियां सो ठाकुर हम दास ।।
सहज सुनि को नेहरो गगन मँडलि सिरमौर।

कबीर ग्रन्थावली

२ अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मनि चढ्या गगन रस पीवै, त्रिभुवन भया उजियारा ।। टेक ।।

कबीर ग्रन्थावली

भी किये हैं। "इला, पिंगला, की भाटी बनाकर उसमें वे ब्रह्माग्नि प्रज्वलित करके अमृत की धारा चुवाते हैं। यह धारा ही उल्टी गंगा के जल का प्रभाव है।"[1]

इसी प्रकार त्रिकुटी के भी रहस्यमय-वर्णन मिलते हैं। "उस गगन-मण्डल रूपी सहस्त्रार के निकटवर्ती अमृत-रूपी-चन्द्र एवं प्राण-वायु का निरोध हो जाता है।[2]

"जब तक साधक त्रिकुटि-सन्धि को नहीं जानता जब तक सूर्य का चन्द्रमा से मिलन नहीं होता। जब तक साधक नाभि-कमल का परिशोध नहीं करता, तब तक सहस्त्रार-कमल में स्थित ब्रह्म को नहीं पहचान सकता।"[3]

त्रिकुटी पर त्रिवेणी की कल्पना भी बहुत लोक-प्रसिद्ध है। कबीर ने इस कल्पना की भी कई स्थानों पर अभिव्यक्ति की है। "मन इसी त्रिवेणी में स्नान करके निराकार और विनिर्मुक्त-ब्रह्म की प्राप्ति में सफल होता है[4]। इसी त्रिवेणी में स्नान करने पर सुरति को हस्तगत किया जा सकता है।"[5]

---

१ इला, पिंगला, भाटी कीन्ही ब्रह्म अगिनि पर जारी। कबीर
उलटी गंगा नीर बहि आया अमृत धार चुवाई॥ ग्रन्थावली

२ गगन ज्योति तँह त्रिकुटि सन्धि।
रवि ससि पवना मेलौ बंधि॥ कबीर ग्रन्थावली

३ जब लगि त्रिकुटि सन्धि न जानै,
ससि हर के घर सूर न आनै।
जब लगि नाभि कँवल नहिं सोधै,
तो हरि हीरा कैसे बेधै॥ कबीर ग्रन्थावली

४ त्रिवेणी करे मन मंजन।
जन कबीर प्रभू अलख निरंजन॥ वही

५ त्रिवेणी म्हं न्हवाइए सुरति मिले जो हाथि रे। वही

कबीर ने कुण्डलिनी के भी भावपूर्ण एवं रहस्यपूर्ण-वर्णन किये हैं। कही पर उन्होंने उसे नागिन कहा है और कहीं पर सर्पिणी। इस प्रकार के अभिधान उन्होने हठयोग-प्रदीपिका के अनुकरण पर दिए हैं। उसमें लिखा है कि "कुटिलांगी, भुजंगी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अरुन्धती—इतने शब्द कुण्डलिनी के पर्यायवाची हैं।"[1]

कबीर ने, इस सर्पिणी की महिमा को देखिए कितने भावात्मक ढंग से वर्णन किया है। कुछ लोग इसे माया का रहस्यात्मक-वर्णन भी मानते हैं। "यह सर्पिणी सर्वाधिक शक्तिमान् है। इससे अधिक शक्तिमान् और कोई नही है। इसी ने ब्रह्मा, विष्णु और महादेव को छल रखा है। सुषुम्ना नाड़ी के निर्मल जल में निवास करने वाली कुण्डलिनी रूपी सर्पिणी को मार देना चाहिए। गुरू के प्रसाद से साधक त्रिकालज्ञ होकर ही इसे मार सकता है। जिसने ईश्वर को पहचान लिया है उसके लिए सर्पिणी का कोई अस्तित्व नही है। वह तो सहज ही में सर्पिणी को मार देता है। कुण्डलिनी शक्ति से बढ़ कर और कोई सूक्ष्म पदार्थ इस संसार में नहीं है। जिसने इस कुण्डलिनी शक्ति को जीत लिया है उसका यम भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता। वह साधक तो अमर हो जाता है।"[2]

---

१ कुटिलांगी, कुण्डलिनि भुजंगी शक्तिरीश्वरी।
कुण्डल्यरुन्धती चेते शब्दा पर्यायवाचकाः। — हठयोग प्रदीपिका

२ सर्पनी ते ऊपर नहीं बलिया,
जिन ब्रह्मा विष्णु महादेव छलिया।
मारु मारु सर्पनी निर्मल जल पईठी,
जिनि त्रिभुवन ले गुरु प्रसाद दीठी॥
सर्पनी, सर्पनी क्या कहहु भाई,
जिन साचु पछान्या तिनि सर्पनी खाई।
सर्पनी ते आन छूछ नहि अवरा,
सर्पनी जीति कहा करे जमरा॥ — कबीर ग्रन्थावली

किन्तु एक दूसरे स्थल पर उन्होंने इसका संकेत नागिन के अभिधान से किया है–

"सोवत नागिन जागी"

इससे यह भी स्पष्ट है कि वे सुप्ता-नागिनी चालित करने में भी विश्वास करते थे।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने गूढ़ और जटिल हठयौगिक बातें काव्यात्मक और भावात्मक-शैली में रहस्यात्मक ढंग से अभिव्यक्त की हैं। संक्षेप में उनकी हठयोग साधना से सम्बन्धित रहस्यवाद का स्वरूप यही है। अब हम उनके लय यौगिक साधना से सम्बन्धित रहस्याभिव्यक्ति पर प्रकाश डालेंगे।

लय-योग और कबीर—आत्मा का परमात्मा में लय कर देना ही लय-योग है। इसकी सैकड़ों विधियाँ हैं। "योग-तत्वोपनिषद्" में लय-योग पर विचार करते हुए स्पष्ट लिखा गया है—

"चित्त का परमात्मा में लय कर देना ही लय-योग है। यह लय-योग सैकड़ों प्रकार का हो सकता है। साधक को चलते हुए, सोते हुए, खाते हुए, सभी अवस्थाओं में ईश्वर का ध्यान करना चाहिए।[2]

वास्तव में करोड़ों प्रकार के लय-योग का वर्णन करना असम्भव है। यहाँ पर अत्यन्त संक्षेप में उन लय-योगों का ही संकेत करेंगे, जिनसे कबीर के रहस्यवाद का कुछ सम्बन्ध है। वे इस प्रकार निर्देशित किए जा सकते हैं—१. मन-लय-योग, २. नाद-लय-योग, ३. शब्द-सुरति-योग, ४. सहज-लय-योग।

मन-लय-योग में साधक को अपने मन का लय उन्मन या महामन में करना होता है। "हठयोग-प्रदीपिका" में इस मन-लय-योग का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

---

१ देखिये लेखक की "कबीर की विचारधारा में योगवर्णन"।

२ लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः।
गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् भुंजन् ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम्॥ योगतत्वोपनिषद्

"मन यदि तत्व मे केन्द्रित किया जाता है, तो वह उसमें उसी प्रकार लीन हो जाता है, जिस प्रकार अग्नि में कपूर और जल में लवण।"[1]

"जिन वस्तुओं को जाना जाना है, वे ज्ञेय कहलाती हैं तथा जानने वाली शक्ति को ज्ञान कहते हैं। जब ज्ञान और ज्ञेय का भेद नष्ट हो जाता है, तब दोनो मे कोई भेद नही रह जाता है।"[2]

एक अन्य स्थल पर इसी बात को और अधिक स्पष्ट किया गया है—

"भ्रूमध्य में शिव-स्थान है। मन का लय उसी स्थान पर करना चाहिए। उसी मे तुरीयावस्था की अनुभूति करनी चाहिए। उसके अनुभव करने वाले को काल नही मार सकता।"[3]

हठयोग-प्रदीपिका-कार ने मन की साधना-विधि पर भी प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं—"मन निरालम्बन करके किसी भी प्रकार का चिन्तन या ध्यान न करे। तब वह बाहर और भीतर दोनों स्थानों पर आकाश मे स्थित पात्र के सदृश हो जाता है।[4]

---

१ कर्पूरमनले यद्वत्सैन्धवं सलिले तथा।
तथा सन्धीयमानं च मनस्तत्वे विलीयते॥

हठयोग-प्रदीपिका

२ ज्ञेयं सर्वं प्रतीतिं च ज्ञानं च मन उच्यते।
ज्ञान ज्ञेये समं नष्टं नान्यः पथा द्वितीयकः॥ वही

३ भ्रुवोर्मध्ये शिवं स्थानं मनः तत्र विलीयते।
ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत् कालो न विद्यते॥ वही

४ निरालम्बं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।
स बाह्याभ्यंतरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम्।

हठयोग-प्रदीपिका

"जब बाह्य-वायु लीन होने लगती है, आन्तरिक-वायु स्वयं ही लीन हो जाती है। इसके पश्चात् मन के साथ प्राण-वायु भी ब्रह्म-रन्ध्र में शान्त हो जाता है।"[1]

इस प्रकार जब-जब सुषुम्ना में दिन-रात प्राण-साधना का अभ्यास करते-करते प्राण जीर्ण कर दिया जाता है, तो फिर प्राण के साथ मन भी स्थिर हो जाता है।[2]

मन-लय-योग साधना के इस वर्णन के प्रकाश में यदि हम कबीर का अध्ययन करें, तो उनमें मन-लय-योग सम्बन्धी रहस्यवाद भी मिल जाएगा। मनः लय से सम्बन्धित शुष्क-वर्णन तो उनमें मिलते ही हैं। कहीं-कहीं सुन्दर रहस्यात्मक-वर्णन भी दिखाई पड़ जाते हैं। एक स्थल पर उन्होंने मनः लय-योग का रूपकात्मक-ढंग से वर्णन करते हुये लिखा है—

"जब मन का पवन अथवा प्राण-वायु से तादात्म्य हो जाता है तब रस-धारा का प्रवाह आरम्भ हो जाता है। साधक इस प्रकार प्रवाहित होने वाली जल-धारा से अपने जीवन की क्यारी का सिंचन करता है।"[3]

"इसी प्रकार जब मन "उन्मन्त" से लग जाता है, तब गगन-स्थित हो जाता है। गगन-स्थित होने पर ही "चँद-विहूणा" (चन्द्रमा के

---

१ वाह्यवायुर्यथा लीनस्थता मध्यो न संशयः।
स्व स्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसो सहः॥ वही

२ एवमभ्यासमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम्।
अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते॥ वही

३ मन पवन जब परचा भया।
ज्यू नलि राखी रस माइया॥
कहे कबीर घट लेहु विचारी।
औघट घाट सींच ले क्यारी॥ कबीर ग्रन्थावली

अभाव मे भी) चांदना दिखाई पड़ता है और "अलख-निरंजन" राम के दर्शन होते हैं।"[1]

अब हम नाद-लय-योग पर विचार कर लेना चाहते हैं। कबीर में नाद-लय-योग से सम्बन्धित रहस्यवाद भी मिलता है। नाद-लय-योग को "हठयोग-प्रदीपिका" के लेखक ने मुख्यतम-योग माना है। उसने लिखा है—"श्री आदि नाथ ने सपाद कोटि लय-योग का उपदेश दिया था। किन्तु उन सब मे मैं नाद-लय-योग को मुख्यतम मानता हूँ।"[2]

इस नाद-योग की प्रक्रिया का सकेत "हठयोग-प्रदीपिका" में इस प्रकार किया गया है—

"योगी को चाहिए कि वह शाम्भवी-मुद्रा धारण करके एकाग्र-चित्त होकर दाहिने कर्ण से अन्तस्थ नादो का श्रवण करे। फिर कान, आंख नाक तथा मुख बन्द करके सुषुम्ना मे नादानुसंधान करे। नाद-श्रवण का इस प्रकार अभ्यास कर लेने पर साधक बाह्य नादो से क्रमशः उदासीन होता जाता है। योगी अपने मन की अस्थिरता पर विजय प्राप्त करके १५ दिन मे ही आनन्द मे लीन होने लगता है। नाद पहिले अपने स्थूल-रूप में सुनाई पड़ता है। वह प्रायः समुद्र अथवा मेघ के गर्जन, भेरी गर्जन, तथा झर्झर ध्वनि के सदृश होता है। साधना के मध्य में जाकर ध्वनियां सुनाई पड़ती हैं। वे मृदाल, घण्टा, तथा शंख की ध्वनियो

---

१ मन लागा उन्मन सो गगन पहुँचा जाय।
देखा चंद विहूणा चांदणा अलख निरंजन राय ॥

कबीर ग्रंथावली

२ श्री आदि नाथेन सपाद कोटि,
लय प्रकाराः कथिता जयन्ति।
नादानुसंधानकमेकमेक,
मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥४॥६६ हठयोग प्रदीपिका

से मिलती जुलती है। अन्त में सुनाई पड़ने वाली ध्वनियाँ, किंकिणी, बाँसुरी, वीणा तथा भ्रमर के निस्वन जैसी होती हैं। मन इस नाद में कहीं भी केन्द्रित होकर उसमे लीन हो जाता है।"[1]

महात्मा कबीर में नाद-लययोग से सम्बन्धित रहस्याभिव्यक्ति भी पाई जाती है। नादानुसन्धान के मार्ग में विविध प्रकार की जो ध्वनियां सुनाई पड़ती हैं, उसके रोचक-वर्णन कबीर ने भी अपने ढग पर किये हैं। गगन के गर्जन की ध्वनि का वर्णन बहुत बार किया है। "हठयोग प्रदीपिका" के अनुसार नाद-श्रवण लय-योग की प्राथमिक अवस्था है। कबीर लिखते हैं—"नाद-श्रवण के मार्ग का अवगमन कीजिए। इस

---

१ क मुक्तासने स्थितो योगी मुद्राय संधायशांभवीम् ।
श्रुणयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तस्थमेकधी ॥ ४ । ६७॥

ख श्रवन पुट नयन युगल घ्राण मुखाना तिरोधनं कार्यम् ।
शुद्ध सुषुम्णा सरणौ स्फुटममलःश्रूयते नादः ॥४ । ६८ ॥

ग अभ्यस्यमानो नादोयं वाह्यमावृणुते ध्वनीम् ।
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत् ॥४ । ८३ ॥

घ श्रुयते प्रथमाभ्यासे नादोनानाविधो महान् ।
ततो अभ्यासे वर्धमाने श्रुयते सूक्ष्म सूक्ष्मकः ॥४।८४

ङ आदौ जलधि जीमूत भेरी झर्झर सम्भवः ।
मध्ये मर्दल शंखोत्था घन्टा काहलजास्तथा ॥४। ८५ ॥

च अन्ते तु किंकिणी वंश वीणा भ्रमर निःस्वनाः ।
इति नानाविधाः नादा श्रुयन्ते देहमध्यगा ॥ ॥४। ८६

छ यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ।
तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते ॥ ४।८९

हठयोग प्रदीपिका

नाद-श्रवण में मन लगाने से, वह शून्य मे लीन हो जाता है।"[1]

इसी प्रकार अन्य ध्वनियो का भी संकेत कवीर ने किया है—"उस शून्य-मण्डल मे विना तालो के ताल वजते हैं तथा विना ही मृदाल के ऊँची-ऊँची ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। वहाँ शव्दो के अभाव में भी अनहद्-नाद सुनाई पड़ता है। ऐसे शून्य-स्थान में गोपाल नृत्य करता है।"[2]

अनहद्-नाद का उन्होंने अनेक स्थलों पर वर्णन किया है। अनहद्-नाद श्रवण नादलय की पराकाष्ठा है। इसी वात को कवीर ने अत्यन्त काव्यात्मक ढंग से कहा है—"जव सूर्य-तत्व चन्द्र-तत्व से मिल जाता है तव अनहद्-नाद सुनाई देता है। जव अनहद्-नाद सुनाई पड़ता है, तभी साधक को ब्रह्म के दर्शन होते हैं।[3]

इसी प्रकार उनके नाद-लययोग के वहुत से उदाहरण उनकी वानियों में ढूँढ़े जा सकते है। विस्तार भय से हम यहाँ अधिक उदाहरण नही दे रहे हैं।

नादलय-योग का अपना एक रूप हमें स्वयं कवीर में मिलता है। वह है—उनका शव्द-सुरति-योग। इस शव्द-सुरति-योग का वर्णन योग-शास्त्र के ग्रन्थो में नही मिलता। इसके वीज सिद्धों में ढूँढ़े जा

---

१ क गगन गरज मघ जोइए। कवीर ग्रन्थावली

ख गगन गरजि मन सुन्न समाना। कवीर ग्रन्थावली

२ विन ही ताला ताल वजावै विन मदल पट ताला।
विन ही सवद अनाहद वाजै तहाँ निरतत गोपाला॥
कवीर ग्रन्थावली

३ ससिहर सूर मिलावा, तव अनहद वेन वजावा।
जव अनहद् वाजा वाजै, तव सांई सेज विराजै॥
कवीर ग्रंथावली

सकते हैं। किन्तु इसके प्रस्थापक और प्रवर्त्तक महात्मा कबीर दास जी हैं। इस शब्द के सुरति-योग के रहस्यात्मक-वर्णन कबीर में बहुत कम मिलते हैं। इनमें हमें नाद-बिन्दु की चर्चा भी जगह-जगह पर मिलती है। किन्तु नाद-बिन्दु लय-योग की सांग-साधना का विकास उनमे कही भी नही दिखाई पडता। सांग-साधना के विकास-वर्णनके अभाव मे रहस्यात्मक-वर्णनो का प्रश्न ही नही उठता। इसके अतिरिक्त कबीर में लय-योग सम्बन्धी कई प्रकार के रहस्यात्मक-वर्णन मिलते हैं। उनमें से एक को हम सहज-लय-योग कह सकते हैं। उसका एक रहस्यात्मक-वर्णन उदाहरण के रूप में इस प्रकार दिया जा सकता है—

"इड़ा-पिंगला रूपी गंगा-यमुना के मध्य में सहज-शून्य रूपी घाट बना है। वहाँ पर मैंने अपनी कुटी बनाई है। मुनि लोग सदा यहाँ पहुँचने की चेष्टा किया करते हैं।"[1]

राजयोग और कबीर—लययोग के बाद राजयोग आता है। यद्यपि राजयोग को सरल स्पष्ट और रहस्यहीन कहा जा सकता है किन्तु कबीर की रहस्यात्मक-प्रवृति ने राजयोग-मूलक रहस्याभिव्यक्ति को भी जन्म दे दिया है। अतः यहाँ पर थोडा सा राजयोग का भी परिचय दे देना आवश्यक है। हठयोग और लययोग को हम राजयोग की प्रथम-भूमिकाएँ मान सकते हैं। हठयोग-प्रदीपिका-कार ने हठयोग का अध्ययन एवं उसकी साधना केवल राजयोग के लिए ही मानी है। उसने ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही लिख दिया है—

"केवल राजयोगाय हठ विद्योपदिश्यते"

अर्थात् केवल राजयोग के हेतु ही हठयोग का उपदेश दिया जा रहा है। वह लययोग की पाराकाष्ठा राजयोग में ही मानता है—

---

१ गंग जमुन के अन्तरे सहज सुन्न ल्यौ घाट।
तहाँ कबीरा मठ रच्या मुनि जन जोवैं बाट ॥ कबीर ग्रंथावली

"एकीभूते तदाचित्त राजयोगाभिधानकम्"

अर्थात् लययोग से जब चित्त तत्त्व में पूर्ण रूपेण केन्द्रित हो जाता है, तब उसे राजयोग कहते हैं। योगशास्त्र के ग्रन्थों में वह विविध नामों से प्रसिद्ध है।

"हठयोग-प्रदीपिका" में उसके कुछ नाम इस प्रकार दिए गए हैं। उसमें लिखा है—"राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लयतत्व, शून्याशून्य परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरावलम्ब, निरंजन, जीवनमुक्ति, सहजा, तुर्या, आदि सब पर्यायवाची पद हैं।"[1]

राजयोग वास्तव में हठयोग के पश्चात् की साधना है। हठयोग में शारीरिक-साधना पर बल दिया जाता है किन्तु राजयोग का सम्बन्ध मन से माना जाता है। इसीलिए आचार्यों का कहना है, "अष्टाङ्ग-योग" के प्रथम चार अंग हठयोग के अन्तर्गत आते हैं और उसके अन्तिम चार अंग राजयोग का स्वरूप निर्माण करते हैं। इस प्रकार प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को हम राजयोग के चारों चरण मान सकते हैं। बहुत से योगी केवल समाधि को ही राजयोग मानते हैं। राजयोग के चारों अंगों का संक्षिप्त-विवेचन कर देना आवश्यक है। वे चार अंग क्रमशः प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि हैं। प्रत्याहार का वर्णन करते हुए "योग-दर्शन" में लिखा है—अपने विषयों के संग से रहित होने पर इन्द्रियों का चित्त से एकाकार प्राप्त करना ही प्रत्याहार है।"[2] इन्द्रियों का स्वामी मन है। यदि मन का निरोध हो जाय तो इन्द्रियों

---

१ राजयोग समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी,
अमरत्वं लयस्तत्वं शून्याशून्यं परम् पदम्।
अमनस्कं तथाऽद्वैतं निरालम्बं निरंजनं,
जीवनमुक्तिश्च सहजा तुर्याचेत्येक वाचकाः ॥ कबीर ग्रन्थावली

२ स्वविषयासं प्रयोगे चित्त स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः
योगदर्शन

का निरोध-रूप प्रत्याहार अपने आप प्राप्त हो जाता है। महात्मा कबीर ने प्रत्याहार के भी कुछ रहस्यात्मक-वर्णन किए हैं। एक स्थल पर उन्होंने कहा है—"जब तक साधक अपने मन को नहीं मारता तब तक काम, क्रोध, मद, मोह और लोभ इन पाँचों शत्रुओं का हनन नहीं होता। जब तक शील और सत्य की ओर साधक की श्रद्धा नहीं होती तथा उसकी इन्द्रियाँ सांसारिक-उपभोगों की ओर अग्रसर रहती हैं, तब तक उसे अमरत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती।"[1]

"इस मतवाले मन का हनन करके उसे महीन-महीन पीस देना चाहिए। आत्मा रूपी सुन्दरी को तभी वास्तविक सुख प्राप्त होता है, जब ब्रह्माण्ड में उसे ब्रह्म के दर्शन होते हैं।"[2]

"यह अगाध भवसागर भला इस शरीर-रूपी नाव से कैसे पार किया जा सकता है? विशेषकर जब काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, रूपी पाँच कुसंगी मार्ग रोकने के लिये सदा प्रस्तुत रहते हैं।"[3]

"यह मन-रूपी मछली समस्त सांसारिक-विकारों से विमुख होकर परमात्मा के दर्शन के लिए ऊर्ध्वगामिनी बनी थी। किन्तु मार्ग में एक विकार के आ जाने के कारण पुनः माया-रूपी अग्नि में जा पड़ी।"[4]

"जब साधक अपनी काया को कमान के समान कस कर खींचता है और पंचतत्व को बाण बनाकर मन की मृगया करता है, तभी वह

---

१ मन-न मार्‌यां, मन करि सके न पच प्रहारि।
सील साँच सरधा नहीं इन्द्री अजहुँ उघारि॥ कबीर ग्रन्थावली

२ मैमंता मन मारि रे नन्हा करि करि पीस।
तब सुख पावै सुन्दरी ब्रह्म झलक्कै सीस॥ कबीर ग्रन्थावली

३ कागद केरी नावरी पाणी केरी गंग।
कहै कबीर कैसे तिरू पंच कुसंगी संग॥ कबीर ग्रंथावली

४ काटी कूटी मछली छीके धरी चहोड़ि।
कोई एक अखिर मन बसा दह में पड़ी बहोरि॥ कबीर ग्रन्थावली

सच्चा साधक कहलाने का अधिकारी बनता है अन्यथा वह केवल कृत्रिम साधक मात्र है।"[1]

राजयोग का दूसरा अंग धारणा है। धारणा को हम ध्यान और समाधि के लिए अनिवार्य मानते हैं। "योगदर्शन" में धारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।"

अर्थात् चित्त को किसी एक देश विशेष में स्थिर करने का नाम धारणा है। महात्मा कबीर में धारणा नामक अवस्था से सम्बन्धित कुछ रहस्यात्मक-वर्णन मिलते हैं। कबीर का लक्ष्य अपने मन को अपनी हृदयस्थ-गुफा में स्थित अपने आराध्य पर केन्द्रित करना था। मन स्वभावतः बहिर्गामी है। वह बार-बार बाहरी विषयों की ओर चला जाता है। अतः कबीर उसे बहिर्विषयों की ओर जाने से रोकते हैं। तथा हृदय-गुफा में स्थित आराध्य की सेवा में लगने का आग्रह करते हैं—

"हे मन ! तू इधर-उधर क्यों भ्रमण करता है। वह चिरन्तन ब्रह्म तो हृदय-सरोवर में ही निवास करता है। इसी शरीर के अन्दर करोड़ों तीर्थ हैं और इसी के अन्दर काशी है। इसी शरीर के अन्दर सहस्रार कमल में कमलापति विष्णु रहते हैं। यही पर बैकुण्ठवासी विष्णु का शयनागार है।"[2]

---

३ काया कसूं कमाण ज्यूं पंच तत्त करि बाण।
मारौं तो मन मृग को नहीं तो मिथ्या जाण॥ कबीर ग्रंथावली

४ रे मन बैठि कितं जिनि जासी,
हृदय सरोवर है अविनाशी।
काया मध्ये कोटि तीरथ काया मध्ये कासी,
काया मध्ये कंवल कंवलापति काया मध्ये बैकुण्ठवासी॥
कबीर ग्रंथावली

मन की यह धारणा तन-मन-जीवन सौंपकर मनसा, वाचा, कर्मणा होनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता तो आत्मा की सारी साधनाएँ व्यर्थ होती हैं। इस बात का कबीर ने पतिव्रता के रूपक से बड़े सुन्दर ढंग से वर्णन किया है—

"सुहागिन नारी कहलाने की तो वही अधिकारिणी है जो अपना तन, मन और यौवन अपने पति को अर्पित कर देती है। जो नारी पतिव्रता होती है और अपने पति को प्रिय होती है उसी नारी का जीवन सार्थक होता है। यदि नारी अपने पति को प्रिय नहीं होती तो पड़ोसियों को अपने रूप और यौवन से लुभाने से कोई लाभ नहीं है। पायलों की झंकार, बिछुओं की ठुमुक, काजल और सौन्दर्य का आकर्षण अंजन और मंजन का लुभाव, आदि समस्त सांसारिक शृंगार आदि का प्रियतम के प्रेम के अभाव में कोई महत्व नहीं है। काम, क्रोध आदि पाँच विकारों का हनन करके ही आत्मा रूपी सुन्दरी अपने प्रियतम रूप परमात्मा को वश में कर सकती है।"[1]

---

१ जो पै पिय के मन नहीं भाए।
तौ कहा परोसिन के हुलराए॥
का चूरा पायल झमकाए।
कहा भयो बिछुआ ठमकाए॥
का काजल सिंदुर के दियै।
सोलह सिंगार कहा भयो कियै॥
अंजन मंजन करै ठिगौरी।
का पाँच मरै निगोडी बौरी॥
जो पै पतिव्रता ह्वै नारी।
कैसे ही वह रहै पिया ही पियारी॥
तन मन, जोबन सौंपि सरीरा।
ताहि सुहागिनि कहै कबीरा॥ कबीर ग्रन्थावली

राजयोग का तीसरा अंग ध्यान माना जाता है। ध्यान को स्पष्ट करते हुए "योग-दर्शन" में कहा है—

"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।"

अर्थात् पूर्वोक्त ध्येय वस्तु में चित्तवृत्ति की एकतानता का नाम ध्यान है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि अविच्छिन्न रूप से निरन्तर ध्येय वस्तु में ही अनवरत लगा रहना ध्यान है। "योग-वाशिष्ठ" में ध्यान केन्द्रित करने का अभ्यास तीन प्रकार से बताया गया है। साधक को सबसे पहिले ब्रह्म-भावना दृढ़ करनी चाहिए. उसे ऐसा अभ्यास करना चाहिए कि संसार भर में आत्म-तत्व की अद्वैतता की ही प्रतीति होती रहे। फिर मन को तन्मय करने का अभ्यास करें। ब्रह्माभ्यास करने से मन ब्रह्माकार होकर विलीन हो जाता है और प्राणों की गति भी स्वयं ही रुक जाती है, क्योंकि यह नियम है—जो जिस वस्तु की दृढ़भावना करता है, वह तद्रूप हो जाता है। ब्रह्म भावना के बाद अभाव भावना का अभ्यास आता है। ऐहिक पदार्थों को असत् समझ कर उनके पारमार्थिक अभाव की दृढ़ भावना करना ही अभाव-भावना का अभ्यास कहलाता है। इस भावना से समस्त सांसारिक द्वैत और द्वन्द्व मिट जाते हैं। अभाव-भावना के बाद केवली भाव का अभ्यास आता है। जब साधक केवल एक आत्मतत्व की स्थिति को मानते हुए दृश्य पदार्थों के मिथ्या-तत्व की दृढ़ भावना होने के कारण अपने दृष्टापन को भी असत् मानने का अभ्यास करता है तब उसे "केवली भाव" का अभ्यास कहते हैं। महात्मा कबीर वास्तव में राजयोगी साधक थे। उनमें हमें ध्यान को केन्द्रित करने के उपर्युक्त तीनों प्रकार के प्रयत्न मिलते हैं। इन प्रयत्नों के बीच-बीच कहीं उनका रहस्यवादी भी मुखरित हो उठा है। ब्रह्म-भावना के अभ्यास की अभिव्यक्ति उन्होंने बहुत से स्थलों पर रहस्यात्मक ढंग से की है।

कबीर ने ध्यान योग की प्राप्ति धीरे-धीरे मानी है। जब साधक

ब्रह्म-भावना का सतत अभ्यास करता रहता है, तब धीरे-धीरे पूर्ण ध्यान की अवस्था प्राप्त होती है। कबीर ने उसे उन्मनी-ध्यान का अभिधान दिया है। देखिए निम्नलिखित पंक्तियों में ध्यान योग का रहस्यात्मक वर्णन किया गया है—

"जब शरीर का शोधन हो चुका और वह स्वर्ण की भाँति निर्मल हो गया तब उसमें राम प्रकट हुए। जिस प्रकार शुद्ध स्वर्ण को चाहे जो सुनार कसौटी पर कस कर देख ले किन्तु उसकी शुद्धता पर सन्देह नहीं किया जा सकता। ठीक इसी प्रकार काया का परिशोधन हो चुकने के बाद उसमें सांसारिक विकार व्याप्त नहीं हो सकते। अनेक उपायों को करते-करते जब मन स्थिर हो गया, तभी साधक को स्थिति की अवस्था प्राप्त होती है। इस बाह्य जगत में ढूंढते-ढूंढते साधक अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर देते हैं किन्तु अपने शरीर के ही भीतर निवास करने वाले ईश्वर को नहीं पहचानते। जब साधक शरीर के भीतर उन्मनावस्था का ध्यान करता है, तभी उसे साक्षात् ब्रह्म के दर्शन होते हैं। जब तक जीव को ब्रह्म के दर्शन नहीं होते, तब तक उसका शरीर निरर्थक है, किन्तु ब्रह्म के दर्शन से जीवन का शरीर और जीवन सार्थक हो जाता है।"[1]

---

१ अब घट प्रकट भए राम राई।
सोधि सरीर कनक की नाई॥ टेक॥
कनक कसौटी जैसे कसि लेइ सुनारा।
सोधि सरीर भयो तन सारा॥
उपजत उपजत बहुत उपाई।
मन थिरि भयो तब तिथि पाई॥
बाहर खोजत जनम गँवाया।
उन्मनी ध्यान घट भीतर पाया॥
बिन परचे तन काँच थीरा।
परचै कँचन भया कबीरा॥ कबीर ग्रन्थावली

कबीर ने केवली भाव का भी रहस्यात्मक वर्णन किया है । वे लिखते हैं कि मैं संसार के समस्त पदार्थों में व्याप्त हूँ और सारा संसार मुझ में व्याप्त है, तथापि मेरा अस्तित्व इस संसार से पृथक कुछ और ही है । कोई मुझे राम कहता है और कोई कबीर कहता है । न तो मैं बालक हूँ और न मैं बूढ़ा हूँ । न मुझे सांसारिक ऐन्द्रिक सुख-दुख आदि का ही स्पर्श प्रभावित करता है । न मैं कही पढने जाता हूँ और न मुझे कोई अक्षर ही आता है । मै सदा ईश्वर की साधना में लीन रहता हूँ । हमारी आत्मा तो पूर्णतः परमात्मा में लीन हो चुकी है । संसार इसी को अद्वैत या एकनिष्ठता कहता है । उस ईश्वर रूपी जुलाहे ने तो इस संसार के समस्त पदार्थों को एक थान के रूप मे ही उत्पन्न किया था किन्तु साँसारिकों ने उस थान के टुकड़े टुकड़े करके द्वैत-भावना को जन्म दिया है । मैं तो त्रिगुणातीत ईश्वर की साधना में पूर्णतः लीन होकर ही अपने जीवन को सार्थक बनाऊँगा । तभी मेरा नाम 'राम' सार्थक होगा । मैं सारे संसार को देख सकूँगा किन्तु यह संसार मुझे नही देख सकेगा । वास्तव मे उस ब्रह्म की प्राप्ति के बाद जीव की कुछ ऐसी ही दशा हो जाती है ।[1]

---

१ मैं सबनि मे औरनि में हूँ सब,
मेरी बिलगी बिलग बिलगाई हो ।
कोई कहौ कबीर कोई कहौ राम राई हो ।। टेक ।।
ना हम बार बूढ़ नाही हम ना हमरे चिलकाई हो ।
पठिए न जाऊँ अंखा नहीं आऊँ सहजि रहे हरिआई हो ।।
वोढन हमरे एक पछेवरा लोक बोलैं इकताई हो ।
जुलहे तन बुनि पानन पावल फारि बुनो दस ठाई हो ।।
त्रिगुण रहित फल रमि हम राखल तब हमरो नाम राम राई हो ।
जग में देखौं जग न देखैं मोहि इहि कबीर कछु पाई हो ।।
कबीर ग्रंथावली

इसी प्रकार अभाव भावना के भी वर्णन मिलते हैं। उसका एक उदाहरण इस प्रकार है—"समस्त संसार एक ही अद्वैत ब्रह्म है। जो इस संसार मे द्वैत भावना को मानते हैं, वे वास्तव में भूल करते हैं। सच तो यह है कि वे उसे नहीं पहचान पाते। इसी कारण वे द्वैत भावना को मानते हैं। एक ही वायु है, एक ही जल है और एक ही ब्रह्म की ज्योति यह समस्त ससार है। समस्त सासारिक पदार्थों में एक ही ब्रह्म व्याप्त है। वही ब्रह्म अपने विभिन्न स्वरूपों मे इस संसार मे विभिन्नता का भ्रम उत्पन्न करता है।"[1]

अभाव भावना से सम्बन्धित रहस्यात्मक पद कबीर मे बहुत कम हैं। उपर्युक्त पद भी दर्शन के अधिक समीप है, रहस्यवाद के कम।

ध्यान-योग की भी उपर्युक्त तीन प्रकार की भावनाओ के अभ्यास सम्बन्धी रहस्याभिव्यक्तियो के अतिरिक्त कबीर मे हमे ध्यान के कुछ प्रकारो के रहस्यात्मक वर्णन भी मिलते हैं। ध्यान के तीन प्रकार प्रसिद्ध हैं—स्थूलध्यान, ज्योतिर्ध्यान, सूक्ष्मध्यान। स्थूलध्यान, अपने इष्टदेव के स्थूल रूपाकार का ध्यान है। भक्त लोग अधिकतर स्थूल ध्यान में ही निमग्न रहते हैं। ज्योतिर्ध्यान में ज्योति रूपी ब्रह्म का ध्यान किया जाता है। इस कोटि के ध्यान की मान्यता योगियो मे है। सूक्ष्म ध्यान मे साधक चलायमान कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करता है। इसके लिए वह शाम्भवी मुद्रा का अनुष्ठान करता है। भ्रकुटी के मध्य में दृष्टि को स्थिर करके एकाग्र चित्त मे, ध्यान योग से परमात्मा के दर्शन करना शाम्भवी मुद्रा कहलाती है। इस सूक्ष्म ध्यान की साधना पहुँचे हुए योगी ही कर पाते हैं। महात्मा कबीर—भक्त और योगी,

---

२ हम तो एक एक करि जाना।
दोई कहै तिनही को दोजक जिन नाहि न पहचाना॥
एकै पवन एकै पानी एकै ज्योति संसार।
सब घटि भीतर तू ही व्यापक धरै सरूपै सोई॥ कबीर ग्रंथावली

दोनो ही थे। इसीलिए उनमे तीनो प्रकार के ध्यानों से सम्बन्धित शक्तियाँ पाई जाती हैं। कबीर मे ज्योतिध्यान और सूक्ष्मध्यान से सम्बन्धित उक्तियाँ भी पाई जाती हैं। कबीर ने ज्योतिध्यान के विविध वर्णन लिखे हैं। उनमे से कुछ काफी रहस्यात्मक हो गए हैं। कबीर जिस ज्योति को अपने मे देखते हैं, वह भी सूरजो से भी अधिक जाज्वल्यमान है। किन्तु उसके दर्शन मे वही आत्मा रूपी सुन्दरी समर्थ हो सकती है जो अपने पति के साथ जागरण करती रही है।[1]

"यह ज्योति सूर्य और चन्द्र की ज्योति से भी भिन्न होती है। वे लिखते हैं कि उस विचित्र लीला को साधक अपने शरीर से मुक्त होकर ही देखता है। उस शून्य मण्डल मे विना ही चन्द्र तथा सूर्य के प्रकाश होता है। वहाँ पर साधक निश्चित होकर ब्रह्म की सेवा में लगा रहता है।"[2]

"इस ज्योति का कोई वर्णन नही कर सकता। इसके रहस्य को वही जानता है जिसने इसका साक्षात्कार किया है।"[3]

"यह ज्योति अगम और अगोचर स्थान मे दृश्यमान होती है। वहाँ पर पाप और पुण्य के वन्धन नही होते अपितु साधक एकनिष्ठ होकर साधना मे लीन रहता है।'[4]

---

१ कबीर तेज अनन्त का, मानो उगी सूरज श्रेणि। कबीर ग्रंथावली
पति सग जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि ॥ पृ० १२

२ कौतिग दीठा देह विन, रवि ससि विना उजास।
साहिब सेवा मांहि है, बेपरवाही दास ॥ कबीर ग्रन्थावली पृ० १२

३ पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उन्मान।
कहिबे को सोभा नहीं, देख्या है परवान ॥ कबीर ग्रन्थावली पृ० १२

४ अगम अगोचर गमि नहीं तहाँ जगमगै ज्योति।
जहाँ कबीरा बन्दगी पाप पुण्य नहीं छोति ॥

कबीर ग्रन्थावली पृ० १२

इसी प्रकार उन्होंने अन्य वहुत से स्थलों पर ज्योतिध्वनि के अनेक रहस्यात्मक वर्णन प्रस्तुत किए हैं।

कबीर में सूक्ष्म ध्यान सम्बन्धी वर्णन भी पाए जाते हैं। बहुत से स्थलों पर शाम्भवी मुद्रा का भी संकेत मिलता है। देखिए निम्नलिखित पंक्ति में उन्होंने त्रिकुटी संगम पर स्वामी के दर्शन की बात कही है—

"सुमति शरीर कबीर विचारी, त्रिकुटी संगम स्वामी।"

बहुत से स्थलों पर कवीर ने सूर की चंद में समाने की बात कही है। ऐसे स्थलों पर उनका संकेत सूक्ष्म ध्यान की ओर ही मालूम पड़ता है। क्योंकि सूक्ष्म ध्यान में ही योगी मूलाधार के सूर का सहस्रार के चन्द्र में लय होना देख सकता है। कवीर ने इसका इस प्रकार संकेत किया है—"पूर्व-जन्म के कर्मों के प्रताप से मुझे मन-वांछित फल प्राप्त हुआ तथा सूर्य तत्व चन्द्र-तत्व में समाकर एक हो गया।"[1]

देखिए निम्नलिखित पद में कवीर ने सूक्ष्म ध्यान की ओर ही संकेत किया है। इसके लिए उन्होंने प्रथम तो हठयौगिक प्रक्रियाओं का संकेत किया हैं। वास्तव में हठयोग राजयोग का प्रथम सोपान ही है। इसलिए उसकी साधना परमावश्यक होती है। किन्तु कबीर हठयोग के बाद ध्यानयोग को भी महत्व देते थे। इसकी पुष्टि उनके एक पद से होती सी दिखाई देती है।

"साधक को पारब्रह्म का इस प्रकार ध्यान करना चाहिए कि उसके अन्तर में अनहद् ध्वनि जागृत हो उठे। पहले साधक को पाँच वायुओं का अनुसंधान करना चाहिए। पुनः कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करके ब्रह्मरन्ध्र में लीन करना चाहिए। गगन-मण्डल में सदा ज्योति प्रकाशित रहती है। वहीं पर त्रिकुटी संधि है। जब सूर्य, चन्द्रमा और वायु की

---

१ सूर समाणां चंद में, दुहू किया घर एक।
मन का च्येता तब भया, कछू पूरवला लेख॥

कबीर रहस्यवाद पृ० १३

साधना करके साधक का मन स्थिर हो जाता है, तब उसे कमल का विकसित स्वरूप दिखाई देता है। उस कमल में ही ब्रह्म का निवास है। सद्गुरु उस सहस्रार कमल के सम्पुट को खोलकर साधक को दिखलाता है। जो स्वयं ही अज्ञानी होगा, वह किसी को उपदेश क्या देगा। जब साधक समग्र सांसारिक विकारों का त्याग करके सहज ब्रह्म की उपासना करता है, और ब्रह्म के दर्शन कर लेता है तो दृढ़ आसन निष्ठ होकर पुनः समाधि में लीन हो जाता है। इस प्रकार उस सहस्रार कमल में स्थित ब्रह्म-रन्ध्र में त्रिभुवन पति ब्रह्म का निवास है।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर में ध्यान योग से संबंधित विविध प्रकार की रहस्योक्तियाँ मिलती हैं।

राजयोग का अंतिम अंग समाधि है। ये सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंग है। बहुत से लोग तो इसी को राजयोग का अभिधान देते हैं। ध्यान ही जब ध्येयाकार रूप से साक्षी में निर्भासित होने लगता है तथा चित्त के ध्येय स्वरूप में लीन हो जाने के कारण मैं इस प्रकार का ध्यान कर रहा हूँ आदि, जैसी अनुभूतियों का उदय होने के कारण जब प्रत्ययात्मक स्वरूप से शून्य हो जाता है, तब वही समाधि के नाम से अभिहित किया जाने लगता है। अधिक स्पष्ट शब्दों में कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि जब ध्यान ज्ञानाकार रूप से अलग निर्भासित-

---

१ ऐसा ध्यान धरौ नरहरी, सबद अनाहद च्यतन करी।
पहली खोजो पंचै बाइ, ब्यंद ले गगन समाइ ॥
गगन ज्योति तहाँ त्रिकुटी संधि, रवि ससि पवना मेलौ बांध॥
मन थिर होइत कंवल प्रकासै, कंवला मांहि निरंजन वासै।
सतगुर संपट खोलि दिखावै, निगुरा होइ तौ कहाँ बतावै ॥
सहज लछिन ले तजो उपाधि, आसण दिढ निन्द्रा पुनि साधि।
पुहुप पत्र जहाँ हीरामणी, कहै कबीर तहा त्रिभुवन धणी ॥
कबीर ग्रन्थावली

न होकर ध्येयाकार रूप से प्रतीत होने लग जाता है तभी उसे समाधि कहने लगते हैं। "योग-सूत्र" मे समाधि की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।"

अर्थात् जिस समय केवल ध्येय स्वरूप का ही भान होता है, अपने स्वरूप का भान नहीं होता, तब ध्यान ही समाधि में परिणत हो जाता है। ध्यान मे ध्याता ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी रहती है, किन्तु समाधि में केवल ध्येय वस्तु ही शेष रह जाती है। ध्याता, ध्यान और ध्येय मिलकर एक हो जाते हैं। समाधि के सम्बन्ध में कुछ अन्य परिभाषाओं पर विचार कर लेना अनिवार्य है। "अन्नपूर्णोपनिषद्", और "जावालिदर्शनोपनिषद्" में समाधि का स्वरूप इस प्रकार संकेतित किया गया है—

"जीवात्मा और परमात्मा की एकता के ज्ञान के उदय को ही समाधि कहते हैं।"

"मुक्तिकोपनिषद्" में भी समाधि का स्वरूप स्पष्ट किया गया है— जिसमें न तो मन की क्रिया शेष रहती है, न बुद्धि का व्यापार ही। यह आत्मज्ञान की वह अवस्था है जिसमें प्रत्यक् चैतन्य के अतिरिक्त सबका बोध हो जाता है। "वृहदारण्यकोपनिषद" मे समाधि की अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया गया है—"जिस क्षण हृदय मे भरी हुई सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती है, उसी क्षण में मरणधर्मा मनुष्य अमृतत्व धारण कर लेता है और इसी जीवन मे ब्रह्मानन्द का आस्वादन करता है।"[1] इस प्रकार योग-ग्रन्थों मे समाधि की अवस्था का विस्तार से वर्णन

---

१ समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो,
निवेशितस्यात्मनि यत्सुख लभेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा,
स्वयं तदन्तःकरणेन ग्रह्यते ॥ वृहदारण्यकोपनिषद

किया गया है। समाधि की यह अवस्था अनिर्वेद्य और अनिर्वचनीय होती है। मैत्रायण्योपनिषद् में लिखा है—"समाधि में निमग्न मन आत्मा में लीन होकर आत्मा-रस का पान करता है। उस रस-पान की अवस्था का वर्णन वाणी से नही किया जा सकता। वह केवल अनुभूति की वस्तु है।"

महात्मा कबीर ने इसीलिए अपनी समाधि की अनुभूतियों को अनिर्वेद्य कहा है। उनका कथन है कि "जो कुछ मैंने देखा है उसका वर्णन मैं कैसे करूँ! यदि वर्णन करूँ भी तो उस पर कौन विश्वास कर सकता है! उस ब्रह्मानन्द का आस्वादन तो गूँगे के गुड़ सदृश केवल हृदय में ही किया जा सकता है और मन ही मन प्रसन्न हुआ जा सकता है। उसका वर्णन करना सामर्थ्य के बाहर है।"[1]

किन्तु मनुष्य की मनोवैज्ञानिक विशेषता है कि वह अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लोभ का संवरण नही कर पाता है। कबीर इसका अपवाद नहीं थे। उन्होने इसीलिए जगह-जगह पर समाधि की अवस्था के विविध रंगी रहस्यात्मक चित्र चित्रित किये हैं। यहाँ पर हम उनके कुछ सुन्दर चित्र संकेतित कर देना चाहते हैं। देखिए एक चित्र में कवि ने हठयोगजनित समाधि की अवस्था का कैसा रहस्यात्मक वर्णन किया है

"हे अवधू! मेरा मन ईश्वारोन्माद से उन्मत्त है। उन्मनावस्था को प्राप्त होकर मैं सहस्रार-कमल में अमृत रस का पान करता हूँ। उस अमृत का पान करने पर सारा संसार प्रकाशमय दीखने लगता है। उस अमृत-रस रूपी आसव को तैयार करने के लिए मैंने ज्ञान को गुड़ बनाया है और ध्यान को महुवा बनाया है। उसे संसार-रूपी भट्टी में पकवाया है। उस अवस्था में

---

१ देख्या है तो कस कहूँ, कहूँ तो को पतियाय।
गूँगे केरि शरकरा, बैठे ही मुसकाय ॥ कबीर ग्रन्थावली

आत्मा परमात्मा से मिल कर, उस अमृत-रस का पान करती है, इसके लिए वह सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करके समाधि की अवस्था को प्राप्त होती है। मैं काम, क्रोध, का परित्याग करके संसार से विरक्त हो गया हूँ। सहस्रार-कमल में जो अनहद नाद हो रहा है मेरा मन उसी को सुन सुन कर आनन्दातिरेक से विभोर है। गुरु की कृपा से मुझे इस अमृत की प्राप्ति हुई है। यह मेरी सुषुम्ना-साधना का फल है। जब पूर्ण परमात्मा से साक्षात्कार हो जाता है तब शरीर की सारी तृष्णा रूपी अग्नि शान्त हो जाती है। इस प्रकार जब ज्योति से ज्योति मिल जाती है, तब सांसारिक बंधन नष्ट हो जाते हैं।"[1] इसी प्रकार एक दूसरा चित्र है जिसमें कबीर का साधक कहता है—"कि मैं आत्म रस का पान करके उन्मत्त हो गया हूँ। मैं मनन करते हुए उस परमात्मा के रस का आस्वादन करता हूँ। वह रस बड़ी साधना के पश्चात प्राप्त हुआ है। उस राम-रस से सारा शरीर सराबोर है और बार बार यही इच्छा होती है कि अधिक से अधिक उस रस के पान करने से एक दिव्य खुमारी

---

१ अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मनि चढ्या मगन रस पीवै, त्रिभुवन भया उजियारा ॥
गुड़ करि ग्यान ध्यान कर महुवा, भव भाटी करि भारा।
सुषुमन नारि सहज समानी, पीवै पीवन हारा ॥
दोई पुड जोडि चिगाई भाटी, चुआ महारस भारी।
काम क्रोध दोइ किया पलीता, छूटि गई संसारी ॥
सुनि मंडल में मँदला बाजै, तहाँ मेरा मन नाचै।
गुरु प्रसाद अमृत फल पाया, सहजि सुषुमना काछै ॥
पूरा मिल्या तबै सुष उपज्यौ, तन की तपनि बुझानी।
कहै कबीर भव-बंधन छूटै, जोतिहिं जोति समानी ॥

कबीर ग्रन्थावली

की दशा प्राप्त होती है, जिसमे आनन्द के अतिरिक्त और कुछ अनुभव नही होता ।"[1]

राजयोग-मूलक समाधि के भी सुन्दर चित्र कबीर मे मिलते हैं। जब उनकी समाधि लग जाती है तो उन्हे फिर यह भय नही रहता कि उसका मन किसी दूसरी ओर चला जाएगा। राजयोग से यहाँ हमारा तात्पर्य कबीर की भाव-भक्ति से है। वे लिखते है–"हे मन जब जहाँ तुम्हारी कामना हो, वही जाओ। अब तुम्हे कोई अंकुश नही लगावेगा। अब तू जहाँ-जहाँ जाएगा वहाँ-वहा अखण्ड-आनन्द प्राप्त होगा तथा विश्राम मिलेगा। जब तक केवल वाह्य-अनुराग अथवा भक्ति का प्रभुत्व रहता है, द्वैत की भावना साधक को तभी तक सताती है। ज्ञान का उदय होते ही सर्वत्र एक ही ईश्वर दिखाई देने लगता है। साधक अद्वैत के महत्व को समझने लगता है। तब वह अपने शरीर की सुध-बुध भूलकर निरन्तर उसी ब्रह्म की साधना मे लीन हो जाता हे। तभी उसे सुख का सागर प्राप्त होता है।"[2]

---

१ छाकि पर्यो आतम मतिवारा,
पीवत रमि रस करत विचारा।
बहुत मोलि मँहगे गुढ पावा लै कसाव रस राम चुवावा॥
तन पाटन मैं कीन्ह पसारा, मांगि मांगि रस पिवै विचारा।
ककहै कबीर फीबी मतिवारी, पीवत राम रस लगी खुमारी॥

कबीर ग्रन्थावलीली

२ रे मन जाहि जहाँ तोहि भावै,
अब न कोई तेरे अंकुश लावै।
जहाँ जहाँ जाइ तहाँ तहाँ रामा,
हरि पद चीन्हि कियौ विश्रामा॥
तन रजित तब देखियत दोई,
प्रगट्यो ग्यान वहाँ वहाँ सोई॥
लीन निरन्तर वपु विसराया,
कहै कबीर सुख-सागर पाया॥ कबीर ग्रन्थावली

कबीर ने सहज-समाधि की बहुत चर्चा की है। "यह सहज-समाधि हठयोगिन-समाधि से भिन्न है। सहज भाव से सदाचार का पालन करना और भगवान में भक्ति रखना उनके सहजयोग का लक्षण था। उद्भूत-आनन्द को ही उन्होंने सहज-समाधि मूलक-रस माना है। इस सहज-समाधि का एक वर्णन देखिए—आनन्दमयी आत्मा एक योगी है, जो सदा अमृत-रस का पान करती है। ब्रह्माग्नि मे अपने शरीर को जलाकर, अजपा-जाप करके, उन्मनावस्था से तारण प्राप्त करके मन त्रिवेणी की विभूति, उस अपार-ब्रह्म की साधना मे लीन रहता है। वह ब्रह्म अलख और निरंजन है।"[1]

कबीर ने अपने सहजयोग में मन-साधना पर सबसे अधिक जोर दिया था क्योंकि मन के शुद्ध होने पर ही मनुष्य सदाचरण में स्वय विश्वास करने लगता है। इसीलिए मनः योग की सहजयोग के रूप में प्रतिष्ठा की है। उसका वर्णन इन पंक्तियों में किया गया है—"सच्चा योगी तो वही है जो सदा अपने मन में ही मुद्रा धारण करता है। उसे रात-दिन निन्द्रा नही आती। वह मन में ही आसन लगाता है, मन में लीन रहता है, मन से ही जप करता है, मन में ही तप करता है और मन ही मन वार्तालाप करता है तथा मन में ही खप्पर और सीगी धारण करता है और मन ही मन अनहद्-नाद की स्वर-लहरी में लीन रहता है। पँच-विकारों को भस्म करके जो साधक मन ही मन साधना में लीन रहता है, वही सहस्रार में स्थित

---

१ आतमा अनंदी जोगी। पीवै महारस अमृत भोगी॥
ब्रह्म अगिनि काया परजारी। अजपा जाप उनमनी तारी॥
त्रिकुटि कोटमैं आसण माँडै। सहज समाधि विषै सब छाडै॥
त्रिवेणी विभूति करै मन भंजन। जन कबीर प्रभू अलख निरंज॥
कबीर ग्रन्थावली

ब्रह्म-रन्ध्र तक पहुँच सकता है।"[1]

यह मनोयोग की साधना साधक को समाधि की उस अवस्था में पहुँचा देती है, जिसे हम जीवन-मुक्ति की अवस्था कह सकते हैं। उसका वर्णन कबीर ने एक साखी में इस प्रकार किया है—"मैं समस्त सांसारिक-वासनाओं को अभिभूत करके उस परमात्मा में लीन हो गया हूँ तथा सदा ही उस अलभ्य राम-रसायन के मद से मत्त रहता हूँ। इस प्रकार मैं अगम्य मुक्ति की दशा को प्राप्त कर चुका हूँ।"[2]

इस प्रकार कबीर में हम राजयोग के सुन्दर रहस्यात्मक-वर्णन पाते हैं।

मन्त्रयोग और कबीर—मंत्रयोग का भी योगियों में बड़ा मान है। मंत्रयोग का विषय बहुत विस्तृत है। उसे स्पष्ट करने के लिये बहुत स्थान और समय की आवश्यकता है। यहाँ पर हम मंत्रयोग से केवल जप-साधना का अर्थ लेकर कबीर में तत्सम्बन्धी रहस्याभिव्यक्तियों पर प्रकाश डालना चाहते हैं। यौगिक-साधना में जप का बहुत बड़ा महत्व माना जाता है। उसे हमारे यहाँ एक प्रकार का यज्ञ माना है। गीता में भगवान ने "यज्ञानाम् जपयज्ञोऽस्मि" कह कर जप की महत्ता प्रतिपादित की है। जप के अनेक प्रकार और भेद माने गये हैं। कबीर आदि संत-कवियों ने मानस-जप को बहुत अधिक महत्व दिया

---

१. सो जोगी जाकै मन में मुद्रा, राति दिवस न करई निद्रा ॥
मन मैं आसण, मन मे रहणा। मन का जप तप मन सूँ कहणा ॥
मन में षपरा मन मैं सींगी। अनहद बेन बजावै रंगी ॥
पंच परजारि भसम करि भूका। कहै कबीर सो लहसै लंका ॥

कबीर ग्रन्थावली

२ मैं मंता अविगत रता, अकलप आसा जीति।
राम अमिल माता रहै, जीवन मुक्ति अतीति ॥

कबीर ग्रन्थावली पृ० १७

था। इस प्रकार के जप-योग में मंत्रावृत्ति केवल मन में की जाती है। महाराज मनु ने इस मानव-जप का बड़ा भारी महत्व बतलाया है। उनके मतानुसार "दसपौर्णमास-रूप" कर्म यज्ञों की अपेक्षा जप-यज्ञ दस गुना श्रेष्ठ है। उपांशु-जप सौ गुना और मानस-जप सहस्र गुना श्रेष्ठ है। इस मानस-जप का सबसे सुन्दर और महत्वपूर्ण-रूप अजपा-जाप है। योगी लोग अधिकतर इसी की साधना करते हैं। इस अजपा-जाप में श्वासोच्छ्वास की क्रिया के साथ ही साथ मंत्रावृत्ति की जाती है। इसमें जब श्वास में पूरक होता है तब "सो" का उच्चारण मन-ही-मन में किया जाता है। रेचक श्वास के नीचे लौटने में या बाहर निकालने में "अहं" का मानसिक उच्चारण माना जाता है। प्रारम्भ में पूरक और रेचक के साथ मंत्रावृत्ति की भावना करना बड़ा कठिन होता है किन्तु धीरे-धीरे जब अभ्यास हो जाता है, तब साधक अपनी आत्म-शक्ति के दर्शन करने में समर्थ होता है। अजपा-जाप का सम्बन्ध नाद-साधना से माना जाता है। कहते हैं इक्कीस सौ आठ जप पूर्ण होने पर नाद-जाग्रत होता है। कबीर इस रहस्य से परिचित थे। एक पद में इसी रहस्य का संकेत करते हुए उन्होंने लिखा है—"हे अवधू! योगी संसार से न्यारा होता है। वह निरति की मुद्रा-साधना मे रत रहता है। सुरति-योग ही उसकी सींगी है और अनवरत-भाव से अनहद्-नाद सुना करता है। ब्रह्म-रंध्र में वह ध्यान लगाए रहता है। आत्मा की चौकी पर निवास करता है। ब्रह्म-रंध्र में ध्यान लगाकर वह उस ध्यान से अलग नहीं होता। इस प्रकार वह महारस का पान करता है—इत्यादि।"[1]

---

१ अवधू जोगी जग से न्यारा।
मुद्रा निरति सुरित करि सिंगी, नाद न षंडै धारा॥
बसे गगन में दुनि न देखै, चेतिन चौकी बैठा।
चढ़ि अकास आसन नहिं छाड़ै, पीवै महारस मीठा॥

इस प्रकार कबीर में बहुत-से ऐसे वर्णन मिलते हैं, जिनमें अजपा-जाप के रहस्यात्मक संकेत किए गए हैं। यहां हम विस्तार भय से उनको उद्धृत नहीं कर पा रहे हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर में हमें हठयोग, लययोग, राजयोग, मंत्रयोग तथा और विविध प्रकार के योगों से सम्बन्धित रहस्यपूर्ण-वर्णन मिल जाते हैं। इन वर्णनों को देखकर कबीर की कविता पर चमत्कृत हो जाना पड़ता है। योग—जैसे जटिल विषय का उन्हें सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान था। उनकी काव्यात्मक-प्रवृत्ति और चमत्कारपूर्ण-अभिव्यक्ति ने इस ज्ञान को रहस्यवाद के सांचे में ढालकर और भी जटिल और चमत्कारपूर्ण बना दिया है। निश्चय ही वह हमारी भाषा के सर्वश्रेष्ठ साधनात्मक-रहस्यवादी थे। साधनात्मक-रहस्यवाद या यौगिक-रहस्यवाद में हमें रहस्यवाद की अन्तर्मुखी-प्रक्रिया ही सक्रिय मिलती है। इस प्रकार की प्रक्रिया में रहस्यवादी अपने अन्तर के रहस्यों का ही उद्घाटन करता है। जहाँ कहीं उन्होंने रहस्यवाद की बहिर्मुखी-प्रक्रिया को अपनाने का प्रयत्न भी किया है वहां वे सफल नहीं हो पाए हैं। उनकी बहिर्मुखी प्रक्रिया भी अन्तर्मुख-प्रक्रिया का ही रूप धारण करने लग जाती है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित पद ले सकते हैं—

अवाङ्मनसागोचर-ब्रह्म सर्वव्यापी है तथा संसार के समस्त पदार्थों में व्याप्त है। जो साधक उस ब्रह्म को छोड़कर और किसी का ध्यान करते हैं, वे केवल भ्रम के कारण भुलावे में रहते हैं। ईश्वर का कहना है कि मैं ध्यान—आदि को नहीं जानता ; संसार के प्राणियों के लिए

परगट कन्था माहैं जोगी, दिल मैं दरपन जोवै।
सहस इकीस छः सै धागा, निहचल नीके पीवै॥
ब्रह्म अगिनि में काया जारै, त्रिकुटि संगम जागै।
कहै कबीर सोइ जोगेश्वर, सहज सुंनि ल्यौ लागै॥

कबीर ग्रन्थावल

मेरा पद प्राप्त कर लेना कठिन है। हे प्रभो! मैं आपकी थोड़ी-सी कृपा प्राप्त करने के लिए आपको किस नाम से पुकारूँ! तनिक कृपा कर मुझे यह बतलाइये कि यह शब्द कहाँ से आता है और फिर कहाँ समा जाता है! संसार को केवल शब्द का भी ज्ञान नहीं है। समस्त संसार भ्रम-जाल में फँसा हुआ है। यदि हमारी आत्मा की मुक्ति नहीं होती, तो हम केवल अपने शरीर की मुक्ति को प्राप्त करके क्या करेंगे! जिसे मुनिजन इस शरीर की मुक्ति कहकर पुकारते हैं, वह वास्तव मे शब्द की प्राप्ति ही है। यह शब्द कभी प्रकट हो जाता है और कभी लुप्त हो जाता है। पुनः प्रकट होता है और फिर न जाने कहाँ जाकर छिप जाता है। वास्तव में ब्रह्म का स्वरूप भी ऐसा ही है। उस ब्रह्मानन्द को मनाने वाला साधक भी बार-बार आनन्द-सागर में निमग्न हो जाता है। उसका वर्णन करना अत्यन्त दुष्कर है।[1]

इस पद में पहले तो वे वर्णनात्मक-शैली में बहिर्प्रक्रिया वाले को लेकर चले हैं। बाद मे वे शब्दवाद का आध्यात्मिक-शैली में कथन करने लगते हैं। अतएव रहस्यवाद की बहिर्मुखी-प्रक्रिया अधूरी ही रह जाती है।

---

१ अचंत चंत ए माधौ, सो सब मांहि समांना।
ताहि छाड़ि न आन भजत हूं, ते सब भ्रंमि भुलाना॥
ईस कहें मैं ध्यान न जानूं, दुरलभ निज पद मोहीं।
रंचक करुणां कारणि केसौ, नांव धरण कौं तोहीं॥
कहौ धौं सबद कहाँ थे आवै, अरु फिरि कहाँ समाई।
सबद अतीत का मरम न जानै, भ्रंमि भूली दुनियाई॥
प्यण्ड मुकति कहाँ ले लीजै, जौ पद मुक्ति न होई।
पीडें मुक्ति कहत हैं मुनिजन, सबद अतीत था सोई॥
प्रकट गुपत गुपत पुनि प्रकटत, सो कत रहै लुकाई।
कबीर मनाए परमानंद, अकथ कथ्यौ नहीं जाई॥ कबीर ग्रंथावली

अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद

भावात्मक और साधनात्मक-रहस्यवाद के अतिरिक्त हमें कबीर में एक प्रकार का रहस्यवाद और मिलता है। इस प्रकार के रहस्यवाद में न तो भावात्मक-रहस्याभिव्यक्ति मिलती है और न साधनात्मक रहस्याभिव्यंजना ही। इस प्रकार के रहस्यवाद की रहस्यात्मकता का आभास केवल अभिव्यक्तिमूलक-जटिलता और चमत्कार के कारण होता है। इसीलिए हमने इसे अभिव्यक्तिमूलक-रहस्यवाद का अभिधान दिया है।

अभिव्यक्तिमूलक-रहस्यवाद के भी कई प्रकार और स्वरूप हो सकते हैं। संक्षेप में हम उनका निर्देश इस प्रकार कर सकते हैं—

१—आध्यात्मिक तथ्यों का उलटवासियों के रूप में कथन करना।

२—साधारण-सी बातों को अद्भुत-रूप से रोचक शैली में प्रकट करना।

३—केवल पारिभाषिक-शब्दों के सहारे कुछ अस्पष्ट-शैली में किसी अस्पष्ट-तथ्य का कथन करना।

४—लक्ष्यहीन रूपकों, अन्योक्तियों आदि अलंकारों तथा प्रतीकों आदि की योजना करना।

१. आध्यात्मिक-तथ्यों का उलटवासियों के रूप में कथन—अध्यात्म का विषय सदा से ही बड़ा गूढ़ रहा है। दार्शनिकों की बुद्धि भी कभी-कभी उसे स्पष्ट करने में असफल हो जाती है। फिर दर्शन-शास्त्र का तथ्य-प्रतिपादन-क्रम साधारण समाज के लिए बोधगम्य नहीं होता। दूसरे दर्शन की शैली बड़ी ही शुष्क, नीरस और वर्णनात्मक होती है। उसमें किसी प्रकार का चमत्कार नहीं पाया जाता। चमत्कार और वैचित्र्य के अभाव में वह साधारण जनता को रुचिकर प्रतीत नहीं होती। इसलिए बहुत-से उपदेशक आध्यात्मिक तथ्यों की अभिव्यक्ति विविध प्रकार की चमत्कारपूर्ण-शैलियों में करते रहे हैं। यह क्रम

भारतवर्ष में ही नहीं अन्य देशों में भी रहा है। भारतवर्ष में तो उलटवासियों की परम्परा को विशेष महत्व दिया जाता रहा है। इन उलटवासियों में गूढ़ातिगूढ-तथ्यों की प्रतिष्ठा आदि-काल से की जाती रही है। ऋग्वेद में भी बहुत-से ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें उलटवासी-शैली का प्रयोग किया गया है। अग्नि-सूत्रों में उलटवासियों की भरमार है। उदाहरण के लिए हम दो-एक उक्तियों को प्रस्तुत कर सकते हैं। एक स्थल पर लिखा है—"अग्नि अपने पिता का पिता है और उसे जो जानता है, वह अपने पिता का पिता है।"[1] एक दूसरे स्थल पर एक दूसरी उक्ति इस प्रकार है—"पुत्र होकर भी अग्नि अपनी माताओं को हव्य द्वारा जन्म देते हैं।"[2]

उलटवासियों की यह परम्परा सूत्र और शास्त्रकारों के समय में लुप्त सी हो गई थी किन्तु तंत्रमत के प्रचार से इस परम्परा को पुनः बल मिला। सिद्धों और नाथों में आकर इसका पूर्ण विकास हुआ। निर्गुणिया-कवियों में यह परम्परा अपने विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच गई। कबीर निर्गुणिया-सन्तों के मुखिया थे। इसलिए इन उलटवासियों की उनमें भरमार मिलती है। कबीर की उलटवासियाँ अभिव्यक्तिमूलक-रहस्यवाद का प्राण हैं। इन उलटवासियों में अधिकतर किसी आध्यात्मिक-सत्य की प्रतिष्ठा रहती है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित छोटी सी साखी को ले सकते हैं—

"जब आत्म-तत्व-रूपी समुद्र में ब्रह्म-प्रेम-रूपी अग्नि प्रज्वलित हो जाती है तो कुप्रवृत्तियाँ-रूपी नदियाँ जलकर खाक हो जाती हैं। मछली-रूपी जीव उर्ध्वगामी हो जाता है।"[1] इस प्रकार कबीर को

---

१ ऋग्वेद

२ ऋग्वेद

१ नदियाँ जल कोयला भई, समुन्दर लागी आग।
मंछी रूखा चढ़ गई, देख कबीरा जाग ॥ कबीर ग्रन्थावली पृ० १२

जागृतावस्था प्राप्त हुई। इस प्रकार का एक दूसरा उदाहरण नीचे और दिया जाता है—

"कैसे नगरि करौ कुटवारी, चंचल पुरिष विचषन नारी ॥
बैल बियाइ गाइ भई बांझ, बछरा दूहै तीन्यूं सांझ।
मकड़ी धरि माषी छछिहारी, मास पसारी चील्ह रखवारी ॥
मूसा खेवट नाव बिलइया, मींडक सोवै सांप पहरइया।
नित उठि स्याल स्यंघ सूं जूझै, कहै कबीर कोई बिरला बूझै ॥

इस पद मे उन्होंने गूढातिगूढ आध्यात्मिक-सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति उलटवासियों के रूप में की है। इनमें मानव-शरीर को नगर का प्रतीक माना गया है। साधक-आत्मा उसका वर्णन करने वाली है। वह कहती है कि इस शरीर में कैसे रहा जाय? इसका स्वामी मन और उसकी पत्नी इच्छा दोनों ही चपल और उच्छृंखल हैं। बैल-रूपी अज्ञान नित्य-प्रति अपना विस्तार करता जाता है। सद्बुद्धि-रूपी गाय नित्य-प्रति कल्याण-विधान की भावना से वियुक्त होती जाती है। काल-रूपी बछड़ा मनुष्य-जीवन का यापन करता जाता है। माया-रूपी मकड़ी के घर में कामना-रूपी मक्खी फँस करके जीवन को नष्ट-प्राय करने लगती है। इस प्रकार मास-रूपी मनुष्य, माया-रूपी चील को सौंप दिया गया है। तब भला उसका कल्याण हो भी कैसे सकता है? जीव-रूपी चूहा भवसागर-रूपी समुद्र मे शरीर-रूपी नाव में वासना-रूपी बिलैया की सहायता से खेने का प्रयत्न करता है। वास्तव मे वासना को लेकर जीव का कभी कल्याण नहीं हो सकता। इसी प्रकार मेंढक-रूपी मनुष्य ने अपने को अज्ञान-रूपी सर्प की सुरक्षा में रख छोड़ा है। इस प्रकार इस शरीर-रूपी नगर में अज्ञान-रूपी सियार ज्ञान-रूपी सिंह से युद्ध करता रहता है। शरीर के अन्दर होने वाले ज्ञान और अज्ञान के द्वन्द्व का वर्णन करना ही इस पद में कबीर का प्रधान लक्ष्य है। इस द्वन्द्व का चित्रण उन्होंने विरोधी बातों की चमत्कारपूर्ण-शैली मे उलटवासी के रूप में किया है। इस प्रकार की सैकड़ों उलटवासियां कबीर में

मिलती हैं। उनमें एक प्रकार का अभिव्यक्तिमूलक चमत्कार, दुरूहता, और जटिलता पाई जाती है। इसीलिए हम इन्हें अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद के अन्तर्गत मानते हैं।

साधारण सी बातों को अद्भुत रूप से रोचक-शैली में प्रकट करना—साधारण सी बातों को रोचक-शैली मे अत्यन्त दुरूह और जटिल ढंग से अभिव्यक्त करना कबीर की एक अपनी अलग विशेपता थी। इस प्रकार की उक्तियों में उलटवामीगत-चमत्कार प्रधान नहीं होता। शैली की रोचकता इस प्रकार की अभिव्यक्ति की प्रधान विशेपता होती है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखिल अवतरण को ले सकते हैं—

"हरि के पारे बड़े पकाये, जिनि जारे तिन पाये।
ग्यान अचेत फिरै नर लोई, तार्थं जनमि जनमि डहकाये॥
घील मंदलिया बैलर बावी, कऊआ ताल बजावै।
पहरि चोल नागा दह नाचै, भैसा निरति करावै॥
स्यंघ बैठा पान कतरै, घूँस गिलौरा लावै।
उंदरी वपुरी मंगल गावै, कछु एक आनन्द सुनावै॥
कहै कवीर सुनहु रे संतो, गडरी परवत खावा।
चकवा बैसि अंगारे निगले, समंद आकासा धावा॥"

यह पद बडा ही जटिल और गूढ़ है। यद्यपि अन्तिम पंक्तियों में विरोधात्मक बातों का कथन किया गया है, किन्तु इसका वास्तविक सौन्दर्य मध्य की पंक्तियों में ही अन्तर्निहित है। गदहा चोलना पहनकर नाचता है, भैसा नृत्य करता है आदि बातें बड़ी ही चमत्कारपूर्ण और रोचक प्रतीत होती हैं। प्रतीकात्मक-रूपक में बांधे जाने के कारण ये अपना आध्यात्मिक-अर्थ भी रखती हैं। किन्तु इस आध्यात्मिक-अर्थ को स्पष्ट करना वास्तव में टेढ़ी खीर है। इस ढंग के पद कबीर में बहुत मिलते हैं। इस प्रकार की उक्तियाँ अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद से ही सम्बन्धित मानी जायंगी।

केवल पारिभाषिक शब्दों के सहारे कुछ अस्पष्ट शैली में किसी अस्पष्ट तथ्य का कथन करना—कबीर के अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद की सृष्टि उन्होंने एक दूसरे ढंग से भी की है। वे विविध पारिभाषिक शब्दों के इन्द्रजाल में भी पाठकों की बुद्धि को फँसा लेते हैं। ये पारिभाषिक-शब्द तत्कालीन विविध-दर्शनों और साधनाओं से लिये गए हैं। इनमें से बहुत-से दर्शन और साधनाएँ अब बिल्कुल लुप्त हो गई हैं। कहीं-कहीं पर उनका समझना इसीलिए कठिन हो जाता है। इनके अधिकांश पारिभाषिक-शब्द हठयोग से लिए जान पड़ते हैं। यहाँ पर हम उदाहरण के लिए उनके कुछ हठयौगिक-पारिभाषिक-शब्द उद्धृत कर देना चाहते हैं—

बंकनाली—सुषुम्ना।

मानसरोवर—सहस्रार में स्थित मानसरोवर या अमृतकुण्ड।

मूल—मूलाधार-चक्र।

सुरति—बहिर्मुखी-जीवात्मा।

निरति—अन्तर्मुखी-प्रत्यगात्मा।

अजपा-जाप—मानस-जप का एक प्रकार। इसको अभी पीछे स्पष्ट कर आए हैं।

नाद—शब्द-ब्रह्म।

बिन्दु—जीव-शक्ति।

इस प्रकार के सैकड़ों पारिभाषिक-शब्द कबीर में मिलते हैं। इनके पदों में प्रायः इन शब्दों की योजना पाई जाती है। किसी पद में एक साथ ही कई पारिभाषिक-शब्दों का प्रयोग किया गया है। ऐसे पदों को समझना बड़ा कठिन हो जाता है। इसीलिए हम उन्हें अभिव्यक्तिमूलक-रहस्यवाद के अन्तर्गत मानते हैं।

"आत्माराम एक अद्भुत-प्रेम-भक्ति के बने हुए हिंडोलने पर झूला झूलता है। यह हिंडोला सभी भक्तों तथा सन्तों के लिए विश्राम-स्थली है। सहस्रार में स्थित अमृत-कुण्ड रूपी चन्द्रमा और मूलाधार में स्थित

अमृत-भक्षक कुण्डलिनी के त्रिकोण-रूपी सूर्य के खम्भे पर, दोनों को जोड़ने वाली सुषुम्ना-नाडी-रूपी वंकनाली की डोरी पड़ी हुई है। इस प्रकार यह अद्भुत-हिंडोला तैयार किया गया है। वहाँ पर अनेक साधकों की आत्माएँ-रूपी पंच-सखियाँ झूला झूलती हैं, द्वादश-दल कमल अथवा अनाहत् में अमृत का निवास-स्थान है। जो इस अमृत का पान कर लेता है, वह साधक अमर हो जाता है। समस्त संसार उसके आधीन हो जाता है। सहस्रार-कमल रूपी गगन-मण्डल में ब्रह्म-रन्ध्र रूपी सहज-शून्य है। इसी ब्रह्म रन्ध्र की योगी लोग साधना करते हैं। इस हिंडोले पर झूलने वाला साधक इस लोक और परलोक दोनों के बन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाता है।[1]

इस प्रकार अनेक प्रतीकों के सहारे एक हिंडोले का वर्णन करने के साथ ही साथ वे आगे चलकर गंगा-यमुना के संगम का वर्णन करने लगते हैं। उर्ध्वगामिनी-इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ-रूपी गंगा-यमुना नदियाँ वहाँ प्रवाहित होती हैं। मूलाधार चक्र रूपी कँवल ही इन गँगा-यमुना का घाट है। षटचक्र ही इन सरिताओं से जल लेने वाली गागरी हैं तथा अन्तिम चक्र के निकट स्थित त्रिकुटी-सन्धि ही मानो गंगा-यमुना का संगम है। इस प्रकार गंगा-यमुना के रूपक के सहारे

---

१ हिंडोलना तहँ झूले आतमराम।
प्रेम भगति हिन्डोलना सब संतन को विश्राम॥
चंद सूर दुई खम्भवा वंकनालि की डोर।
झूलै पँच पियारियाँ तहँ झूलै जिय मोर॥
द्वादस गम के अन्तरा तहाँ अमृत का बास।
जिनो यह अमृत चाखिया सो ठाकुर हम दास।
सहज सुन्नि को नेहरो गगनमण्डल सिरमौर।
दोऊ कुल हम आगरी जो हम झूलैं हिंडोल॥

कबीर ग्रन्थावली

हठयौगिक-वर्णन किया गया है ।[1]

कबीर ने इस पद में चन्द, सूर, बंकनालि, सुन्नि, गगनमण्डल, गंगा, जमुना, मूल, कम्वल, षट्चक्र, त्रिवेणी आदि कई पारिभाषिक-शब्दों का प्रयोग एक साथ किया है। चूँकि ये शब्द हठयोग के हैं, अतः यह हठयौगिक रहस्यवाद और पारिभाषिक-शब्दमूलक-रहस्यवाद दोनों का उदाहरण हैं। ऐसा ही एक उदाहरण और है—

"हे मन मोहन बीठुला ! यह मन अब तुझ में रमा हुआ है। अब मेरा मन तेरे ही चरण-कमलो में लगा हुआ है। मुझे अब और कोई अच्छा नहीं लगता। तू षठदल कमल में निवास करता है तथा साधक को कठिनाई से उपलब्ध होता है। श्रीरंग अष्टदल-कमल में निवास करते हैं तथा वहाँ पर क्रीडाएं किया करते हैं। साधक अत्यन्त घोर तपस्या करने के उपरांत ही वहाँ तक पहुँच पाता है। उस स्थान तक काल भी नही पहुँच सकता। इन श्रीरंग की प्राप्ति उसी साधक को हो सकती है जिसे सद्गुरु की प्राप्ति हो जाती है अन्यथा साधक का सम्पूर्ण जीवन व्यर्थ जाता है। कदली-कुसुम-दल के भीतर दस अंगुल का स्थान है। वहाँ पर द्वादस-कमल को खोज लेने के पश्चात् साधक को मृत्यु से छुटकारा मिल जाता है। फिर उसे आवागमन से मुक्ति मिल जाती है। वहाँ पर सुषुम्ना रूपी बंकनालि के अन्दर पश्चिम दिशा के मार्ग से ब्रह्म-रन्ध्र में सदा अमृत का झरना झरता रहता है। उस भंवर-गुफा के घाट पर रह कर, वहाँ सदैव झरने वाले अमृत रस का पान करने से, तथा त्रिकुटि-सन्धि रूपी त्रिवेणी मे स्नान करने से, अर्थात समाधि लगाने से, सुरति पर अधिकार हो जाता है। फिर और अधिक प्रतीक्षा नही करनी पड़ती। साधक

---

१ अरध ऊरध की गंग जमुना मूल कँवल कौ घाट ॥
षट्चक्र की गागरी त्रिवेणी संगम घाट ॥

कबीर ग्रन्थावली

तुरन्त ब्रह्म-लोक को प्राप्त करता है, जिसे सनकादिक ऋषियों ने प्राप्त किया है ।[1]

इसी प्रकार सहस्रार-कमल रूपी गगन-मण्डल का वर्णन भी उन्होंने रहस्यात्मक शैली मे प्रतीकों के सहारे अभिव्यक्त किया है । "गगनमण्डल पर गरज-गरज कर मेघ उमड़ते हैं तथा अनन्त तारे दिखाई देते हैं । बिजलियाँ चमकती हैं तथा बादलो से अमृत की वृष्टि होती है । उस अमृत-वृष्टि से समस्त सन्त लोग भीग जाया करते हैं । जब षोडश-दल-कमल विकसित हो उठता है तब, वनवारी के दर्शन होते हैं । उस समय पुनर्जन्म, मृत्यु, जरा-व्याधि आदि से मुक्ति मिल जाति है । इसकी प्राप्ति सद्गुरु की कृपा से ही होती है अन्यथा जन्म निरर्थक ही व्यतीत हो जाता है । कबीर ने इस प्रकार सहज-समाधि की अवस्था को प्राप्त कर लिया था तथा उसी में वे लीन

---

१ मन के मोहन बीठुला, यह मन लागौ तोहि रे ।
चरन कँवल मन मानिया और न भावै मोहि रे ।। टेक ।।
षटदल कँवल निवासिया चहु को फेरि मिलाइ रे ।
दहु के बीच समाधियाँ तहाँ काल न पासै आई रे ।।
अष्ट कँवल दल भीतरा तह श्रीरंग केलि कराइ रे ।
सद्गुरु मिलै तो पाइए नहिं तो जन्म अकारथ जाइ रे ।
कदली कुसुम दल भीतरा तँह दस अंगुल को बीच रे ।
तहाँ दुआदस खोजि के जनम होत नहीं मीच रे ।।
बँक नालि के अन्तरे पछिम दिसा की बाट रे ।
नीझर झरै रस पीजिए तहाँ भँवर गुफा के घाट रे ।।
त्रिवेणी मनाह न्हवाइए सुरति मिलै जो हाथि रे ।
तहाँ न फिरि मघ जोइए सनकादिक मिलहैं साथि रे ।।

कबीर ग्रन्थावली

रहते थे।"[1]

उपर्युक्त पदो मे पटदल-कँवल, अष्टदल-कँवल, वंकनालि, भंवरगुफा त्रिवेणी, गगन, षोडस कवल, आदि पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया गया है। इस कारण तो इसमें अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद है। यौगिक बातो का वर्णन होने के कारण यह हठयौगिक या साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत भी आता है। प्रारम्भिक पक्तियो मे भावो की प्रधानता होने के कारण इसमे हम अनुभूतिमूलक रहस्यवाद की छाया भी पाते हैं।

यहाँ पर इस प्रकार के रहस्यवाद की व्यंजना करने वाले कुछ पारिभाषिक शब्दो और उनके अर्थों का उल्लेख कर देना आवश्यक है

षट्कर्म-धौति, गजकरणी, वास्ति, नौलि, नेति, और कपालभाति। कोई-कोई त्राटक समेत सात कर्म भी मानते हैं।

षटचक्र—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, और आज्ञाचक्र।

षोडस आधार—दाहिने पैर का अंगूठा, गुल्फ, गुदा, लिंग, नाभि, हृदय, कण्ठकूप, तालु—मूल, जिह्वा-मुल, दन्त-मूल नासिकाग्र, भ्रूमध्य, नेत्र-मण्डल, ललाट, मस्तक और सहस्राट।

योग के अष्टाग—यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

---

१ गगन गरजि मघ जोहिए तहाँ दीसै तार अनन्त रे।
बिजरी चमकी घन बरसि है तंह भीजत सब सन्त रे॥
षोडस कँवल जब चेतिया तब मिलि गए बनवारी रे।
जुरा मरण भ्रम भाजिया पुनरपि जनम निवारि रे॥
गुरु गमि ते पाइये झंखि मरै जिनि कोइ रे।
तहाँ कबीरा रमि रहा सहज समाधि जोय रे॥
कबीर ग्रन्थावली

पंच-क्लेश—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेश।

इस प्रकार के सैकड़ों पारिभाषिक शब्द और प्रचलित हैं। कबीर ने कभी-कभी इस ढंग के शब्दो के प्रयोग के सहारे पारिभाषिक-शब्द-जनित रहस्यवाद की सर्जना की है। यहाँ पर इस प्रकार के रहस्यवाद के दो-एक उदाहरण दे देना अनुपयुक्त न होगा। देखिए एक साखि में कलाओ और विद्याओ का सकेत उनके समूह के सहारे किया गया है—

"मनुष्य चाहे चौंसठ कलाओं मे निपुण हो और चाहे १४ विद्याओ में पारंगत हों, किन्तु गोविन्द-ज्ञान के विना वह अज्ञानी ही रहता है। उसका हृदय सच्चे ज्ञान से ज्योतित नही होता।"[1] यहाँ पर यदि चौसठ और चौदह का सांकेतिक अर्थ न विदित हो तो साखी समझ में नही आ सकती। अपनी इस जटिलता के कारण यह साखी अभिव्यक्ति-मूलक रहस्यवाद के अन्तर्गत आती है। इस तरह के और बहुत से उदाहरण कबीर में ढूँढे जा सकते हैं।

कबीर के रहस्यवाद की अभिव्यक्ति

रहस्यात्मक अनुभूतियाँ—रहस्यवाद का सौन्दर्य बहुत-कुछ उसकी अभिव्यक्ति पर आधारित रहता है। रहस्यवादी उस रहस्यमय से भावात्मक-तादात्म्य अथवा प्रणय-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए व्याकुल रहता है। इसी व्याकुलता की स्थिति मे वह प्रियतम का ध्यान करते-करते उसके प्रेम में निमग्न हो जाता है। इसी भाव निमग्नता की स्थिति में साधक को रहस्यमय की ऐसी झाँकियाँ दिखाई पड़ती हैं, जिनका वह वर्णन नहीं कर सकता है। वह स्थिति

---

१ चौंसठ दीवा जोय करि, चौदह चँदा माँहि।
तिहि घर किसको चानिडो, जेहि घर गोविन्द नाँहि॥
कबीर ग्रन्थावली

वास्तव मे अनिवेद्य होती है। इस बात को प्राच्य और पाश्चात्य सभी साधको ने स्वीकार किया है। पाश्चात्य विद्वान् जेम्स ने अपनी रहस्यानुभूति की स्थिति का संकेत करते लिखा है कि उसकी उस रहस्यमय की अनुभूति ठीक उसी प्रकार होती है, जैसे कोई मस्तिष्क मे गूँजती हुई स्वर-लहरी की होती है। स्वर लहरी के रस की अनुभूति तो होती है, किन्तु उसका वर्णन नही किया जा सकता। इसके सम्बन्ध मे उसने स्वय लिखा है—

"यह अनुभूति बडी धुंधली होती है। इसका वर्णन करना कठिन होता है। विशेषतः नैतिक-पतन के अवसर पर रहस्यमैय की यह अनुभूति मुझे प्रेरणा प्रदान करती है। यदि यह अनुभूति मुझसे छीन ली जाय तो मेरा जीवन शून्य-रूप हो जायगा।"[1]

रहस्यवादी अनुभूति की श्रद्धामूलकता—इस प्रकार की अनुभूति तर्कमूलक न होकर श्रद्धामूलक होती है। सत्य की अनुभूति वास्तव मे श्रद्धा ही से हो सकती है—"Theologia Germanica" मे इस तथ्य को इस प्रकार प्रकट किया है—"He, who would know before he believeth, cometh never to true knowledge"

---

1 It is very vague and impossible to describe or put into monds.........Especially at times of moral crisis, it comes to me, as the sense of an unknown something backing me up. It is most indefinite, to be sure rather faint. And yet I know if it should cease there would be great hush great void in my life.

The Religious Philosophy of William James,
by J. B. Pratt.

अर्थात् वह, जो किसी सत्य की अनुभूति के लिए ज्ञान का आश्रय लेता है, उसकी अनुभूति नहीं कर पाता। उसकी अनुभूति वही कर सकता है जो श्रद्धा के सहारे उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए श्रुति में एक कथा दी हुई है। एक शिष्य अपने गुरु से ब्रह्म-सम्बन्धी प्रश्न पूछता है; गुरु अनेक तर्कों के सहारे उसे ब्रह्म का स्वरूप समझाता है। किन्तु वह सत्य का स्वरूप समझने में असमर्थ रहता है। इस पर गुरु बरगद के एक फल को लेकर शिष्य से उसे तोड़ने के लिए कहता है। शिष्य उसे तोड़ता है। उसमें गुठली निकलती है। वह उससे गुठली तोड़ने का आग्रह करता है। जब शिष्य गुठली तोड़ता है तो गुरु जी पूछते हैं इसके अन्दर क्या है? उत्तर में शिष्य कहता है इसमें कुछ नहीं है। इस पर गुरु ने उसे समझाया कि यदि कुछ न हो तो फिर इतना बड़ा वट-वृक्ष कैसे उत्पन्न होता। इसमें कुछ है अवश्य, किन्तु वह तर्कसिद्ध नहीं है। उसका ज्ञान श्रद्धा से ही हो सकता है। रहस्यवादी की अनुभूति भी श्रद्धा-समन्वित होती है। वह अपने प्रियतम के गुण रूप आदि के प्रति श्रद्धा करता है। यह श्रद्धा ही उसके भावलोक में मूर्तिमान होती है। वह उसी में तन्मय रहता है। तर्क की पहुँच कुछ सीमाओं तक ही रहती है, किन्तु श्रद्धा असीम को भी मूर्तिमान कर देती है। हमारी वाणी ससीम है। ससीम से असीम की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। किन्तु असीम की श्रद्धा-मूलक अनुभूतियों को, उनकी प्रेयता और श्रेयता के कारण ससीम रहस्यवादी बिना अभिव्यक्ति किए नहीं रह सकता है। इसके लिए उसे अभिव्यक्ति की विविध प्रतीकात्मक प्रणालियों का आश्रय लेना पड़ता है।

रहस्यवादी की दृष्टि—रहस्यवादी की दृष्टि भी सामान्य मानव से भिन्न होती है। रहस्यवादी की सबसे प्रधान विशेषता उसकी भावुकता है। यही प्रत्यक्ष में अप्रत्यक्ष का आरोप करना सिखाती है। एक प्रत्यक्ष में आरोप भी द्विविध, त्रिविध यहां तक कि चतुर्विध तक होता

है। एक अंग्रेज कवि ने इस प्रकार की दृष्टि का वर्णन करते हुये लिखा है— .

"इस संसार मे जो बात दूसरे मनुष्यों को संघर्षमय प्रतीत होती है, वही मुझे मुस्कराहट एव अश्रुओं से भर देती है, क्योंकि मेरी दृष्टि सदा द्विमुखी रहती है। इसी कारण मुझे दृश्य भी सदा द्विविध दिखाई देते हैं। अपनी आतरिक दृष्टि से मैं चिर सत्य को देखता हूँ तथा अपनी वाह्य दृष्टि से मैं सामान्य वस्तु की धुँधलाहट को देखता हूँ। अब मैं चतुर्मुखी दृष्टि से देखने लगा हूँ। इस कारण मुझे सदा चतुर्विध दृश्य दिखाई देने लगे हैं। आगे कवि का कथन है कि वह उस असीम के आनन्द के दर्शन के लिए सदा चतुर्मुखी दृष्टि रखता है। वसन्त की सुहावनी रातों मे मेरी दृष्टि त्रिमुखी होती है। ईश्वर सदा हमें द्विमुखी दृष्टि प्रदान करे तथा सदैव वैज्ञानिक की एकाङ्गी दृष्टि से हमें बचाये रखे।"[1]

---

1 What to others is a triffle appears,
Fills mo full of smiles or tears,
For double the vision my eye does see,
And a double vision is always with me.
With my inward eye, 'tis an old mangray,
With my outward, a thistle across my way,
Now I a four-fold vision see,
And a four-fold vision is given to me.
'Tis four-fold in my supreme delight,
And three-fold in soft Beula's night,
And two-fold always May God us keep,
From single vision and Newton's sleep.
—Mysticism in English poetry

इस प्रकार इस अङ्गरेज रहस्यवादी की दृष्टि कभी द्विमुखी, कभी चतुर्मुखी तक हो जाती थी। इसका कारण उसकी कल्पना थी। उसकी कल्पना ज्यों-ज्यों गतिवती होती जाती थी, उसकी दृष्टि भी उतनी ही विस्तृत होती जाती थी। इस प्रकार की विविध प्रकार की प्रतीक-प्रधान चमत्कारपूर्ण अभिव्यंजना की शैलियों को अपनाना पड़ जाता है।"

रहस्यवाद की अभिव्यक्ति की विविध प्रणालियाँ—महात्मा कबीर ने अपनी रहस्यात्मक अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए विविध प्रकार की अभिव्यंजना-पद्धतियों का प्रयोग किया है, सक्षेप मे वे इस प्रकार है—

१—प्रतीक-पद्धति

२—उलटवासी-पद्धति

३—अलकार-पद्धति।

प्रतीक पद्धति—अनभिव्यक्त को व्यक्त करने के लिए तथा व्यक्त को रहस्यमय बनाने के लिए प्रतीकों का प्रयोग सभी देशों में अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है। विविध उदाहरण देकर हम निबन्ध का विस्तार नहीं करना चाहते हैं। यहा पर हम केवल महात्मा कबीर की प्रतीक-पद्धति पर विचार करेंगे। महात्मा कबीर की प्रतीक-पद्धति एक ओर तो सूफियों से प्रभावित थी और दूसरी ओर नाथ-पंथियों से।

स्त्री का महत्व—सूफी रहस्यवादी साधकों ने दिव्य-प्रेम को अपनी साधना में बहुत अधिक महत्व दिया है। लोक में इस दिव्य प्रेम का प्रतीक स्त्री है। जलालुद्दीन रूमी ने उसके सम्बन्ध में लिखा है— "स्त्री ईश्वर-ज्योति की किरण है। वह लौकिक-प्रेमिका मात्र नहीं

होती। वह सृष्टा भी है। हम यों कह सकते हैं कि उसकी सृष्टि ही नहीं की गई।"[1]

यही कारण है कि सूफी साधकों ने अपने दिव्य प्रेम की अभिव्यक्ति प्रेमी-प्रेमिका के प्रतीकों के सहारे की है। महात्मा कबीर ने भी इन प्रतीकों को अपनाने का प्रयत्न किया था। किन्तु मर्यादावादी भारतीय सन्त होने के कारण उन्होंने उन्हें प्रेमी और प्रेमिका के रूप में न अपना कर पति और पत्नी का रूप दे दिया है। कबीर के रहस्यवाद का प्राण वास्तव में वह दाम्पत्य-प्रतीक ही है। पीछे प्रणय-तत्व का विवेचन करते समय हम दाम्पत्य-प्रतीको से युक्त सैकड़ों उदाहरण दे चुके हैं। यहां पर हम उनमें से दो-एक की दो-दो पंक्तियों को उद्धृत करके इसको स्पष्ट कर देना चाहते हैं—

१—"हरी मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया।"

२—बहुत दिनन में प्रीतम पाए,
भाग बड़े घर बैठे आए।

सूफी साधकों ने आत्मा और परमात्मा के प्रणय-भाव की अभिव्यक्ति नदी और समुद्र के प्रतीकों से भी की है। जलालुद्दीन रूमी ने एक स्थल पर लिखा है—

"जो तत्व समुद्र का ही है, समुद्र के ही पास जा रहा है। यह उसी स्थान को जा रहा है, जहां से यह आया है। पर्वतों से तीव्र-गति से प्रवाहित होने वाली वेगवती सरितायें तथा हमारे शरीर से आत्मा

---

1 Woman is a ray of God,
She is not the earthly beloved.
She is creative, you might,
Say, she is not created.

Rumi Poet & Mystic-Nicholson.

दोनों की ही गति प्रेम से प्रेरित है।"[1]

महात्मा कबीर ने नदी और समुद्र के प्रतीकों के स्थान पर बूँद और समुद्र के प्रतीकों से आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति की है—

"उस बूँद को खोजने वाला साधक स्वयं भी खो जाता है, जिस प्रकार समुद्र में लीन होने के पश्चात् बूँद को खोजा नहीं जा सकता।"[2]

हठयौगिक प्रतीक—महात्मा कबीर ने बहुत से हठयोग के वर्णन प्रतीकों के सहारे ही किए हैं। इन प्रतीकों की प्राप्ति कबीर को गोरख-पंथियों से हुई थी। गोरख-पंथियों ने ब्रह्मरन्ध्र के लिए शून्य का प्रतीक प्रयुक्त किया है। गोरखनाथ लिखते हैं—

"अजपा जपै सुनि मन धरे।" इत्यादि।

महात्मा कबीर ने भी सुन्न को ब्रह्मरन्ध्र का प्रतीक माना है।

इसी प्रकार सहस्रार के लिए गगन-मण्डल और ब्रह्मरन्ध्र के लिए "औंधा कुँवा" का प्रयोग गोरखनाथ तथा कबीर दोनों ने किया है। गोरखनाथ कहते हैं—

"गगन मण्डल में औंधा कुँआ पाताले पनिहारी"

---

1 That which is of the sea, is going to the sea. It is going to the place whence it come. From the mountain the swift rushing torrent, and from our body the soul whose motion is inspired by love.

—Rumi Poet & Mystic—Nicholsn

२ हेरत हेरत हे सखी रहा कबीर हिराय।
बूँद समानी समुन्द्र में सो कत हेरी जाय॥

कबीर ग्रन्थावली पृ० १७

इसी प्रकार कबीर ने नाथ- पंथियों के और भी बहुत से प्रतीक अपनाए हैं। सिद्धों के कुछ प्रतीक भी उन्होंने ज्यों के त्यों ग्रहण कर लिए थे, जैसे तन्तिपा की निम्नलिखित पंक्तियों को कबीर ने ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है—

"बदल बिआएल गविया बाझे पिटा दुहिए इतना सांझे।"

इसी का रूप बदलकर कबीर कहते हैं—

बैल बिवाय गाइ भई बांझ,
बछरा दूहै तीन्यों सांझ।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर सिद्धों और नाथों की प्रतीक-पद्धति से प्रभावित हैं।

कबीर ने बहुत से प्रतीक हठयोग के ग्रन्थों से भी ग्रहण किए थे। "हठयोग प्रदीपिका" में पिंगला नाड़ी का सूर्य और इड़ा नाड़ी का चन्द्र के प्रतीक से वर्णन किया गया है—

"प्राण-वायु को सूर्य के द्वारा आकर्षित करके उदर-मार्ग से शनैः-शनैः ऊर्ध्वगामी बनाना चाहिए। इस प्रकार विधिवत कुम्भक क्रिया करने के पश्चात् पुनः चन्द्र के द्वारा रेचन क्रिया करनी चाहिए।"[1]

सूर्य और चन्द्र के प्रतीकों को स्पष्ट करते हुए टीका में इस प्रकार लिखा है—

"सूर्येण सूर्यनाड्या पिंगलया।"

इसी प्रकार "चन्द्रेण" को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"चन्द्रेण इडया।"

कबीर ने भी बहुत से स्थलों पर इड़ा और पिंगला के लिए चन्द्र और सूर्य के प्रतीकों को अपनाया है।

---

१ प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः।
विधिवत्कुम्भकं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत्॥

हठयोग प्रदीपिका

यौगिक-ग्रन्थों में संख्यामूलक प्रतीकों की भी योजना मिलती है। उदाहरण के लिए त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद् में लिखा है—

"अठारह मर्म-स्थानों का भेदन करके जब ध्यान को दूसरे स्थानों से हटाकर किसी एक स्थान पर केन्द्रित कर दिया जाता है, तब उसे प्रत्याहार कहते हैं।"[1]

अब यहां पर यदि अष्टादश मर्म-स्थानों का नाम ज्ञात न हो, तो बात अस्पष्ट रह जायेगी। कबीर ने १८ के स्थान पर सोलह मर्म-स्थान माने हैं। अन्य यौगिक-ग्रन्थों में १६ ही माने गए हैं। उनकी अभिव्यक्ति उन्होंने "सोरह मधे पवन झकोरिया" लिखकर की है। इस प्रकार संख्यावाचक प्रतीकों का प्रयोग कबीर ने विविध प्रकार से किया है।

महात्मा कबीर ने कुछ मौलिक प्रतीकों की भी कल्पना की है। सात्विक प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने बालक और माँ के प्रतीकों को अपनाया है—

"हरि जननी मैं बालक तेरा।"

कबीर में मौलिक प्रतीकों की कमी नहीं है। देखिये उन्होंने निम्नलिखित साखी में नदी के प्रतीक से कुप्रवृत्तियों का संकेत किया है, तथा ब्रह्म के लिए समुद्र का प्रतीक कल्पित किया है, वह लिखते हैं—

"समस्त कुप्रवृत्तियां रूपी नदियां जल कर कोयला हो गई हैं तथा ब्रह्माग्नि प्रज्वलित हो उठी है। जीव-रूपी मछली सुषुम्ना रूपी वृक्ष पर चढ़ गई हैं।"[2]

---

१ यद्याष्टादश भेदेषु मर्मस्थानेषु धारणम्।
स्थानात् ध्यानं सामाकृष्य प्रत्याहारः स उच्यते॥

त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद्

२ नदियां जल कोयला भई समुन्दर लागी आग। कबीर ग्रन्थावली
मंछी रूखा चढ गई देख कबीर जाग॥ पृ १२

इस प्रकार देखिए निम्नलिखित साखि में जोगी को आत्मा का प्रतीक कल्पित किया गया है तथा झल विरह की द्योतक है। खपरा शरीर का बोधक माना जा सकता है। विभूति मिट्टी के लिए प्रयुक्त किया जान पड़ता है।

"जब जोगी रूपी आत्मा की विरह रूपी अग्नि जल उठी, उसकी कर्म रूपी झोली जल गई। शरीर रूपी खप्रा चूर-चूर हो गया, तब आत्मा रूपी जोगी परमात्मा में लीन हो गया। इस संसार रूपी आसन पर केवल मिट्टी मात्र अवशिष्ट रह गई।"[1]

इसी प्रकार कबीर ने अपने रहस्यवाद की अभिव्यक्ति विविध प्रकार के प्रतीकों के सहारे की है। उन सबका उल्लेख किया जाय तो एक पोथा बन जायगा।

उलटबासियाँ—कबीर ने अपने रहस्यवाद की अभिव्यक्ति उलटबासियों के सहारे भी की है। उलटबासियों की परम्परा भी बहुत प्राचीन है। अनिवेद्य रहस्यात्मक गूढ बात ऋग्वैदिक काल से लेकर आज तक उलटबासियों में ही कही जाती रही है। कबीर को सिद्धों, तान्त्रिकों तथा सूफियों से उलटबासियो की परम्परा मिली थी। उस परम्परा को उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर विकसित किया था। कबीर की उलटबासियां अधिकतर विरोधमूलक अलंकारों के सहारे खड़ी की गई है। विरोधमूलक अलंकारों में सबसे प्रधान विभावना, विरोधालंकार, असंगति, विषम, विचित्र, अधिक और व्याघात आदि प्रमुख हैं। कबीर का अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद अधिकतर अलंकारों के सहारे विकसित हुआ है। निम्नलिखित रहस्यात्मक बेलि का वर्णन देखिए—

---

१ झल उठी, झोली जली, खपरा फूटिम फूट।
जोगी था सो रमि गया आसणि रही बिभूति॥

कबीर ग्रन्थावली ११

"यह माया रूपी वेलि अत्यन्त अनिर्वचनीय है। इसे जितना अधिक अग्रभाग से जलाया जाता है, उतना ही पृष्ठभाग से हरी होती जाती है। यह ऐसा विचित्र वृक्ष है कि जड़ काटने पर फल लगते हैं।[1] ज्यों-ज्यों इसे काटा जाता है अथवा ज्यों-ज्यों इससे बचने की चेष्टा की जाती है त्यों-त्यों यह बढ़ती है। जितना ही अधिक इसे भक्ति-रस से सींचा जाता है, उतना ही यह कुम्हलाती जाती है। इस निगुणवती माया रूपी वेलि के गुणों का वर्णन नहीं किया जा सकता।[2]

उपर्युक्त साखियों में उलटवासी की योजना विशेपोक्ति विभावना और विरोध के संकर से हुई जान पड़ती है।

कहीं-कहीं उलटवासियों की योजना प्रतीकों के सहारे भी की गई है। एक जगह वे लिखते हैं—

'जो साधक कथनी और करनी दोनों से ही निज तत्व आत्मा को पहचानता है उसकी कहानी को कहना दुष्कर है। वह तो धरती रूपी कुण्डलिनी शक्ति को उलट कर अर्थात् ऊर्ध्वगामिन बनाकर उसे आकाश अर्थात सहस्रार तक ले जाता है। इस प्रकार वह सूर्य को चन्द्रमा द्वारा ग्रसित करता है—ऐसा पूर्वजों का कथन है। चन्द्र से बहने वाला अमृत सूर्य रूपी प्याले में आकर सूख जाता है। सुषुम्ना नाड़ी में सदा ब्रह्मानन्द रस भरा रहता है। इसकी प्राप्ति कोई विरला योगी ही कर सकता है जो कुण्डलिनी रूपी धरणी को

---

१ आगे आगे दौं जलै पीछै हरिया होय।
बलिहारी ता बिरख की जड़ काट्या फल होय॥
कबीर ग्रन्थावली पृ० ८६

२ जे काटौ तौ डहडही सींचौं ता कुम्हिलाय।
इस गुणवतीबेली का कुछ गुण न कहा जाय॥
ग्रन्थावली पृ० ८६

सहस्रार रूपी गगन-मण्डल तक ले जाता है ।[1]

इन पंक्तियों में धरती मूलाधार का प्रतीक और आकाश ब्रह्मरन्ध्र का प्रतीक माना गया है। इन दोनों प्रतीकों के प्रयोग से "अकथ कहाणी" कही गई है।

बहुत से स्थलों पर उलटवासियों तथा रूपकात्मक प्रतीकों के सहारे रहस्यवाद की सृष्टि की गई है—

"हे अवधू ! वही जोगी मेरा गुरु हो सकता है जो इस पद का अर्थ समझता है। सहस्रार रूपी एक वृक्ष बिना ही तने के खड़ा हुआ है। इसमें बिना ही फूलों के फल लगते हैं। इसमें न तो शाखाएँ हैं और न पत्र ही हैं किन्तु फिर भी वह आठवें आकाश—अर्थात ब्रह्म-रंध्र तक पहुँचा हुआ है। वहाँ बिना पैरों के, बिना ही बाजे के नृत्य होता है और बिना जिह्वा के गीतों के सदृश मधुर नाद होता है। उस नाद स्वरूपी ब्रह्म का कोई रूपाकार नहीं है। सच्चा गुरु ही उसको दिखा सकता है।"[2]

---

१ कहणी रहणी निज तत जाणी,
वहु सब अकथ कहाणी ।
धरती उलटि आकासहिं आसै,
यहु पुरिषा की बाणी ॥
बाझ पियालै अमृत सो सोख्या,
नदी नीर भरि राष्या ।
कहै कबीर ते बिरला जोगी,
धरिण महा रस चाष्या ॥ कबीर ग्रन्थावली

२ अवधू सो जोगी गुरु मेरा, जो या पद का करै निबेरा ॥
तरवर एक पेड बिन ठाढा, बिन फूला फल लागा ॥
साखा पत्र कछु नहिं वाके अष्ट गगन मुख बागा ।
पैर बिन निरति करै बिन बाजै जिभ्या हीणां गावै । कबीर
गावणहारे के रूप न रेखा सत गुरू होय लखावै ॥ ग्रन्थावली

उपर्युक्त पद में तरुवर को प्रतीकात्मक उलटवासी के रूप में खड़ा किया गया है।

प्रतीकात्मक रूपक-प्रधान उलटवासियां—कहीं-कहीं कबीर ने प्रतीकात्मक रूपक-प्रधान उलटवासियों की सृष्टि अद्भुत रस के सहारे की है। निम्नलिखित पद ऐसा ही है—

ऐसा अद्भुत मेरे गुरु कथ्या, मैं रह्या उभैषै।
मूसा हस्ती सो लड़ै कोई विरला पेखै॥
मूसा पैठा बाम्बि में लारै सापणि धाई।
उलटि मूसै सापणि गिली यह अचिरज भाई॥
चींटी परवत ऊखड़्या ले राख्यो चौड़ै।
मुर्गा मिनकू सू लड़ै, झल पाणी दौड़ै॥
सुरही चूंपै बछतलि बछा दूध उतारै।
ऐसा नवल गुणी भया सारदुलहि मारै।
भील लुक्या बन बीझ में ससा सर मारै।
कहैं कबीर ताहि गुरु करौं जो यह पदहि विचारै॥"

कबीर में प्रगल्भ उलटवासियों की भी कमी नहीं है। वे प्रत्यक्ष विरोधी और असम्भव बात सीधे-सादे ढंग से कहते हैं—

"बिटिया ने बाप जायो।" (बीजक)

अथवा

"बांझ का पूत पिता बिन जाया।" इत्यादि (बीजक)

इसी प्रकार कबीर के रहस्यवाद की अभिव्यक्ति में उलटवासियों ने बड़ा योग दिया है।

कबीर के रहस्यवाद की अभिव्यक्ति में अलंकारों का महत्व—अभिव्यक्ति को चमत्कार और बल प्रदान करने में अलंकार बहुत अधिक सहायक होते हैं। भामह ने अलंकार की परिभाषा देते हुए लिखा है—

"वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचलंकृति।"

अर्थात् शब्द और वैचित्र्य ही अलंकार है। वामन ने भी "सौन्दर्यमलंकारः" अर्थात् सौन्दर्य ही अलंकार है कहकर अभिव्यक्ति-सौन्दर्य को ही अलंकार कहा है। रुद्रट ने लिखा है—"अभिधान प्रकार विशेषा एव अलंकाराः" अर्थात् अभिव्यक्ति की विशेष प्रणालियाँ ही अलंकार कहलाती हैं।

रूपक—रहस्यवाद में अभिव्यक्तिमूलक चमत्कार भी पाया जाता है। यही कारण है कि रहस्यवादी कबीर ने अलंकारों का भी आश्रय लिया है। उनके रूपक लोक-प्रसिद्ध हैं। विद्वत्समाज में जिस प्रकार कालिदास की उपमाएँ प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार कबीर के रूपक भी प्रसिद्ध हैं। रूपक उनके रहस्यवाद का सर्वस्व है। उनके रूपक विविध आधारों को लेकर खड़े किए हैं। यहाँ पर उनके कुछ रूपकों पर संक्षेप में संकेत कर देना अनुपयुक्त न होगा।

हठयौगिक रूपक—कबीर योगी सन्त थे। हर समय हठयोग की चर्चा और अभ्यास करने के कारण उनकी बुद्धि हठयौगिक रूपकों की ओर अधिक जाती थी। यहाँ कुछ हठयौगिक रूपकों का उल्लेख कर देना आवश्यक है। एक प्रसिद्ध रूपक इस प्रकार है—

"बंधचि बंधनु पाइया। मुकतै गुरि अनल बुझाइया॥
जब नल सिख यहु मन चीन्हा। तब अन्तर मंजनु कीन्हा॥
पवन पति उन्मनि रसनु खरा। नहीं मिरतु न जनम जरा॥
उलटी लै सकति सहारं। पैसीले गगन मझारं॥
बेधी अले चक्र भुजंगा। भेटी अले राइ निसंगा॥
चुकी अले मोह भइ आसा। ससि कीनो सूर गिरासा॥
जब कुम्भकु भरि पुरि लीणा। तब बाजे अनहद वीणा॥
बकतै बकि सबद सुनाइया। सुनतै सुनि मंनि बसाइया॥
करि करता उतरसि पारं। कहे कबीरा सारं॥

—'संत कबीर'-रामकुमार वर्मा

इस पद में हठयोग का रूपक बांधा गया है। इसे स्पष्ट करते हुए डा० रामकुमार वर्मा ने निम्नलिखित सांकेतिक सुलझाव दिए हैं—

पवनपति होना—प्राणायाम।

प्रवृतियों को रोककर उलटना—प्रत्याहार।

आकाश में गमन—ब्रह्म-रन्ध्र में प्रवेश।

चक्रवेध—षट्-चक्रों की सिद्धि।

भुजंग को वशीभूत करना—कुण्डलिनी की साधना करना।

एकाकी राजा का सत्संग—ब्रह्मानुभूति।

चन्द्र द्वारा सूर्य का ग्रास—सहस्रदल कमल में चन्द्र की सुधा से मूलाधार चक्र के सूर्य के विष का शोषण।

कुम्भक—प्राणायाम में साँस रोकना।

अनहद् वीणा—अनाहत नाद।

कबीर में इस ढंग के हठयौगिक रूपक बहुत पाए जाते है। इनसे उनका हठयौगिक रहस्यवाद सम्पन्न है।

प्रकृतिपरक रूपक—कबीर का जीवन प्रकृति की क्रोड में पला था। उनकी दृष्टि में प्रकृति परिव्याप्त हो गई थी। यही कारण है कि उनके अधिकांश रूपक प्रकृति के पदार्थों या स्वरूपों को लेकर खड़े किए गये हैं। आंधी का यह रूपक दृष्टव्य है—

"देखो भाई ज्ञान की आई आंधी।
सभै उड़ानी भ्रम की टाटी रहै न माइया बांधी॥
दुचितै की दुई थूनि गिरानि मोह बलेडा टूटा।
तिसना छानि परी घर उपरि दुरमति भौडा फूटा॥
आँधी पाछै जो जलु बरखै, तिहि तेरा जनु भीना।
कहि कबीर मन भाइया प्रगासा उदै भानु जब चीन्हा॥"

—संत कबीर

इसमे आंधी का रूपक बांधा गया है। इसमें क्रमश: आंधी ज्ञान के लिए, टाटी भ्रम के लिए 'थूनी' द्विविधा के लिए, 'बलेड़ा' मोह के लिए "छानी" तृष्णा के लिए, 'भोडा' दुर्मति के लिए, 'जल' अनुभूति के लिए, प्रकाश सहज के लिए और भानु ईश्वरीय ज्योति के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

इसी ढंग के और बहुत-से रूपक कबीर मे पाये जाते हैं। समुद्र सरोवर, वर्षा आदि रूपक तो उनमे स्थल-स्थल पर मिलते हैं।

प्रकृति के जीवो को लेकर भी कबीर ने अपने रूपक कल्पित किए हैं। सर्प या सर्पिणी के रूपक, हरिण का रूपक, हाथी के रूपक उनमे बहुत पाए जाते हैं।

पशु-पक्षियो आदि से सम्बन्धित रूपक अधिकतर आकार मे छोटे होते हैं। दो-एक रूपको के उदाहरणो से बात स्पष्ट हो जाएगी। हरिण का रूपक देखिए—

"कबीर हरना दूबला यह हरिआरा तालु।
लाख अहेरी एक जिठ, केता बचऊ कालु॥" —संत कबीर

इसी प्रकार सर्प का यह दूसरा रूपक देखिए—

"कबीर विरह भुंगमु मन बसै, बंद न मानै कोई।
नाम वियोगी न जीयै, जीए त बउरा होय॥" —संत कबीर

कबीर जो रूपक-प्रतीकों का आश्रय लेकर चले हैं, वे जीव-जन्तुओ से सम्बन्धित होते हुए भी थोडा दीर्घकाय हैं। देखिए निम्नलिखित प्रतीकात्मक रूपक दीर्घकाय होते हुए भी बहुत सफल कहा जाएगा।

"सरपनी ते ऊपर नही बलीआ।
जिन ब्रह्मा विष्नु महादेव जलिया॥
मारु मारु सर्पनी निरमल जल पैठी।
जिन त्रिभवणु उसी अले गुरु प्रसादि दीठी॥"

"सपनी सपनी किया कहउ भाई।
जिन साचु पछानिआ तिनि सपनी खाई॥

सपनी ते आन छूछ नहिं अवरा।
सपनी जीती कहा करै जमरा।"
"इह सपनी ताकी कीती होई।
वलु अवलु किआ इस ते होई॥
इह वसती ता वसत सरीरा।
गुरु परसादि सहजि तरै कबीरा॥ —संत कबीर

वयन-व्यवसाय से सम्बन्धित रूपक—कबीर जाति के जुलाहे थे। जुलाहे के घर मे रह कर उन्होने वयन-व्यवसाय का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। यही कारण है कि उनके रहस्यवाद मे हमे जुलाहो की बातो को लेकर बाँधे गए रूपको की भरमार मिलती है। इस प्रकार के रूपक वास्तव मे बहुत कठिन हैं। इसका प्रमुख कारण है कि वयन-प्रक्रिया की जिस सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातो का वर्णन उन्होने किया है, उनसे साधारण समाज परिचित नही है। जुलाहे के निम्नलिखित छोटे से रूपक मे ही देखिए एकाध शब्द ऐसा आ गया है जिसका ज्ञान साधारण समाज को नही होता—

यहि कोरी को काहु मरमु न जाना।
सभु जग आनि तनाइओ ताना॥
जब तुम सुनि ले वेद पुराना।
तब हम इतन कु पसारिओ ताना॥
धरनि अकास की करगह बनाई।
चंद सुरज दुई साथ चलाई॥
पाई जोरि बात इक कीनी वह ताँती मनु मानाँ।
जोलाहे घरु अपना चीन्हा घर ही राम पछानाँ॥
कहत कबीर कारगह तोरी।
सूतै सूत मिलाए कोरी॥ —संत कबीर

इस सरल से रूपक को ही समझना कठिन हो जाता है। इस कोटि के अन्य रूपक तो और भी कठिन हैं। इन रूपको मे गूढ़

आध्यात्मिक सिद्धान्त प्रतिष्ठित किए गए हैं। अभिव्यक्ति की दुरूहता के कारण ही ये अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद के अन्तर्गत आते हैं।

अरूप तत्वों के रूपक—कबीर ने अपने बहुत से रूपक अरूप तत्वों को लेकर कल्पित किए है। इस प्रकार के रूपकों में माया का रूपक बहुत प्रसिद्ध है।

"यह माया रूपी नारी अपने पति अर्थात् भौतिक शरीर के नष्ट हो जाने पर कोई दुख नहीं करती। जब एक शरीर नष्ट हो जाता है, तब यह दूसरे शरीर को अपना लेती है। इस प्रकार माया का बन्धन नित्य है। शरीर इस माया के जाल में पड़कर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार उसे न तो इस लोक में ही सुख मिल पाता है, क्योंकि वह सासारिक भोग-विलासो मे पड़कर नष्ट हो जाता है तथा मृत्यु के पश्चात् उसे नरक यातना झेलनी पड़ती है।"[1]

कबीर ने बहुत-सी जीवन की स्थितियों और घटनाओं को लेकर भी अपने रूपक कल्पित किए हैं। जीवन की सबसे मनोरम परिस्थिति विवाह है। रहस्यवाद वास्तव में आत्मा और परमात्मा के विवाह की ही कहानी है। कबीर ने विवाह की परिस्थिति को लेकर बड़े-बड़े सुन्दर एवं रहस्यपूर्ण रूपक बाँधे हैं। देखिए आत्मा और परमात्मा के मिलन की अवस्था का वर्णन विवाह के सहारे कितने सुन्दर ढंग से किया गया है—

---

१ दुलहिन गावहु मंगलाचार।
हम घर आये हो राजा राम भरतार॥
तन रत करि मैं मन रति करहूँ, पंच तत्त बराती।
राम देव मोरे पाहुने आए, मैं जोवन मद माती॥
सरीर सरोवर बेदी करिहूँ, ब्रह्मा वेद उचार।
राम देव संग भाँवरि लेहूँ, धनि-धनि भाग हमार॥
सुर तेतीस कोतिग आए, मुनिवर सहस अठासी।
कहै कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अविनासी॥ कबीर ग्रन्थावली

कबीर कहते हैं—हे आत्मा रूपी दुलहिन ! तुम मंगलाचार गाओ, हमारे यहाँ हमारे राम रूपी पतिदेव आये हैं। मैं उनके प्रणय में अपना तन-मन न्योछावर कर दूँगी। पंचतत्व उन राम के साथ वाराती वन कर आये हैं। आत्मा रूपी दुलहिन यौवन के मद में चूर है और अपने पति राम से मिलने के लिए व्याकुल है। इस प्रणय-संस्कार के लिए इस शरीर की वेदी वनाई गई है तथा ब्रह्मा जी स्वयं वेद का उच्चारण कर रहे हैं। इस प्रकार आत्मा की परमात्मा के साथ भाँवरें पड़ेंगी। इस विवाह-लीला को देखने के लिए तेंतीस करोड़ देवता और अठासी सहस्र मुनिगण वाराती वने हुए हैं। इस प्रकार इस दिव्य परिणय के सम्पन्न होने के पश्चात् आत्मा परमात्मा के साथ विदा हो रही है।

इतने सांगरूपक की कल्पना करना कवीर जैसे प्रतिभाशाली का ही काम है। वास्तव मे कवीर रूपक योजना में बड़े निपुण थे। उनके रहस्यवाद का सौन्दर्य इन रूपकों से वहुत वढ़ गया है।

अन्योक्तियाँ—रूपकों के अतिरिक्त रहस्यवाद की अभिव्यक्ति में कवीर ने अन्योक्तियों का भी आश्रय लिया है। रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति में अन्योक्तियों और समासोक्तियों का प्रयोग वहुत प्राचीन काल से होता आया है। प्रस्तुत का वर्णन अप्रस्तुत के सहारे करना ही अन्योक्तियाँ हैं। कवीर का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय अध्यात्म ही रहा है। उन्होंने स्वयं कहा भी है—

"लोग जाने यह गीत है, यह तो ब्रह्म विचार।"

इस ब्रह्म-विचार की अभिव्यक्ति के लिए कवीर ने अन्योक्तियों को भी अपनाया था। किन्तु अन्योक्तियों को हम उनकी प्रिय अभिव्यंजना-प्रणाली नहीं कह सकते। उनमें शुद्ध अन्योक्तियों का अभाव है। अन्योक्तियां अधिकतर प्रतीकात्मक एवँ रूपकात्मक हैं। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित पद ले सकते हैं—

"हे जीवात्मा रूपी कमलिनी ! तू क्यों कुम्हला रही है। तेरे इस शरीर रूपी नाल में तो परमात्म-तत्व रूपी जल भरा हुआ है। तेरा जन्म भी परमात्म-तत्व रूपी जल से होता है तथा परमात्म-तत्व रूपी जल सदा तेरे साथ ही निवास करता है। इस कारण तुझको न तो इस शरीर से ही कोई कष्ट होता है और न इस संसार के ताप ही तुझे संतप्त करते हैं। इतने पर भी तू कुम्हलाई हुई दृष्टिगत हो रही है। इसका कारण यह है कि जीवात्मा इस संसार के प्रेम में रत हो जाती है। जब तक जीवात्मा इस संसार मे रत रहती है, तब तक वह परमात्म-तत्व को नहीं पहचान पाती। किन्तु जो साधक पूर्णतः परमात्म-तत्व में लीन हो जाता है, वह अमर पद को प्राप्त हो जाता है। उसे पुनः मृत्यु-संकट नहीं झेलना पड़ता।"[1]

इस पद में प्रतीक-प्रधान अन्योक्ति की योजना हुई जान पड़ती है। कबीर की अन्योक्तियाँ अधिकतर इसी ढंग की हैं। कबीर में ढूँढने से कुछ समासोक्तियाँ चाहे मिल जाएँ, किन्तु समासोक्ति उनका प्रिय अलंकार नहीं था। अन्योक्तियों और समासोक्तियों के अतिरिक्त उनमें और भी बहुत से अलंकार मिलते हैं। किन्तु विरोधमूलक को छोड़कर, जिन की चर्चा हम उलटवासियों के प्रसंग मे कर चुके है, उनमे से किसी का रहस्यवाद से सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए यहाँ पर उनका उल्लेख करना व्यर्थ है।

---

१ काहे री नलिनि तू कुम्हलानि,
तेरे ही नालि सरोवर पानी।
जल में उत्पति जल में वास, जल में नलनी तोर निवास॥
न तल तपति न ऊपरि आगि, तोर हेत कहु कासन लागि।
कहै कबीर जे उदिक समान, ते नहीं मुए हमारे जान॥

कबीर ग्रन्थावली

विशेषताएं

यौगिकता—उपर्युक्त विवेचन से कबीर के रहस्यवाद का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। अब हम उनकी कुछ सामान्य विशेषताओं पर विचार कर लेना चाहते हैं। कबीर के रहस्यवाद की सबसे प्रधान विशेषता उसकी यौगिकता है। कबीर के योगी ने उनके रहस्यवादी को बुरी तरह से दबोच रखा है। यही कारण है कि प्रणय-प्रधान भावात्मक रहस्यवाद भी उनके यौगिक वर्णनों से मुक्त नहीं हो सका है। देखिए उनका 'प्रेम भगति हिडोलना' भी पूर्ण यौगिक ही है—

"यह आतम राम जहाँ हिंडोला झूलता है, वह 'प्रेम-भगति' का बना है। वह समस्त सन्तों के लिए विश्राम-स्थली है। सहस्रार में स्थित अमृत-स्थान रूपी चन्द्रमा और मूलाधार में स्थित अमृत-भक्षक कुण्डलिनी के त्रिकोण रूपी सूर्य के खम्भे पर, दोनों को जोड़ने वाली सुषुम्ना नाड़ी रूपी वँकनाली की डोरी पडी हुई है। इस प्रकार यह अद्भुत हिंडोला तैयार किया गया है। वहाँ पर अनेक साधकों की आत्माएँ रूपी पंच-सखियाँ झूला-झूलती हैं। द्वादश-दल कमल अथवा अनाहत् में अमृत का निवास-स्थान है। जो इस अमृत का पान कर लेता है, वह साधक अमर हो जाता है। समस्त संसार उसके आधीन हो जाता है। सहस्रार कमल रूपी गगन-मण्डल मे ब्रह्म-रन्ध्र रूपी सहज-शून्य है। इसी ब्रह्म-रन्ध्र की योगी लोग साधना करते हैं।"[1]

---

१ हिंडोलना तहँ झूलैं आतमराम।
प्रेम भगति हिडोलना सब संतनि को विश्राम॥
चन्द सूर दोइ खम्भवा वँक नालि की डोरि।
झूले पंच पियारियाँ तहँ झूलैं जिय मोर।
द्वादस गम के अन्तरा तँह अमृत को वास।
जिनि यह अमृत चाखिया सो ठाकुर हम दास॥
सहज सुनि को नेहरो गगन-मण्डल सिरमौर। कबीर ग्रन्थावली
दोऊ कुल हम आगरी जो हम झूलैं हिंडोल॥ पृ० ९४

इसी प्रकार देखिए मुग्धा नवोढा की मिलन की पूर्व की भावनाओ का वह वर्णन करते हैं, किन्तु उनका पर्यवसान योग मे कर देते हैं—

"थर हर कम्पै वाला जीव,
न जाने क्या करसी पीव ।
रैंनि गई मति दिन भी जाय ॥"1

सर्वव्यापकता—कबीर का रहस्यवाद बड़ा ही व्यापक और सर्वतोमुखी है। उसमे रहस्यवाद के सभी स्वरूप, सभी प्रक्रियायें अपनी बहुलता में मिलती हैं। रहस्यवाद की अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी प्रक्रियाओ का संकेत कबीर में ऊपर कई बार किया जा चुका है। यहाँ पर हम यह दिखला देना चाहते हैं कि कबीर में रहस्यवाद के सभी प्रकारो की झांकी भी मिलती है। स्पर्जन नामक विद्वान ने रहस्यवादियो के इन प्रमुख पाँच भेदो का उल्लेख किया है—

(1) Love mystics.
अर्थात् प्रेमवादी रहस्यवादी ।
(2) Beauty mystics.
सौन्दर्यवादी रहस्यवादी ।
(3) Nature mystics.
प्रकृतिवादी रहस्यवादी ।
(4) Philosophical mystics.
दार्शनिक रहस्यवादी ।
(5) Devotional or Religious mystics.
भक्त धार्मिक रहस्यवादी

प्रेमवादी रहस्यवादी कवियो मे अंग्रेज कवि शैली और ब्राउनिंग बहुत प्रसिद्ध हैं। इन प्रेमवादियो का लक्ष्य प्रेम के सहारे आत्मा और परमात्मा का तादात्म्य स्थिर करना है। स्पर्जन ने प्रेमवादियो मे प्रेम

---

१ 'संत कबीर' —रामकुमार वर्मा

की मान्यता के सम्बन्ध में यही बात कही है—

"प्रेमवादी रहस्यवादी प्रेम को जीवन की रहस्यात्मकता का सुलझाव समझते हैं। दूसरे शब्दों में उनके मतानुसार आत्मा और परमात्मा को मिलाने वाला तत्व प्रेम होता है।[1]

कबीर प्रेमवादी रहस्यवादियों के सदृश्य प्रेम को ही प्रियतम से मिलाने वाला तत्व मानते थे। यह प्रेम-तत्व उन्हें गुरु-मंत्र के रूप में मिला था।

"गुरु ने प्रेम का अंक पढाय दिया रे"

"इस प्रेम ने कबीर की आत्मा पवित्र कर दी थी। इस प्रेम के घन ने कबीर की आत्मा, को प्रेम-जलमय बना दिया था। इसके फलस्वरूप कबीर का जीवन-रूपी वन हरा-भरा हो गया था।[2]

कबीर ने प्रेम-सम्बन्ध को लेकर बड़े मनोरम चित्र खींचे हैं। इनका वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। यहाँ अकारण विस्तार नही करना चाहते।

प्रकृति-सम्बन्धी रहस्यवादी प्रकृति में रहस्यानुभूति करता है। अंग्रेजी कवि बायरन और वर्डसवर्थ ऐसे ही रहस्यवादी थे। कबीर की बहुत-सी रचनाएँ प्रकृतिपरक रहस्यवाद के अन्तर्गत आती हैं। उनका यह प्रकृतिपरक रहस्यवाद दो प्रकार का है। एक तो वह, जिनमें उन्होंने प्रकृति का प्रयोग रूपकों के अन्तर्गत किया है, दूसरे वह, जहाँ प्रकृति संदेश-वाहक के रूप में दिखाई गई है।

---

१ They look upon love as the solution of the mystry of life, as the link between God and man.

२ कबीर बादल प्रेम का हम पर वरस्या आय।
अंतरि भीगी आत्मा हरी भई बनराय॥

कबीर ग्रन्थावली पृ० २

उनके आँधी आदि के रूपक प्रथम कोटि के हैं। द्वितीय कोटि का छोटा-सा उदाहरण इस प्रकार है—

माली को आता हुआ देखकर उपवन की कलियाँ पुकार-पुकार कर कहने लगीं कि फूले हुए पुष्पों को तो माली ने आज चुन लिया है। जब हम भी खिल कर तैयार हो जाएंगी तो हमारी भी बारी इसी प्रकार तोड़े जाने की आएगी। इस प्रकार माली उस अज्ञात परमात्मा-तत्व का संदेश कली के व्याज से आत्माओं को देता दिखाई दे रहा है।[1]

इतना स्वीकार करने में हमें संकोच नहीं है कि कबीर ने प्रकृति का प्रयोग बहुत कम किया है और जहां कहीं किया भी है, वहां वह प्रतीक के रूप में अधिक है। मानवीकरण के रूप में भी कबीर ने प्रकृतिपरक रहस्यवाद को अछूता नहीं छोड़ा है।

कबीर प्रधान रूप से दार्शनिक रहस्यवादी मालूम पड़ते हैं। दार्शनिक रहस्यवादी की सारी विशेषताएं कबीर में मिलती हैं। दार्शनिक रहस्यवादी के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए स्पर्जन ने लिखा है—

"रहस्य-भावना, दार्शनिक तब कही जायेंगी जब ये लेखक अपनी धारणाएँ इस ढंग से सामने रखते हैं कि वह बुद्धि और भावना दोनों को समान-रूप से प्रभावित करें। ऐसे लेखक अधिकतर प्रत्यक्ष-रूप से बुद्धिवादी होते हैं और उनका मूल-सम्बन्ध सत्य से होता है।"[2]

---

१ माली आवत देखकर कलियां करी पुकार।
फूले फूले चुन लए कालिह हमारी बार ॥ कबीर ग्रन्थावली

2 The mystical sense may be called philosophical in all those writers, who present their convictions in a philosophic form calculated to appeal to the intellect as well as to the 'emotions'. These writers, as a rule, though not always, are themselves are

महात्मा कबीर की अधिकांश उक्तियां उपर्युक्त कथन की सत्यता प्रकाशित करती हैं। दो-एक उदाहरणों का फिर पिष्टपेषण किए देते हैं। एक लोक-प्रसिद्ध उदाहरण यह है—

"उस असीम के प्रेम का प्रभाव सर्व-व्यापि है। उसके प्रेम का रंग समस्त सांसारिक वस्तुओं में दिखाई देता है। जो उसके प्रेम को खोजने का प्रयास करता है, वह स्वयं भी प्रेममय हो जाता है।"[1]

दूसरा बहुत प्रसिद्ध उदाहरण इस प्रकार है—

"परमात्मा के बीच जीवात्मा और जीवात्मा के बीच परमात्मा की स्थिति ठीक इसी प्रकार है, जिस प्रकार किसी जलाशय में डुबाए हुए पात्र-घट के बाहर और भीतर दोनों ओर जल होता है। यदि यह कुम्भ फूट जाए तो जल, जल में मिल जाता है। ठीक इसी प्रकार यह शारीरिक-बंधन नष्ट होने पर आत्म-तत्व परमात्म-तत्व में लीन हो जाता है। यही ज्ञानी संतों का मत है।"[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर में दार्शनिक रहस्यवाद की भी अच्छी झांकी मिलती है।

चौथी कोटि धार्मिक रहस्यवादियों की होती है। जैसा कि स्पर्जन ने लिखा है, रहस्यवादी सभी धार्मिक होते हैं। किन्तु धार्मिक रहस्य-वादी उसे कहेंगे जो किसी धार्मिक-पद्धति की ओर बहुत अधिक झुका

---

markedly intellectual and their primary concern, therefore, is with truth.

—Mysticism in English poetry—Spurgion.

१ लाली मेरे लाल की, जित देखो तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥

कबीर ग्रन्थावली

२ जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतरि पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यह तथ कथ्यौ गियानी॥

हुआ हो। कबीर अपनी कुछ रचनाओं के प्रकाश में धार्मिक रहस्यवादी भी मालूम पड़ते हैं। उनका वैष्णव-धर्म और वैष्णवी-भक्ति की ओर बहुत अधिक झुकाव था। "मेरे संगी दुई जना, एक वैष्णो एक राम" कह कर उन्होंने यही बात स्पष्ट की है। उनके धार्मिक-रहस्यवाद में उनका भक्त-स्वरूप प्रधान हो गया है—दार्शनिक और योगी-स्वरूप गौण। उनके धार्मिक-रहस्यवाद के सैकड़ों उदाहरण उनकी रचनाओं में ढूंढे जा सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर को हम किसी भी कोटि में नही बांध सकते। उन्होंने रहस्य-भावना की सभी सीमाओं को, सभी मार्गों को, सभी प्रणालियों को छूने का प्रयत्न किया था। यदि हम कोटि-बद्ध करना भी चाहें तो प्रेममूलक योगी, भक्त-दार्शनिक रहस्यवादी कह सकते हैं। इतना कहने से भी उनके स्वरूप की समिष्टमूलकता प्रकट होती है। उनकी इस समष्टिमूनकता का मूल कारण यह था कि उनके व्यक्तित्व में सब-कुछ आत्मसात् करने की विचित्र-शक्ति थी।

कबीर का रहस्यवाद सूफी रहस्यवादी कवियों की अपेक्षा कही अधिक भारतीय है। हम प्रणय-भाव का विवेचन करते समय उनकी मर्यादाप्रियता की ओर संकेत कर चुके हैं। भारतीय द्वैतवाद को तो उन्होंने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया था। किन्तु उसकी अभिव्यक्ति उन्होंने अपने ढंग पर की है। इसलिए वह मौलिक प्रतीत होता है। भारतीय आदर्शों को कबीर ने बड़े उत्साह के साथ ग्रहण किया था। उनके रहस्यवादी प्रेम-भाव का आदर्श भारतीय-सती और भारतीय-सूर हैं। कबीर ने भारतीय अध्यात्मवाद के अनुसार ही माया की मान्यता स्वीकार की है। उन्होंने सूफियों की भाति कही भी रहस्यानुभूति या प्रियतम-मिलन मे शैतान को बाधक नही माना है।

व्यष्टिमूलकता—कबीर का रहस्यवाद व्यष्टिमूनक और वैयक्तिक है। वह वास्तव मे चिन्तामूलक स्वानुभूति का परिणाम है। कबीर के रहस्यवाद में समाज के प्रति सहानुभूति की भावना भी

पाई जाती है। उनकी इस सहानुभूति ने ही उनके रहस्यवादी व्यक्तित्व को लोक-संग्राहक भी बना दिया है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण उनका रहस्यवाद इतना प्रभावपूर्ण और भावमय प्रतीत होता है। वास्तव में वे हमारी भाषा के अप्रतिम रहस्यवादी कवि हैं। उनका रहस्यवाद हिन्दी-साहित्य के लिए अनुपम देन है।

व्यष्टिमूलक होते हुए भी कबीर का रहस्यवाद निष्क्रिय और निर्जीव नहीं था। वह एकान्तिक भी नहीं कहा जा सकता। उसमें मानव को मानवता की प्रेरणा देने की विचित्र क्षमता थी। उसमें निर्जीवों में नवप्राण संचार करने का अलौकिक गुण था। इसने भारत का बहुत बड़ा उपकार किया। यह मूर्छित मध्य-युग के लिए सच्ची संजीविनी था।

जायसी का रहस्यवाद

जायसी का रहस्यवाद

परिचय और प्रकार

सामान्य परिचय—जायसी हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठ रहस्यवादी कवि हैं। भारतीय रहस्यवाद तथा फारसी रहस्यवाद के सुन्दर सुहाग से उद्भूत जायसी का रहस्यवाद हिन्दी-साहित्य के लिए महाकवि की महान देन है। भारत में रहस्यवाद की दो प्रमुख धाराएँ दिखाई पड़ती हैं। एक उपनिषद् के रहस्यवाद की, और दूसरी यौगिक रहस्यवाद की। जायसी का रहस्यवाद भारतीय रहस्यवाद की इन दोनो धाराओ से प्रभावित है। औपनिषदिक रहस्यवाद की सबसे प्रधान विशेषता उसकी अध्यात्म-प्रधानता है। उपनिषद् वेद के ज्ञान-काण्ड का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारतीय मनीषी विचारक होने के साथ-साथ परम भावुक भी थे। यदि भावुक न होते तो आदि-कवि की वाणी काव्य के रूप में मुखरित कैसे होती! उपनिषदो के द्रष्टा भी विचारक और भावुक दोनों ही थे। यही कारण है कि उपनिषदो मे शुष्क दार्शनिक विवेचनो के साथ-साथ मधुर भावात्मक रहस्यवाद भी पाया जाता है। औपनिषदिक

रहस्यवाद की सबसे प्रमुख विशेषताएँ दो हैं—एक तो अध्यात्म का भावात्मक निरूपण, दूसरे अद्वैतवाद का भावात्मक प्रस्थापन। जायसी में हमें अध्यात्म का भावात्मक निरूपण भी मिलता है और अद्वैतवाद का भावात्मक प्रस्थापन भी। इनका वर्णन हम आगे करेंगे। यहाँ पर इतना ही संकेत करना आवश्यक है कि जायसी के रहस्यवाद को समझने के लिए उपनिषदों के रहस्यवाद को भी ध्यान में रखना चाहिए।

औपनिषदिक रहस्यवाद के अतिरिक्त भारतवर्ष में यौगिक रहस्यवाद की भी एक धारा पाई जाती है। वेदों से लेकर निर्गुणियों संतों तक उसकी परम्परा अविच्छिन्न रूप से प्रवर्तित रही है। जायसी के समय नाथपंथी योग की बड़ी प्रतिष्ठा थी। स्थान-स्थान पर नाथपंथी सिद्ध पाए जाते थे। जायसी भी नाथपंथी योगसिद्धों में विश्वास करते थे। यह बात उनकी मृत्यु सम्बन्धी किंवदन्ती से प्रकट होती है। कहते हैं कि जायसी वन में योग-बल से सिंह का रूप धारण करके विचरण करते थे। एक बार एक राजा ने धोखे से उन्हें सिंह समझ कर मार दिया। बाद को उसे बड़ा पश्चाताप हुआ। जो भी हो, यह निर्विवाद है कि जायसी पर योग का बहुत अधिक प्रभाव था। योग के साथ-साथ वे यौगिक रहस्यवाद से भी प्रभावित थे। उनके यौगिक रहस्यवाद के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

भारतीय रहस्यवाद की उपर्युक्त धाराओं से प्रभावित होते हुए भी जायसी एक सच्चे बा-शरा सूफी थे। अतएव उनके रहस्यवाद का सूफी रहस्यवाद से अत्यधिक प्रभावित होना अत्यन्त स्वाभाविक था। हमारी समझ से उनका रहस्यवाद सूफी रहस्यवाद का भारतीय रूपान्तर है।[1]

जायसी के रहस्यवाद के प्रकार—जायसी का रहस्यवाद पचमुखी है। किन्तु फिर भी उनमें एक विचित्र सामंजस्य और सुषमा दिखाई पड़ती है। इस सामंजस्य और सुषमा ने उनके रहस्यवाद का सौन्दर्य

---

१ देखिए इस पुस्तक की भूमिका।

वहुत वढ़ा दिया है । हम उसके पाँचों प्रकारों पर
उनमें पाई जाने वाली सुषमा और सामंजस्य का
जायसी के पाँच प्रकार के रहस्यवाद इस प्रकार हैं—

१—आध्यात्मिक रहस्यवाद ।

२—प्रकृतिमूलक रहस्यवाद ।

३—प्रेममूलक रहस्यवाद ।

४—यौगिक रहस्यवाद ।

५—अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद ।

आध्यात्मिक रहस्यवाद—जायसी सूफी सन्त और साधक थे । सन्तों में आध्यात्मिकता कूट-कूट कर भरी रहती है । उनकी इस अध्यात्म-प्रियता का विकास उनकी रचनाओं में दार्शनिक विचारों के रूप में हुआ करता है । इन दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति जब भावना के सहारे की जाती है तभी आध्यात्मिक रहस्यवाद का उदय होता है । आध्यात्मिक रहस्यवादी के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए स्पर्जन ने लिखा है—

"जब रहस्यवादी अपनी धारणा इस प्रकार व्यक्त करता है कि वह बुद्धि और भाव दोनों ही का आनन्द विधान करती है, तब उसे आध्यात्मिक रहस्यवाद कहते हैं ।[2]

जायसी का आध्यात्मिक रहस्यवाद उन्हें किसी भी श्रेष्ठ आध्यात्मिक रहस्यवादी के समकक्ष स्थान दिला सकता है । इसकी अभिव्यक्ति दो प्रकार से हुई है—(क) कथामूलक अन्योक्ति शैली मे, और (ख) कथामूलक समासोक्ति शैली में ।

---

2 The mystical sense may be called philosophical in all these writers who present their convictions in a philosophical form calculated to appeal to the intellect as well as to the emotion.

- Mysticism in English poetry-Spurgion,

कथात्मक अन्योक्ति शैली में अभिव्यक्त आध्यात्मिक रहस्यवाद

आध्यात्मिक तथ्यों की अभिव्यक्ति के लिए कवि लोग विविध शैलियों की योजना करते आये हैं। इन शैलियों में ,कथात्मक अन्योक्ति शैली बड़ी महत्वपूर्ण है। अंग्रेजी के कवि टेनिसन ने अपनी अमर रचना "मारटे डि आर्थर" का प्रणयन इसी शैली में किया है। संस्कृत का प्रसिद्ध नाटक "प्रवोध चन्द्रोदय" भी इसी शैली में लिखा हुआ है। हिन्दी का अमर काव्य "कामायनी" भी इसी शैली में रचा गया है। "पद्मावत" की रचना भी इसी शैली में हुई है। "पद्मावत" के प्रणेता जायसी ने ग्रन्थ के अन्त में स्पष्ट घोषित किया है कि उनकी रचना एक कथात्मक अन्योक्ति है। वे लिखते हैं कि—

"मैंने इसका अर्थ पंडितों से पूछा तो उन्होंने इसका अर्थ इस प्रकार बतलाया—इस पृथ्वी के ऊपर और नीचे के भाग में जो चौदह लोक हैं वे सब मनुष्य के शरीर में ही हैं। चित्तौड़गढ़ तन का, राजा रत्नसेन मन का और हृदय सिंहलगढ़ का प्रतीक है। पद्मिमी बुद्धि का प्रतिरूप है। हीरामन तोता ही गुरु है। उसने ही राजा रत्नसेन को साधना-मार्ग में दीक्षित किया था। बिना गुरु के संसार में कोई ईश्वर को नहीं पा सकता। नागमती इस सांसारिकता का प्रतीक है। वही इस संसार से मुक्त हो सकता है जो नागमती रूपी सांसारिकता से दूर रह सकता है। राघव दूत शैतान का प्रतीक है। अलाउद्दीन सुलतान माया का प्रतीक कर रहा है। इस प्रकार इस प्रेम कथा का विचार करना चाहिए। इसी प्रकाश में इसको विचारना चाहिए।"[1]

---

१ मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा।
कहा कि हम किछु और न सूझा॥
चौदह भुवन जो तर उपराहीं।

इस अन्योक्ति की सांकेतिकता को यदि स्पष्ट करना चाहें तो इस प्रकार कर सकते है—

पद्मावती—बुद्धि	रत्नसेन—मन
सिंहल —हृदय	चित्तौड़—तन
नागमती—दुनिया का धन्धा	अलाउद्दीन—माया
राघवचेतन—शैतान	हीरामन—गुरु

अन्योक्ति के तीन पक्ष—अन्योक्ति के उपर्युक्त सुलझाव पर यदि मनोयोग-पूर्वक विचार किया जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि उनकी सम्पूर्ण अन्योक्ति एक मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर खड़ी हुई है। यह आध्यात्मिक पृष्ठभूमि जायसी द्वारा प्रतिपादित नहीं है। इसका प्रतिपादन पण्डितों ने किया था। उन्हीं के अनुसरण पर जायसी ने उसका उल्लेख कर दिया है—

"मैं एहि अरथ पण्डितन बूझा।
कहा कि हम किछु और न सूझा।।"

चौदह भुवन जो तर उपराहिं।
ते सब मानुस के घट माहीं।।
तन चितउर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंहल बुधि पद्मिनि चीन्हा।।
गुरु सूआ जेहि पंथ दिखावा।
बिन गुरु जगत को निरगुन पावा।।
नागमती यह दुनिया धन्धा।
बाँचा सोइ न जो एहि चित बंधा।।
राघव दूत सोइ सैताना।
माया अलाउद्दीन सुलताना।।
प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु।
बूझि लेहु जो बूझै पारहु।।

जायसी ग्रन्थावली : शुक्ल, द्वितीय संस्करण पृ० ३०१

जायसी वास्तव में बड़े चतुर थे। वे अपनी कथा का हिन्दू जनता में प्रचार करना चाहते थे। इसके लिए पण्डितों के सर्टिफिकेट की बड़ी आवश्यकता थी। कथा के अन्त में उन्होंने अन्योक्ति के रूप में वही सर्टिफिकेट जोड़ दिया है। जिस कथा की आध्यात्मिकता की प्रशंसा पंडितों ने की थी उसका भला अध्यात्म-प्रिय हिन्दू जनता में सम्यक् प्रचार क्यों न होता। हुआ भी ऐसा ही। हिन्दुओं की भाषा में लिखी गई हिन्दुओं की कथा, जिसके आध्यात्मिक महत्व को पण्डितों तक ने स्वीकार किया था, हिन्दू जनता में बहुत अधिक प्रचलित हुई। अब विचारणीय बात यह है कि जायसी अपनी कथा का, हिन्दू जनता में इतना अधिक प्रचार करने के लिए क्यों लालायित थे। हमारी समझ में उनका मूल लक्ष्य हिन्दू जनता में इस्लाम और सूफी मत के सिद्धान्तों का पूर्ण प्रचार करना था। किन्तु वे प्रत्यक्ष ऐसा नहीं कर सकते थे। प्रत्यक्ष रूप से यदि वे अपने लक्ष्य का संकेत करते तो हिन्दू समाज धोखे से भी उनकी कथा को पढ़ने का प्रयत्न न करता। इसीलिये उन्हें प्रत्यक्ष रूप से अपनी कथा को हिन्दू बाना पहनाना पड़ा है। किन्तु उसका प्राण इस्लामिक और सूफी ही है। यही कारण है कि उनकी अन्योक्ति का उपर्युक्त मूलभाव केवल दिखावटी है। उसका प्रमुख मूलभाव सूफी साधना परक मालूम पड़ता है। इसका विवेचन आगे किया जाएगा। इस प्रकार जायसी की अन्योक्ति के तीन पक्ष दिखाई पड़ते हैं—

प्रस्तुत प्रत्यक्ष पक्ष—पण्डितों द्वारा दिया गया अर्थ।

प्रस्तुत अप्रत्यक्ष पक्ष—सूफी साधना परक अर्थ।

अप्रस्तुत पक्ष—कथा पक्ष।

इन तीनों पक्षों का सामंजस्य स्थापित करना बड़े से बड़े कलाकार के लिए असम्भव सा है। ऐसा स्वाभाविक है कि कवि कभी एक ही पक्ष में उलझ जाय और अन्य दो पक्षों की याद भी न रहे। ऐसा होने पर अन्योक्ति का क्रम भंग हो सकता है। जायसी इस दोष से नहीं

बच गके हैं। वे कभी-कभी कथा-पक्ष में इतना अधिक रम गए हैं कि प्रस्तुत आध्यात्मिक पक्ष को बिल्कुल ही भूल गए हैं। जब उन्हें होश आया तो फिर आध्यात्मिक पक्ष का संकेत करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी कथात्मक अन्योक्ति बीच-बीच मे भग हो गई है। और समासोक्ति का समावेश हो गया है। इतना होते हुए भी हम यह नहीं कह सकते कि जायसी की कथा अन्योक्ति ही नहीं रह गई है, वास्तव में वह अन्योक्ति ही है और अनेक दृष्टियों से सफल भी है। कथात्मक अन्योक्ति का निर्वाह वृहत् प्रबन्ध-काव्य की पक्ति-पंक्ति में कोई भी कवि नहीं कर सकता है। यदि जायसी ऐसा नहीं कर सके तो इसके कारण जायसी का महत्व कम नही हो सकता। वास्तव में कथात्मक अन्योक्ति की सफलता उसकी प्रतीकात्मकता के समष्टिमूलक निर्वाह पर समझी जानी चाहिए। इस दृष्टि से हम पद्मावत की अन्योक्ति को सफल अन्योक्ति मान सकते हैं। "पद्मावत" में प्रतीकात्मकता का समष्टिमूलक निर्वाह मिलता है। आगे के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

जायसी की अन्योक्ति का प्रत्यक्ष-पक्ष

जायसी की अन्योक्ति का प्रत्यक्ष-पक्ष भारतीय है। जायसी ने स्पष्ट कहा है कि वे पण्डितों के पीछे लगे हैं और उन्होंने पण्डितों के अनुकरण पर अपनी कथा की अन्योक्ति बाँधी है। पण्डित लोगों में सबसे अधिक मान्यता गीता की रही है। गीता के अतिरिक्त उनमें राजयोग साधना की भी अच्छी प्रतिष्ठा पाई जाती है। विराट्-ब्रह्मवाद वैदिक-धर्म का प्रमुख प्रतिपाद्य रहा है। जायसी की अन्योक्ति का प्रत्यक्ष-पक्ष इन सबसे प्रभावित है।

जायसी की अन्योक्ति और गीता का बुद्धि-योग—जायसी ने अपनी अन्योक्ति को स्पष्ट करते हुए राजा को मन और पद्मावती को बुद्धि कहा है। मेरी समझ में ऐसा लिखते समय वे गीता के बुद्धि

योग तथा नाथ-पंथियों की मन-साधना और वुद्धिवादी दार्शनिक तीनों से ही प्रभावित थे। गीता के द्वितीय अध्याय में वुद्धि योग की प्रतिष्ठा मिलती है। इस वुद्धि-योग की प्राणभूत विशेषता समत्व योग है। भगवान कहते हैं—

"हे धनंजय ! आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान वुद्धि वाला होकर योग में स्थित हुआ तू कर्मों को कर। समत्व भाव ही वुद्धियोग के नाम से प्रसिद्ध है।"[1]

इसी समत्व वुद्धि-योग से अमृतमय परम-पद प्राप्त हो सकता है—"वुद्धियोग युक्त ज्ञानी जन कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को त्याग कर जन्म रूप वन्धन से छूटे हुए निर्दोष अर्थात् अमृतमय परम पद को प्राप्त होते हैं।"[2]

किन्तु इस समत्व वुद्धि-योग को प्राप्त करने के लिए इन्द्रियों का संयम परमावश्यक है—"जैसे कछुवा अपने अंगो को समेट लेता है तव उसकी वुद्धि स्थिर हो जाती है।"[3] किन्तु इन्द्रियों का संयम ही वड़ा कठिन है, क्योंकि इन्द्रियों का स्वामी मन वड़ा चंचल है। इन्द्रियों को किसी प्रकार वश में भी कर लिया जाय तो इस मन को वश मे करना वड़ा कठिन है। तभी तो अर्जुन को भगवान से कहना पड़ा था—

"चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि वलवद्दृढ़म्।"

अर्थात हे कृष्ण ! यह मन अत्यन्त चंचल मन्थनशील एवं वलवान

---

१ योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ गीता १/४८

२ कर्मजं बुद्धि युक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्म बन्ध विनिर्मुक्ताः पदंगच्छंत्यनामन् ॥ गीता १/५१

३ यदा संहरते चायं कर्मोङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ गीता २/५८

है।" इस पर भगवान मन को वश में करने का उपाय बताते हैं—

"अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।"

अर्थात हे अर्जुन ! मन अभ्यास और वैराग्य से संयमित किया जा सकता है। बिना मन को संयमित किये बुद्धि-योग नहीं प्राप्त हो सकता और बिना बुद्धि योग के आत्म-दर्शन नहीं हो सकता क्योंकि मन के परे बुद्धि है और बुद्धि के परे आत्मा है—

"शरीर से इन्द्रियाँ बलवान होती हैं। इन्द्रियों से मन, मन से बुद्धि और बुद्धि से भी परे आत्मा है। इसी बुद्धि से जो पर-रूप आत्मा है वही ज्ञातव्य है।"[1]

जायसी पर गीता के इस बुद्धियोग का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। जायसी ने गीता में वर्णित मन और बुद्धि का महत्व स्वीकार किया है। उसी के फलस्वरूप उन्होंने मन को साधक और समत्व-बुद्धि को साध्य रूप ध्वनित किया है। उनकी दृष्टि बुद्धि से परे नहीं जा सकी। किन्तु जैसा कि हम आगे देखेंगे, उनकी बुद्धि ब्रह्म का ही पर्याय प्रतीत होती है। मेरी समझ में अपने इस मतवाद के लिए वे उन मुसलमान दार्शनिकों से प्रभावित हुए हैं जो बुद्धि को ही ब्रह्म मानते थे।

जायसी की अन्योक्ति तथा बुद्धिवादी मुसलमान दार्शनिक—हमें मुसलमानों में भी दार्शनिक मत-मतान्तर मिलते हैं। शुशुत्री ने "Outlines of Islamic Culture" में इनका उल्लेख किया है।

इन बुद्धिवादी दार्शनिकों में किसी जाति के यूसुफ अल याकूब साहब का सिद्धान्त विचारणीय है। यह आठवीं शताब्दी के अन्त में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने कुल मिलाकर २६३ ग्रन्थ लिखे थे। इनके ऊपर एरिस्टाटिल के सिद्धान्तों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था। उनके आत्म-तत्व सम्बन्धी सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए "Outlines of

---

१ इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तुसः॥ —कठोपनिषद् १।३।११

Islamic Culture में M. A. Shushshtery साहब ने लिखा है—

"आत्मा शुद्ध बुद्धि-तत्व की बनी है, जो अभौतिक और अव्यय है। इसका मूल बुद्धि लोक है। वहाँ से यह इस दृश्य जगत् में प्रचारित होती है।"[1]

इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि आत्मा का मूल कारण बुद्धि स्वरूपी ब्रह्म-तत्व है। वह इस संसार मे आकर ऐन्द्रिक हो जाती है। इन्द्रियों का स्वामी मन है। कोई आश्चर्य नही कि जायसी को इस प्रकार के मुसलमान दार्शनिकों मे बुद्धिवादी सिद्धान्तों से प्रेरणा मिली हो। कुछ निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता है। मेरी अपनी धारणा यह है कि जायसी के ऊपर गीता के समत्व बुद्धि-योग का ही प्रभाव विशेष था। उसी से प्रेरित होकर उन्होंने पद्मावती को बुद्धि का प्रतीक कहा है, और उसके लिए पंडितों की दुहाई दी है।

जायसी की अन्योक्ति और योग की मन-साधना—पद्मावत की अन्योक्ति मन-साधना से भी प्रभावित प्रतीत होती है। मन-साधना को योग-ग्रन्थों मे भी बहुत महत्व दिया गया है। "अमृत विन्दूपनिषद्" में लिखा है—

"मन ही मनुष्यों के बन्धन-मोक्ष का कारण है। जब मन विषयासक्त होता है तब वह बन्धन में बंध जाता है। विषय से विरक्त होकर वही मुक्ति का हेतु बन जाता है। मन-साधना का महत्व क्षुरिकोपनिषद्" में भी प्रतिपादित किया गया है[2] —

---

1 The indivisual a soul is a pure intellectual substance, immaterial and imperishable having its sense in the world of intelligence from where it descends in the world of sense.

Outlines of Islamic Culture—M.A. Shushtry

२ मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥

—पंचदशी और अमृत विन्दूपनिषद्

"मन परम गुह्य तत्व है। सुतीक्ष्ण निर्मल बुद्धि उसकी सहायक होती है। चरण के ऊपर जो मर्म-स्थल है, उस पर परमात्मा का ध्यान तीक्ष्ण मन को केन्द्रित करके, लगाना चाहिए।"[1]

"तेज विन्दूपनिषद्" में संकल्पादि रूप मन को समस्त अनर्थों का हेतु कहा गया है—

"काम, क्रोध, बंधन, समस्त दुख, सम्पूर्ण दोष, काल तथा नाना नाम-रूप, जो कुछ भी इस संसार में हैं और जो संकल्पित किया जाता है, वह संकल्प के सिवाय और कुछ नही है। सब कुछ मन ही है।[2]

इस मन का जब लय हो जाता है, तभी परम पद की प्राप्ति हो जाती है। "तीनों जगत् तथा सम्पूर्ण सृष्टि में जो कुछ भी कर्मों के दुष्परिणाम हैं, वे सब मन के ही कारण होते हैं। यदि मन विलीन हो जाए तो उस विलीनावस्था को ही विष्णु का परम पद कहेंगे।"[3]

मन-साधना का महत्व लय-योग और नाथ-पंथ दोनों में ही बड़े विस्तार से प्रतिपादित किया गया है। लय योगीय मन-साधना के महत्व का संकेत हम अभी "मण्डल ब्राह्मणोपनिषद्" के उद्धरण के सहारे कर चुके हैं। "हठयोग प्रदीपिका" में इसका थोड़ा विस्तार से विवेचन किया गया है। विषय-विस्तार भय से हम उसका वर्णन नहीं कर रहे

---

१ मनस्तु परं गुह्यं सुतीक्ष्ण बुद्धि निर्मलम्।
पादस्योपरि यन्मर्म तद्रूप नाम चिन्तयेत ॥
मनोधारेण तिक्ष्णेन योगमाश्रित्य नित्यशः ॥

—क्षुरिकोपनिषद्

२ कामं क्रोधं बन्धन सर्व दुःख विश्वं दोषं काल नाना स्वरूपम्।
यत्किञ्चेदं सर्व संकल्प जालं तत्किञ्चेदं मानस सोम्य विद्धि ॥

—तेजबिन्दूपनिषद्

३ यन्मनस्त्रिजगत्सृष्टि स्थिति व्यसन कर्मकृत।
तन्मनो विलय याति तद्विष्णो परमं पदम् ॥

हैं। यहाँ पर हम नाथ-पंथ में मन-साधना पर जो बल दिया गया है, उसका भी थोड़ा सा संकेत कर देना चाहते हैं। नाथ-पंथ के प्रमुख आचार्य गोरखनाथ माने गए हैं। उन्होंने मन-साधना को कितना अधिक महत्व दिया है, यह बात उनकी निम्नलिखित पंक्ति से प्रकट है। इसमें उन्होंने मन को विश्व और शक्ति-रूप कह कर उसकी साधना की अनिवार्यता ध्वनित की है—

"यह मन सकती यह मन सीऊ।
यह मन पंचतत्व का जीऊ॥"

जायसी गोरख के इस सिद्धान्त से इतना अधिक प्रभावित हुए कि उन्होने उनकी उपर्युक्त पंक्तियो को थोड़ा हेर-फेर के साथ दुहरा दिया—

"गजपति यहु मन सक्ती यहु मन सीऊ।"

गोरख के इसी प्रभाव के फलस्वरूप उन्होने मन को साधक रूप कहा है। उन्हे गीता के बुद्धि-योग से भी थोड़ी प्रेरणा मिली होगी, ऐसी मेरी धारणा है। इस धारणा का स्पष्टीकरण हम अभी ऊपर कह ही चुके हैं। वे जानते थे कि मन का लय जब तक न हो तब तक परमपद की प्राप्ति नही हो सकती। इसीलिए सम्भवत: उन्होंने रत्नसेन को मन का और पद्मावती को बुद्धि का प्रतीक म ना है। हो सकता है कि मुसलमान साधको के "बुद्धि ही ब्रह्म है" वाले सिद्धान्त से प्रभावित होकर उन्होंने पद्मावती को ब्रह्म-रूप मानना प्रारम्भ कर दिया हो।

उनके ऊपर वैदिक धर्म का विराट् ब्रह्म वाली धारणा का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। रहस्याभिव्यक्ति के लिए इस प्रकार की धारणा का अपनाया जाना आवश्यक भी था। सम्भवत: यही कारण है कि जायसी ने ममत्व बुद्धि रूपा पद्मावती को विराट् ब्रह्म के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया है।

जायसी की अन्योक्ति में कथित साधक की सार्थकता—अभी हम कह चुके हैं कि जायसी ने साधक रत्नसेन को मन का प्रतीक माना है।

अब हम उनके इस प्रतीक की सार्थकता पर थोड़ा सा विचार कर लेना चाहते हैं। हमारी समझ में जायसी ने अपने इस प्रतीक को निभाने की पूरी चेष्टा की है। रत्नसेन के चरित्र की कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं। सबसे प्रमुख विशेषता आसक्ति की तीव्रता है। जब तक वह नागमती में आसक्त रहता है, तब तक वह पूर्ण रूप से उसके ही प्रेम में लीन रहता है। किन्तु जब पद्मावती की ओर उन्मुख होता है तो फिर उसमें उसकी पूर्ण आसक्ति हो जाती है। आसक्ति की तीव्रता मन की भी प्रमुख विशेषता है। जब तक इस आसक्ति का केन्द्र संसार और उसकी सांसारिकता रहती है, तब तक वह सांसारिक एवं अशुद्ध रहता है। किन्तु ज्योंही उसकी आसक्ति समत्व बुद्धि के प्रति होने लगती है, वह संसार से उदासीन होने लगता है, तब वह पूर्ण शुद्ध हो जाता है। "अमृत विन्दूपनिषद्" में मन के ये ही दो भेद बतलाए गए हैं—

"मन के भी दो प्रकार होते हैं, शुद्ध एवं अशुद्ध। अशुद्ध मन काम संकल्पात्मक होता है तथा शुद्ध मन काम विवर्जित।"[1]

मन के यह दोनों ही स्वरूप हमें जायसी के नायक रत्नसेन के जीवन में घटित होते दिखाई पड़ते हैं। नागमती को कवि ने "दुनिया का धन्धा" कहा है। जब तक रत्नसेन इसमें फँसा रहता है, तब तक उसका जीवन पूर्ण सांसारिक बना रहता है। उसके जीवन का यह सांसारिक पक्ष अशुद्ध मन का प्रतीक माना जा सकता है। किन्तु जब रत्नसेन नागमती से उदासीन होकर पद्मावती रूपी समत्व बुद्धि को अपनाने चल देता है, तभी वह शुद्ध मन का प्रतिरूप प्रतीत होने लगता है।

मन की एक सबसे प्रधान विशेषता यह है कि वह बार-बार

---

१ मनोहि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।
अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं काम विवर्जितम्॥

—अमृतविन्दुपनिषद्

प्रबोधित किए जाने पर भी माया के भ्रम-जाल में फँस जाता है। रत्नसेन के चरित्र मे भी जायसी ने यह विशेषता चित्रित की है। बादल रूपी ज्ञान के बार-बार चेताने पर भी यह रत्नसेन रूपी मन अलाउद्दीन रूपी माया के भ्रम-जाल में फँस जाता है।

मन सब प्रकार से समझदार होते हुए भी जरा-सी प्रेरणा पाकर एकदम आवेश मे आ जाता है। फिर उमे उचित-अनुचित का ज्ञान नही रहता। जायसी ने रत्नसेन के चरित्र को भी ऐसा ही चित्रित किया है। रत्नसेन दिल्ली से किसी प्रकार मुक्त होने पर जब चित्तौड़ को आता है, तो देवपाल का वृत्तान्त सुनकर परिणाम को बिना सोचे हुए ही वह देवपाल पर आक्रमण कर देता है। बिना विचारे हुए किए कार्य का परिणाम अच्छा नही होता। वह मृत्यु का शिकार बन जाता है। इस प्रकार कवि ने रत्नसेन के चरित्र का साम्य मन की विशेषताओं से बैठालने की पूरी चेष्टा की है। अतएव रत्नसेन को मन का प्रतीक मानना उचित ही है।

जायसी की अन्योक्ति का साध्य पक्ष—अब हम जायसी की अन्योक्ति के साध्य पक्ष पर विचार कर लेना चाहते हैं। उन्होंने पद्मावती को, जो बुद्धि का प्रतीक है, साध्य माना है। उसकी यह प्रतीक-कल्पना गीता के समत्व बुद्धि-योग, वेद के विराट् ब्रह्म-वाद, मुसलमानों के 'बुद्धि ही ब्रह्म है' वाले सिद्धान्त तथा योगियों के बुद्धिलय-योग से प्रभावित है। उन्होने पद्मावती को केवल समत्व बुद्धि के रूप में ही नही, वरन् विराट् ब्रह्म के रूप में भी चित्रित किया है। वास्तव मे वे समत्व बुद्धि को विराट् ब्रह्म का प्रतिरूप ही मानते थे। इसीलिए कथा मे जहाँ कही भी पद्मावती के आध्यात्मिक पक्ष की ओर संकेत किया है, वहां समत्व बुद्धि रूपी विराट्ब्रह्म का ही भाव अभिव्यंजित होता है। हमारी समझ मे वे समत्व बुद्धि और विराट ब्रह्म में भेद को नही समझते थे। गीता के अनुसरण पर उन्होने पद्मावती को समत्व बुद्धि का प्रतीक कह दिया है तथा वेद और गीता

के रहस्यपूर्ण विराट् ब्रह्म के वर्णनों के आधार पर उन्होंने उसे विराट् ब्रह्म रूप में भी चित्रित किया है। पद्मावती के कुछ अध्यात्म-परक वर्णनों के विश्लेषणों से उपर्युक्त बात स्पष्ट हो जाएगी। एक बहुत प्रसिद्ध प्रसंग इस प्रकार है—

"जब मानसरोवर रूपी ब्रह्म को पद्मावती रूपी ब्रह्म के आने की सूचना मिली तो उसने कहा कि तुम पारस बन कर यहाँ आई हो। उसके चरणों के स्पर्श से उसका जल निर्मल हो गया। उसके रूप का दर्शन करके ही उसका स्वरूप रूपवान बना। उसके स्पर्श से उस मानसरोवर रूपी साधक के शरीर में मलय समीर की सी गंध आने लगी। तथा उसकी समस्त अग्नि नष्ट हो गई, और शरीर शीतल हो गया। न जाने किस पुण्य के बल से ब्रह्म स्वयं ही खिचकर साधक के पास आ गए। ब्रह्म के दर्शन से मानसरोवर रूपी साधक के समस्त पाप नष्ट हो गए तथा वह पुण्य-मय बन गया। उसी क्षण पद्मावती का हार ऊपर दिखाई देने लगा। उसे उसकी सखियों ने पाया। यह देखकर पद्मावती रूपी ब्रह्म का मुख-चन्द्र मुस्कराने लगा। उसकी मुस्कराहट में चन्द्र का वास होने के कारण उसकी हंसी की रेखा को देखने मात्र से कुमुद विकसित हो उठा। जिस-जिसने उसे देखा, उस-उसने उसमें अपना-अपना रूप देखा। सभी को यथेष्ठ रूप के दर्शन हुये। ऐसा प्रतीत होता था कि पद्मावती रूपी ब्रह्म का मुख-चन्द्र दर्पण बन गया हो। उसके नेत्रों से कमल की उत्पत्ति हो गई तथा शरीर से निर्मल जल की सृष्टि हुई। उसकी हँसी ही स्वयं हंस के रूप में अवतरित हुई तथा उसके दातों की आभा से नग और हीरे उत्पन्न हो गए।[1]

---

१ कहा मानसर चाह सो पाई,
पारस रूप यहां लगि आई।
भा निर्मल तिन्ह पायन परसे,
पावा रूप-रूप के दरसे॥

इस अवतरण में साध्य का आध्यात्मिक स्वरूप पूर्ण स्पष्ट हो गया है । इसमें आध्यात्मिकता और साहित्यिकता—दोनों ही, अपनी पराकाष्ठा में प्रतिष्ठित की गई हैं । इन पंक्तियों में साधक का स्वरूप, साध्य का स्वरूप तथा दोनों के मिलन का बड़ा ही रहस्यात्मक वर्णन किया गया है । इसमें हमें इब्नेसिना नामक सूफी के सौन्दर्यवाद तथा वेदान्त और सूफियों के सहूदिया वर्ग के प्रतिविम्बवाद की अच्छी झलक मिलती है । रूपकातिशयोक्ति, विभावना आदि अलंकारों से उक्ति में चमत्कार आ गया है । साध्यवसाना लक्षणा से एक विचित्र लाक्षणिकता आ गई है जिससे अभिव्यक्ति में बड़ा सौन्दर्य आ गया है । कवि ने मानसरोवर को साधक रूप ध्वनित किया है । पद्मावती साध्य रूप है, वह समत्व बुद्धि रूपिणी होते हुये विराट्-ब्रह्म रूप भी है ।

उस विराट् ब्रह्म रूपी पारस के स्पर्श से साधक जीव, प्रतीक मानसरोवर है, ब्रह्म रूप हो जाता है । "उपनिषद्" में तो यह बात

मलय समीर वास तन आई,
भा सीतल गे तपिन बुझाई ।
न जनौं कौन पौन लइ आवा,
पुन्य दस भई पाप गंवावा ॥
तत खन हार वेगि उतराना,
पावा सखिन्ह चन्द विहंसाना ।
विकसा कुमुद देखि ससि रेखा,
भई तंह आप जहां जेंहि देखा ।
पावा रूप रूप जस चाहा,
ससि मुख जनु दर्पन होई राहा ।
नयन जो देखा कंवल भा निरमल नीर शरीर ।
हँसत जो देखा हंस भा दसन ज्योति नगहीर ॥

जायसी ग्रन्थावली द्वितीय संस्करण : शुक्ल पृष्ठ २५

बार-बार दोहराई गई है कि ब्रह्म को प्राप्त करके मनुष्य सब बन्धनों से निर्मुक्त हो ब्रह्ममय हो जाता है। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है—

"उस परमेश्वर का साक्षात्कार प्राप्त करके हृदय की ग्रन्थियां नष्ट हो जाती हैं। सब संशय निर्मूल हो जाते हैं। कर्म-बन्धन टूट जाते हैं और वह ब्रह्म रूप हो जाता है।"[1], बृहदारण्यक में लिखा है, "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म रूप हो जाता है। कबीर ने समत्व-बुद्धि के प्राप्त होते ही साधक का भगवान रूप होना लिखा है—

"लोहा कंचन सम जानहि ते मूरत भगवान्"

इस अवतरण में इसी भाव की प्रतिष्ठा मिलती है। कवि का कथन है कि समत्व-बुद्धि रूपी ब्रह्म का प्रतीक पद्मावती के चरणों का स्पर्श करके मानस रूपी साधक अपने समस्त कालुष्यों को धो डालता है। उसके समस्त पुण्य उदय होने लगते हैं। इसी प्रकार समस्त अवतरण का समत्व-बुद्धि रूपी विराट् ब्रह्मपरक अर्थ सरलता से लगाया जा सकता है।

अब हम एक दूसरा प्रसंग लेते हैं। इस प्रसंग में भी पद्मावती का चित्रण समत्व बुद्धि रूपी विराट् ब्रह्म के ही रूप में किया जान पड़ता है। वर्णन इस प्रकार है—

"जब पद्मावती रूपी विराट् ब्रह्म ने सरोवर रूपी साधक के पास गमन किया, उसके दर्शन करके सरोवर रूपी साधक का रूप विकसित हो उठा तथा उसका हृदय हिलोरें लेने लगा। उसकी लहरें मानो उस

---

१ भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥
मुण्डकोपनिषद् २।२।८

विराट् ब्रह्म के पैर छूने के लिए ही सचल रहीं थी" [1]

यहाँ पद्मावती को विराट् ब्रह्म रूप ही चित्रित किया है। लौकिकता मे अलौकिकता का यह आरोप जायसी के रहस्यवाद का प्राण है। अब हम समत्व बुद्धि और पद्मावती के साम्य पर विचार कर लेना चाहते हैं। मुझे यह कहने मे संकोच नही है कि मन का प्रतीक रत्नसेन के चरित्र से जितना सामन्जस्य रखता है, उतना समत्व-बुद्धि का प्रतीक पद्मावती पर घटित नही होता। इतना होते हुये भी यदि पद्मावती के चरित्र का विश्लेषण करे तो अनुभव होगा कि जायसी ने यथाशक्ति पद्मावती का समत्व-बुद्धि से सामन्जस्य बैठालने की चेष्टा की है। पद्मावती के चरित्र की सबसे प्रधान विशेषता उसकी आदर्श-प्रियता है। यह आदर्श भारतीय प्रेमिका और पत्नी का है। समत्व बुद्धि भी आदर्श रूप है। जायसी ने रत्नसेन के मुख से एक स्थल पर कहलाया है—

"पद्मावती गुरु हौं चेला।"

आध्यात्मिक और प्रतीकात्मक दृष्टि से यह बात बिल्कुल सही है। मन का पथ-प्रदर्शन समत्व-बुद्धि ही कर सकती है। तभी मन संयत किया जा सकता है। इस प्रकार यहाँ पर पद्मावती के लिए समत्व बुद्धि का प्रतीक, जो जायसी ने स्वयं निर्धारित किया है, पूर्ण सार्थक प्रतीत होता है। इसी प्रकार और भी अनेक स्थलों से प्रतीक की सार्थकता प्रकट होती है। जो भी हो, सामान्यतया जायसी का साध्य सम्बन्धी प्रतीक भी सार्थक ही कहा जायगा। कोई भी कथा बिल्कुल

---

१ सरवर तीर पद्मनी आई,
खोपा छोर केस मुकलाई।
सरवर रूप विमोहा, हिए हिलोरहि लेई।
पाय छुवै मकु पावै इहि मिसि लहरै देई॥
जायसी ग्रन्थावली (द्वितीय संस्करण). सं० शुक्ल पृ० २५

प्रतीकों के अनुरूप नही डाली जा सकती । बडी-बडी सफल आध्यात्मिक कथाओं के समस्त स्थल प्रतीकों के आधार पर स्पष्ट नही किए जा सकते । अतः जायसी से, जिन्होंने विशेष शास्त्रों का सांग अध्ययन नहीं किया था, कुछ गलतियाँ हो गई हों, तो कोई आश्चर्य नही । हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि उन्होंने प्रतीकों का आश्रय लेकर अपनी कथा की अन्योक्ति स्पष्ट करके उसकी रहस्यात्मकता स्पष्ट रूप से स्वीकार कर ली है । कथा का इस रहस्यात्मकता का संकेत करना ही यहाँ पर हमारा लक्ष्य है । अब हम थोड़ा सा अन्योक्ति के अन्य पक्षों की आध्यात्मिकता पर भी विचार कर लेना चाहते हैं ।

जायसी की अन्योक्ति में हृदय का प्रतीक सिंहलगढ़—जायसी ने अपनी अन्योक्ति को स्पष्ट करते हुए सिंहलगढ़ को हृदय कहा है । बुद्धि रूपी पद्मावती इसी में निवास करती है । यहाँ पर विचारणीय यह है कि सिंहलगढ़ को हृदय मानना कहाँ तक उपयुक्त है । सिंहलगढ़ का वर्णन कवि ने दो-तीन स्थलों पर किया है । पहला वर्णन इस प्रकार है—

यह सिंहलगढ़ इतना ऊँचा था कि सदा सूर्य और चन्द्रमा भी उससे बच कर चलते थे । अन्यथा उनके घोड़ों और रथों का चूर्ण बन जाता । उसकी नौ-पौढियाँ वज्र की बनी हुई हैं । वहाँ सौ-सौ सिपाही बैठे रहते हैं । पांच कोतवाल वहाँ सदा भ्रमण करते रहते हैं । उनके पाँव चलते ही सारा संसार काँप उठता है । प्रत्येक ड्योढ़ी पर सिंह खोद कर बनाए गए हैं । उन्हें खड़ा हुआ देख कर लोग डर जाते हैं । वे सिंह अत्यन्त परिश्रम पूर्वक बनाए गए हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि वे गरज कर सिर पर चढ़ना चाहते हैं । वे अपनी पूँछ घुमाऐ हुए और जीभ निकाले हुए हैं । उन्हें देख कर हाथी भी डर जाते हैं कि कहीं वे उन्हें न मार डाले । स्वर्ण-शिला पर सीढी बनाई हुई है । वह गढ़ के ऊपरी भाग पर जगमगा रही है । इस प्रकार उस पद्मावती के गढ़ में नौ खण्ड हैं तथा उन पर नौ ड्योढियाँ बनी

हुई हैं, जिनमें वज्र के किवाड लगे हुए हैं। साधक चार बसेरों को पार करके तथा सात विश्राम-स्थलों को पार करता हुआ ही वहाँ पहुँच सकता है। नौ-ड्योढियो के बाद दसवाँ द्वार ब्रह्म-रन्ध्र आता है। उस पर सदा राज घड़ियाल (अनहद नाद) बजता रहता है। घड़ियारी (साधकात्मा) सदा उसके समीप बैठ कर घडी को देखती रहती है। प्रत्येक पहर के बाद वह अपनी बारी से घडी को बजा देती है अर्थात् प्रतिपल क्रम से साधना करती है।'[1]

सिंहलगढ का उपर्युक्त वर्णन उसे हृदय का प्रतीक नही प्रकट करता। इसे हम शरीर का प्रतीक मान सकते हैं। इसमें गढ़ के माध्यम

---

१ नित गढ़ बाँचि चलै ससि सूरू, नाहित होय बाजि रथ चूरू।
पौरी नवौ वज्र के साजी, सहम-सहम तंह बैठे पाजी॥
फिरहिं पाँच कुतवार सुभौरी, काँपै पाँच चपत वह पौरी।
पौरिहिं पौरि सिंह गढ़ काढ़े, डरपहिं लोग देख तंह ठाढे॥
बहु विधान- वे नाहर गढ़े।
जनु गाजहिं चाहहिं सिर चढ़े॥
टारहिं पूंछ पसारहिं जीहा।
कुंजरि डरहिं कि गुंजरि लीहा॥
कनक सिला गढ़ सीढ़ी लाई।
जगमगाहिं गढ़ ऊपर ताई॥
नवौ खण्ड नव पौरी, औ तहं बज्र किवारा।
चारि बसेरे सो चढ़े, सत सो उतरे पारा॥
नव पौरि पर दसवं दुवारा।
तेहि पर बाज राज घरियारा॥
घरी सो बैठि गिनै घरियारी।
पहर-पहर सो अपनि बारी॥

जायसी ग्रन्थावली : शुक्ल (द्वि० सं०) पृ० १५

से शरीर का हठयौगिक वर्णन किया हुआ जान पड़ता है। इसमें नौं-द्वारों को चर्चा की गई है। नौ-द्वार वाले शरीर का वर्णन जायसी से पहले भी योगी लोग करते आए हैं। यहाँ तक कि वेद में भी एक स्थल पर "नव द्वारे पुरे देही" का वर्णन मिलता है। दशम द्वार ब्रह्म-रन्ध्र को कहते हैं। वह ब्रह्माण्ड में होता है। हृदय में नहीं। इन सब बातों से स्पष्ट हो जाता है कि जायसी का अपनी अन्योक्ति में सिंहलगढ़ को हृदय का प्रतीक कहना सार्थक नहीं है। इस कथन की पुष्टि सिंहलगढ़ के एक दूसरे वर्णन से भी होती है। वह इस प्रकार है—

"तेरा शरीर भी इस गढ के समान ही सुन्दर और विशाल है। पुरुषों को उसमें तेरी ही छाया दिखाई देती है। साधक व्यर्थ हठ करके उसे नहीं पा सकता। जिस पर पद्मावती रूपी ईश्वर की कृपा होती है, वही उसे पा सकता है। उस गढ़ में नौ-ड्योढियां है। वहाँ पांच कोतवाल फिरते हैं।[1]

उपर्युक्त वर्णनों से स्पट है कि सिंहलगढ़ हृदय का प्रतीक न होकर शरीर का प्रतीक है। अब प्रश्न यह है कि जायसी ने यह भूल क्यों की। हमारी धारणा है कि जायसी अपनी कथा के एक साथ कई सांकेतिक अर्थ व्यंजित करना चाहते थे। इनमें तीन बहुत स्पष्ट मालूम पड़ते हैं— मनोविज्ञान-परक, हठयोगपरक, और सूफी साधना-परक, इनमें से दो

---

१ गढ़ तस बाँक जैस तोरि काया।
पुरुष देखि ओही कै छाया॥
पाइय नाहि जूझि हठ कीन्हे।
जेहि पावा तेहि आपुहि चीन्हे॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मंझियारा।
और तंह फिरहि पांच कोतवारा॥

जायसी ग्रन्थावली शुक्ल (द्वि०सं०) पृ० ९३

अर्थों की लगभग पूरी-पूरी व्यंजना मिलती है। एक सूफी साधना-परक अर्थ की और दूसरी मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक अर्थ की। यौगिक अर्थ की व्यंजना उन्होंने कथा में सर्वत्र नहीं की है। केवल दो-चार स्थलों पर ही की है। मेरी अपनी धारणा यह है कि सिंहलगढ़ का वर्णन करते समय उन्हें शरीर से उसका साम्य दिखाई पड़ा। सम्भवतः इसी लिए उन्होंने उसका वर्णन शरीर के साम्य से कर दिया। ऐसे स्थलों पर वे सम्पूर्ण कथा के एक ही आध्यात्मिक अर्थ के निर्वाह वाली बात भूल गए हैं। दूसरा प्रश्न यह उठता है कि जायसी ने फिर किस आधार पर हृदय को साध्य का निवास-स्थान माना है। हमारी समझ में ऐसा लिखते समय उनमें सूफियों की यह धारणा जागरूक थी कि सूफी-साध्य, साधक के हृदय की सम्पत्ति होता है। पीर मुरीद के हृदय में साध्य की जो भावना भर देता है, वह उसी रूप में उसकी उपासना करने लगता है। पद्मावत की कथा में तोता रूपी गुरु ने रत्नसेन रूपी साधक के हृदय में पद्मावती रूपी साध्य का एक अलौकिक सौन्दर्य प्रतिष्ठित कर दिया है। रत्नसेन का हृदय उसी रूप की भावना से भरा रहता है। इस दृष्टि से जायसी का सिंहलगढ़ को हृदय का प्रतीक मानना उचित है। सिंहलगढ़ के स्फुट वर्णनों से प्रकट भी होता है कि वह हृदय का प्रतीक है। सिंहलगढ़ वर्णन खण्ड की प्रथम पंक्तियों से ही इस बात की ध्वनि निकलती है कि जायसी सिंहलगढ़ को हृदय का प्रतीक मानते थे। वे लिखते हैं—

"अब मैं सिंहलदीप की कथा का वर्णन करता हूँ, इसके पश्चात् पद्मिनी का वर्णन करूंगा। उस पद्मावती रूपी ब्रह्म का स्वरूप विशेष दर्पण की भांति है। जिस प्रकार दर्पण की आकृति को सभी जन अपनी-अपनी आकृति के अनुकूल ही देखते हैं। ठीक उसी प्रकार पद्मावती बुद्धि रूपी ब्रह्म को सभी लोग अपने-अपने स्वरूप के

अनुकूल देखते हैं।"[1]

वास्तव में पद्मावती रूपी समत्व-बुद्धि का उदय दर्पण के समान शुद्ध और स्वच्छ हृदय में होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार और भी पंक्तियां मिलती हैं जिनसे स्पष्ट प्रकट होता है कि जायसी ने सिंहलगढ़ की कल्पना हृदय के प्रतीक के रूप में की है। अतः हम इस दृष्टि से जायसी की अन्योक्ति को असफल नहीं कह सकते। जो कवि अपनी बहुज्ञता दिखाने के लिए बावले रहते हैं, उनसे इस प्रकार की गलतियां साधारणतया हो ही जाती हैं। जायसी में यह दोष अपने अति रूप में पाया जाता था। वे जहां भी अवसर पाते थे अपनी बहुज्ञता प्रदर्शित करने लगते थे। सिंहलगढ़ का वर्णन करते समय भी वे अपना हठ-यौगिक ज्ञान का प्रदर्शन करने में लग गए हैं। उनकी इसी मनोवैज्ञानिक दुर्बलता के कारण उनकी अन्योक्ति का क्रम भंग-सा हो गया है।

जायसी के द्वारा दिए गए अन्योक्ति के अन्य प्रतीक कथा से पूर्ण साम्य रखते हैं। चित्तौड़गढ़ को शरीर का प्रतीक मानना सार्थक ही है। मन का, जो कि इन्द्रियों का स्वामी है निवास-स्थान, इन्द्रियों का संघात मानव-शरीर, ही है।

सिंहलगढ़ के सदृश जायसी ने चित्तौड़गढ़ के वर्णन भी हठयौगिक ढंग पर किए हैं। वास्तव में वे अपनी बहुज्ञता-प्रदर्शन वाली वृत्ति से कभी भी पिण्ड नहीं छुड़ा सके हैं। जायसी ने तोते को गुरु माना है। यह प्रतीक भी सार्थक है। आगे यह बात स्पष्ट की जाएगी। इसी प्रकार राघवचेतन अलाउद्दीन और नागमती आदि के लिए दिए गए प्रतीक भी बिल्कुल निरर्थक नहीं प्रतीत होते। वास्तव में यह कथा में पूर्ण रूप से घटित हो जाते हैं। आगे इन पर विचार किया जायेगा। इस प्रकार

---

१ सिंहल दीप कथा अब गावौं। औ सो पदुमिनि बरनि सुनावौं॥
निरमल दरपन भांति बिसेखा। जो जेहि रूप सो तैसेइ देखा॥
—जायसी ग्रंथावली : शुक्ल (द्वि०सं०) पृ० १०

अत्यन्त संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जायसी ने पद्मावत की कथा की अन्योक्ति का जो स्पष्टीकरण किया है, वह निरर्थक नहीं है। यह वात दूसरी है कि एकाध स्थलों पर उसका कोई प्रतीक एक दूसरे अर्थ की व्यंजना करने लगा हो। अपने को जायसी का विशेषज्ञ मानने का दम्भ करने वाले कुछ सज्जन लिखते हैं—यहाँ पर इतना कहना पर्याप्त है कि कवि ने सारे कथानक को शरीर के अन्दर घटित किया है, जिसमें कवि असफल है। असफल होने के दो कारण हैं। पहला तो यह कि कवि ने यह व्याख्या काव्य लिखने के वाद में की है। काव्य-रचना प्रारम्भ करते समय उनके मस्तिष्क में कोई ऐसी वस्तु प्रतीत नहीं होती। इस कारण यह काव्य पर लागू नहीं होता। दूसरा कारण यह है कि कवि की वुद्धि ही शायद इतनी अधिक नहीं है, कि वह इसको ठीक तरह घटित कर सके।

कवि की वुद्धि को कोसने वाले इन महाशय की वुद्धि पर वास्तव में मुझे वड़ा तरस आता है। जायसी अद्वितीय प्रतिभाशाली और वहुश्रुत कवि थे। इस वात की अवहेलना कोई भी वुद्धिमान व्यक्ति नहीं कर सकता। वास्तव में जायसी की अन्योक्ति एकाध स्थलों को छोड़ कर पूर्ण और सफल है। इन महाशय ने जायसी की अन्योक्ति खोलते समय हृदय को भी मन मान लिया है और फिर कहते हैं कि रत्नसेन और सिंहल मन के प्रतीक क्यों हैं? यह समझ में नहीं आता। समझ में भी कैसे आए। समझने के लिए विस्तृत अध्ययन और चेतन-वुद्धि की आवश्यकता होती है। हृदय और मन दोनों एक नहीं है, हृदय वह गुहा है जिसमें अन्तःकरण चतुष्टय निवास करता है। अन्तःकरण चतुष्टय है—मन, वुद्धि, चित्त, अहंकार; यह सब हृदय में रहते हैं। इसी हृदय में आत्मा भी निवास करती है जो कि सवसे परे है।

भारतीयों ने ही नहीं, सूफियों ने भी हृदय को मन से, जो कि एक इन्द्रिय ही है, विल्कुल अलग माना है। सूफी लोगों ने मनुष्य के

जो चार विभाग किए हैं—वे क्रमशः इन्द्रिय (नफस) आत्मा, (रूह) हृदय, (कल्ब) तथा बुद्धि (अक्ल) हैं। इनमें हृदय अलग है। इस प्रकार न तो भारतीय दर्शन के आधार पर, और न सूफी दर्शन के आधार पर ही हम हृदय को मन का पर्याय कह सकते हैं। इन महाशय ने अपनी बुद्धि-को प्रमाण मान कर जो जी चाहा लिख दिया है। "पंडितों के पिछलग्गे" जायसी की बात आपकी समझ में आती भी कैसे ? आपका दूसरा प्रश्न है—जायसी ने माया के लिए जो तीन प्रतीक दिए हैं, वे क्या हैं ? यहाँ पर भी आपने अपनी बुद्धि को कष्ट न देकर समझने की चेष्टा नहीं की है। हम बार-बार कह चुके हैं कि जायसी सूफी दर्शन और भारतीय अद्वैतवाद दोनों से प्रभावित थे। सूफी साधना में शैतान को साधना में बाधक माना जाता है और भारतीय दर्शनों में माया साधना की प्रधान बाधिका कही गई है। जायसी दोनों दर्शन की बातें लेना चाहते थे। क्योंकि उनका लक्ष्य हिन्दू और मुसलमानों दोनों में सामंजस्य स्थापित करना था। यही कारण है कि उन्होंने राघवचेतन को शैतान और अलाउद्दीन को माया कहा है। अब प्रश्न यह उठता है कि उन्होंने नागमती को दुनिया का धन्धा क्यों कहा है ? यहाँ पर भी हम यही कहेंगे कि जायसी भारतीय और सूफी दोनों विचार-धाराओं का सामन्जस्य बैठालना चाहते थे। भारत में जीवन के दो मार्ग माने गऐ हैं—प्रवृत्ति मार्ग और नवृत्ति मार्ग। प्रवृत्ति मार्ग का प्रतीक पत्नी मानी जाती है। जायसी का लक्ष्य मन रूपी साधक को प्रवृत्ति-मार्ग से हटा कर निवृत्ति मार्ग या संसार से हटा कर परमार्थ में लगाना था। यही कारण है कि उन्हें प्रवृत्ति-मार्गी जीवन का प्रतीक रूप नागमती को दुनिया का धन्धा कहना पड़ा है। उनका ऐसा कहना वास्तव में सार्थक है। यहाँ पर एक प्रश्न और उठ खड़ा होता है, वह यह कि जब जायसी नारी को प्रवृत्ति मार्ग का प्रतीक मानते थे, तो फिर उन्होंने पद्मावती के लिए रत्नसेन को क्यों व्याकुल दिखाया है। वास्तव में पद्मावती ब्रह्म का प्रतीक मानी गई है।

सूफी लोग नारी को आध्यात्मिक प्रेम का अवलम्ब मानते थे। अलाउद्दीन ने उसे ईश्वर की ज्योति की किरण कहा है। पद्मावती को जायसी ने उसी रूप में चित्रित किया है। पद्मावती पूर्ण प्रेम का भी अवतार है। सूफी-साधना में प्रेम की पराकाष्ठा दिखलाने के लिए परकीया को ही महत्व दिया जाता है। इस दृष्टि से भी पद्मावती को सांसारिकता का प्रतीक नहीं माना जा सकता। इतना तो अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि सूफी-साधना की अभिव्यक्ति के लिए वावले हुए मुसलमान कवि जायसी ने भारतीय स्वकीया के महत्व को धक्का पहुँचाया है।

जायसी की अन्योक्ति का प्रस्तुत अप्रत्यक्ष पक्ष

सूफी-साधना के प्रकाश में अन्योक्ति का स्पष्टीकरण—अब हम जायसी की अन्योक्ति का स्पष्टीकरण सूफियों की दृष्टि से करना चाहते हैं। सूफी साधना की दृष्टि से भी रत्नसेन ही "सालिक" या साधक ठहरते हैं। उनका सारा जीवन एक सूफी साधक के जीवन से साम्य रखता है। सूफी साधक आध्यात्मिक साधना के लिए पूर्व-जन्म के संस्कार लेकर उत्पन्न होता है। ज्योतिषी इन संस्कारों को सरलता से पढ़ लेते हैं। रत्नसेन ऐसे ही संस्कार लेकर उत्पन्न हुआ था। उसे सिंहलगढ़ में जा कर सिद्धि प्राप्त होगी, यह भविष्य-वाणी ज्योतिषी जन्म-समय में ही कर चुके थे—

"पण्डित और विद्वानों ने सामुद्रिक-शास्त्र के प्रकाश में उसके रूप और लक्षणों का अध्ययन करके कहा कि रत्नसेन का जन्म इस कुल में, अपने मस्तक में रत्न के समान ज्योति को लेकर हुआ है। पद्मावती और रत्नसेन की जो जोड़ी लिखी है, वह चन्द्रमा और सूर्य की जोड़ी के समान होगी। जिस प्रकार भौंरा मालती के वियोग में व्याकुल रहता है, ठीक उसी प्रकार यह रत्नसेन भी पद्मावती के लिए योगी बन जावेगा। पुनः सिंहलद्वीप में जाकर यह उस पद्मावती को

प्राप्त करेगा। उसी समय आपको सिद्धि प्राप्त होगी।[1]

इन संस्कारों को गुरु जागृत करता है। जायसी ने तोते को गुरु रूप में चित्रित किया है। गुरु के समस्त गुण तोते में प्रतिष्ठित किये गए हैं। गुरु का सबसे प्रधान लक्षण है कवि और पण्डित होना। तोता भी "वियास" की भाँति कवि और "सहदेव" के समान पण्डित है—

"कवि वियास पंडित सहदेऊ।"

गुरु या पीर का सत्यनिष्ठ होना भी परमावश्यक होता है। तोता परम सत्यनिष्ठ है। वह प्राणों की भी उपेक्षा करके सत्य बोलना उचित समझता है—

"सत्य कहत राजा जिऊ जाऊ।
पै मुख असत न भाखौं काऊ॥

जिस प्रकार सत्यनिष्ठ गुरु साधक को सत्य का उपदेश देता है, उसी प्रकार तोता भी रत्नसेन को सत्य एवं सौन्दर्य स्वरूपा पद्मावती की सूचना देता है। पद्मावती रूपी ब्रह्म का उपदेश सुनकर राजा उसकी दिव्यता से मुग्ध हो मूर्छित हो जाता है—

"सुनतहि राजा गा मुरझाई।
जानौ लहरि सुरजि कै आई॥"

जायसी ग्रन्थावली

जिस प्रकार गुरु की प्रेरणा से साधक के पूर्व जन्म के संस्कार जागृत हो जाते हैं और वह इस संसार से उदासीन होकर अपनी साधना में

---

१ पण्डित गुनि सामुद्रिक देखा। देखा रूप और लखन विशेषा॥
रत्नसेन यह कुल निरमरा। रतन ज्योति मन माथे परा॥
पदुम पदारत लिखी जो जोरी। चांद सुरज जस होय अजोरी॥
जस मालति भौंर वियोगी। तस ओहि लागि होय यह जोगी॥
सिंहल दीप जाई यह पावै। सिद्ध होय चित्र और लेहि आवै॥
—जायसी ग्रन्थावली शुक्ल (द्वि० सं०) पृष्ट २६

संलग्न हो जाता है, उसी तरह रत्नसेन भी तोते रूपी गुरु से पद्मावती रूपी प्रियतम का संदेश पाकर संसार से उदासीन होकर उसकी खोज और साधना में संलग्न हो जाता है। इस समय उसकी स्थिति बावलों जैसी हो जाती है। उसकी सुप्त मनोवृत्ति जाग उठती है—

"जब भा चेत उठा वैरागा।
बाउर जनौ सोई उठि जागा॥

जायसी-ग्रंथावली

इसी स्थल पर जायसी ने साधक की परिचयात्मक अनुभूति का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। जब गुरु या पीर साधक को प्रियतम के दिव्य रूप का परिचय देता है, तब उसे जीवन मे प्रथम बार विचित्र दिव्यता की अनुभूति होती है। यह परिचयात्मक दिव्यता ही साधक को ससार से उदासीन बना देती है और साधना में पूरी तौर से संलग्न करा देती है। इस परिचयात्मक दिव्यता का जायसी ने बड़ा सुन्दर और रहस्यपूर्ण वर्णन किया है। सूफियों की पारिभाषिक भाषा में हम इसे हाल की हालत कह सकते हैं—

"जिस प्रकार इस संसार मे आते समय बालक रोया करता है, उसी प्रकार रत्नसेन भी रो उठे। वे पश्चाताप करने लगे कि उन्होंने अपना आध्यात्मिक ज्ञान खो दिया है। वे यह सोचकर खिन्न होने लगे कि अध्यात्म तत्व की आंशिक अनुभूति करके वे पुनः इस भौतिक जगत मे आगए।[1]

जिस प्रकार साधक उसकी दिव्यता का परिचय पाकर पागलों की तरह उसकी प्राप्ति और खोज के लिए निकल पड़ता है, उसी प्रकार

---

१. आवत जग बालक जस रोवा। उठा रोय हा ज्ञान सो खोवा॥
हौं तो अहां अमर जहां। यहां मरन पुर आएहुँ कहां॥
—जायसी ग्रन्थावली शुक्ल (द्वि० सं०) पृ० ४६

रत्नसेन भी अपना राजपाट छोड़ कर पद्मावती की खोज में निकल पड़ता है। इसके लिए वह प्रेम का मार्ग ग्रहण करता है। यह प्रेम का मार्ग बड़ा ही कठिन होता है—

"प्रेम पहार कठिन विधि गाढ़ा।
सो प चढ़ै जो सिर सों चढ़ा॥"

—जायसी ग्रन्थावली

इस समय साधक की दृष्टि उल्टी हो जाती है। वह सायर की उपेक्षा करके अपने साध्य में लीन होने लगती है—

"उलटि दीठि माया सो रूठी। पलटिन फिरी जानकै झूठी॥"

सूफियों ने साधना रूपी यात्रा की चार अवस्थायें—शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत मानी हैं। जायसी इन अवस्थाओं के महत्व से परिचित थे। उन्होंने एक स्थल पर उनका उल्लेख करते हुए लिखा है कि—

"चार वसेरे सो चढ़ै सत सो उतरै पार।" —जायसी-ग्रन्थावली

"पद्मावत" में जायसी ने साधक रत्नसेन की साधना रूपी यात्रा में भी चार पड़ाव ध्वनित किए हैं। रत्नसेन का पहला पड़ाव या वसेरा समुद्र के किनारे पर होता है। यह पड़ाव शरीयत का प्रतीक कहा जा सकता है। यहाँ तक जायसी ने रत्नसेन का मार्ग उतना कठिन नहीं बताया है जितना कि आगे आने वाला सात समुद्र का मार्ग चित्रित किया गया है। समुद्र के मार्ग की भयंकरता का वर्णन करते हुए गजापति कहता है—

"हे राजन, आपसे मेरी एक विनती है वह यह कि आप प्रेम-मार्ग से प्रविष्ट न हों क्योंकि यह प्रेम-मार्ग अत्यन्त कठिन है। उस प्रेम-मार्ग में सात समुद्र रूपी मुकामात को पार करना पड़ेगा। उनको पार करना बड़ा कठिन है क्योंकि उनके मध्य में विघ्न रूपी मगर और घड़ियाल मारने को उद्यत रहते हैं। विकारों की चंचल लहरें उठती हैं, वे सहन नहीं होतीं। उनके आगे वड़े वड़ों का धैर्य टूट जाता है। कोई विरला

व्यापारी रूपी साधक ही उस महासागर रूपी साधना मार्ग को पार कर पाता है ।[1]

यहाँ पर यह भी बता देना चाहते हैं कि जायसी ने शरीयत के मार्ग पर बहुत बल नहीं दिया है। उनका विश्वास था कि प्रेम-साधकों के लिए पहली सीढ़ी-मात्र है। उन्होंने शरीयतों की उपेक्षा भी व्यजित की है। निम्नलिखित पक्ति से यही बात प्रकट होती है—

"प्रेम पथ दिन घरी न देखा। जब देखै तब होय सरेखा ॥"

—जायसी ग्रन्थावली

ऊपर निर्देशित तरीकत का मार्ग शरीयत के मार्ग से भी कठिन होता है।

इस मार्ग मे चलने वाले साधक को अपनी साधना की सिद्धि के लिए अपना सर्वस्व त्यागना पड़ता है। इस स्थिति का सकेत जायसी ने निम्नलिखित पक्तियो मे किया है—

"जो कुछ दरब अहाँ संग दान दीन्ह संसार।
न जाने केहि सत सेती, दँव उतारे पार ॥"

जायसी-ग्रन्थावली

इस मार्ग मे साधक को सत् का ही पूर्ण आश्रय लेना पड़ता है। तभी साधक सागर पार हो सकता है—

---

१ पै गुसाईं सन एक बिनाँति।
मारग कठिन जाव केहि भाँति ॥
सात समुद्र असूझ अपारा।
मारहि मगर मच्छ घरियारा ॥
उठै लहरि नहि जाव संभारी।
भागहि कोई निबहै बेपारी ॥

जायसी ग्रंथावली शुक्ल पृ० ५६

"सायर तरै हिए सत् पूरा ।"

जायसी ग्रंथावली

साधना का तीसरा पड़ाव हकीकत है। जायसी ने इस स्थिति का भी बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। सातवें समुद्र में आकर सालिक तीसरे पड़ाव पर पहुँच जाता है। इस अवस्था में साधक को ब्रह्म के अस्तित्व की हकीकत मालूम हो जाती है। जायसी की निम्नलिखित पंक्तियों में इस स्थिति का वर्णन मिलता है—

"रतनसेन रूपी साधक सातवें समुद्र पर पहुँचा तब उसे मनवांछित फलों की प्राप्ति हुई। मानसरोवर के दर्शन से मन में प्रसन्नता छा गई। वही प्रसन्नता पुरइनों के विकास के रूप उस मानसरोवर में परिव्याप्त हो गई। उसके दर्शन से ही हृदय से अज्ञान रूपी अन्धकार दूर हो गया और समस्त पाप क्षीण हो गए तथा साधक के मन में ज्ञान की लहर दौड़ पड़ी।"[1]

मारिफत की अवस्था अन्तिम अवस्था है। इसके सम्बन्ध में हुजविरी का मत है कि यह दो प्रकार की होती है। एक तो हाली दूसरी इल्मी। जायसी ने निम्नलिखित पंक्तियों में हाली मारिफत की अवस्था का संकेत किया है—

"जब रत्नसेन रूपी साधक ने पद्मावती रूपी ब्रह्म के दिव्य सौन्दर्य से साक्षात्कार किया तो उसके नेत्र बन्द हो गए। मानो उसके नेत्रों मे ही उसने अपने प्राण प्रतिष्ठित कर दिए हों। उसके नेत्रों की मदिरा का पान करते ही साधक आत्म-विभोर हो उठा। फिर उसे अपनी सुध-बुध

---

१ सतएं समुद्र मानसर आए। मन जो कीन्ह साहस सिध पाए ॥
देखि मानसर रूप सुहावा। हिय हुलास पुरइन होइ छावा ॥
गा अँधियार रैनि मसि छूटी। भा भिनसार किरन रवि फूटी ॥
जायसी ग्रन्थावली शुक्ल (द्वि०सं०) पृ० ६७

नही रहती ।"[1]

इन पक्तियों में कवि ने हाल की दशा का अच्छा वर्णन किया है।

हाल के सूफियो ने दो पक्ष बतलाए हैं—त्याग पक्ष और प्राप्ति पक्ष। त्याग पक्ष की भी तीन स्थितियां मानी गई हैं—फना, फक्द, और सुक्र। फना मे साधक को अपनी सत्ता का ज्ञान नहीं रहता। फक्द मे अहं भाव का नाश हो जाता है। सुक्र की अवस्था में साधक प्रेम मद मे मतवाला हो जाता है। इसी प्रकार प्राप्ति पक्ष की भी तीन स्थितियां मानी गई हैं—वका, वज्द और शह्व। वका उस स्थिति को कहते हैं, जब साधक की परमात्मा मे स्थिति होने लगती है। वज्द मे परमात्मा की तृप्ति हो जाती है। शह्व में पूर्ण शान्ति मिल जाती है। जायसी की कथा मे हाल की यह समस्त अवस्थाएं प्रतिविम्बित मिलती हैं। इनका हम क्रमशः सकेत कर सकते हैं। ऊपर अभी जो उदाहरण दिया है, उसमे हाल के त्याग पक्ष की तीनो स्थितियों का आभास मालूम पडता है। इन स्थितियो का अलग-अलग सकेत भी जायसी की कथा मे मिलता है। फना मे साधक को पूर्ण आत्म-विस्मृति हो जाती है। निम्नलिखित पक्तियो मे देखिए फना की स्थिति का ही चित्रण किया गया है—

"जिस प्रकार समुद्र मे बूंद मिल कर विलीन हो जाती है, उसी प्रकार साधक भी साध्य मे विलीन हो जाते हैं। उस समय साधक और साध्य मिल कर उसी प्रकार एक हो जाते हैं। जिस प्रकार पानी मे रंग मिलकर उसी मे खो जाता है।[2]

---

१ जोगी दृष्टि दृष्टि सो लीन्हा, नैन रोपि नैनहिं जिउ दीन्हा।
जेहि मद चढ़ा परतेहि पाले, सुधि न रही ओहि एक पियाले॥
जायसी ग्रन्थावली पृ० ८४

२ बूंद समुद्र जैस होई मेरा। गा हिराइ अस मिलै न हैरा॥
रंगहि पान मिला जस होई। आपहि खोय रहा होई सोई॥
जायसी ग्रन्थावली

इसी प्रकार फक़द की स्थिति का वर्णन देखिए। इस स्थिति में साधक के अहंकार का नाश हो जाता है। वह सोहं रूप हो जाता है। जायसी कहते हैं—

"प्रेम में निमग्न होने के बाद साधक अपने को सर्वथा भूल जाता है। वह सोहं रूप हो जाता है और अपनी सुध-बुध खो बैठता है।[1]

इसी प्रकार सुक्र की अवस्था के उदाहरण मिलते हैं—

"जब साधक का मन उस परम तत्व में लीन हो जाता है, तब वह उन्मत्त होकर झूमने लगता है। फिर उसे किसी बात का ध्यान नहीं रहता। वह इस प्रकार झूमा करता है जैसे कोई मदिरा पीकर झूम रहा हो। उसका इस प्रकार उन्मत्त होना मदिरा के कारण, नाद-श्रवण के कारण होता है। अतएव इस प्रकार की ईश्वरोन्माद की अवस्था तक सहर्ष पहुँचने की चेष्टा करनी चाहिए।"[2]

इसी प्रकार हाल के त्याग पक्ष की तीन स्थितियों के चित्र, जायसी की कथा में ढूढ़ने पर सरलता से मिल जाते हैं। बका की स्थिति का वर्णन देखिए—रत्नसेन बिल्कुल पद्मावती में लीन है। इसीलिए वह मृत्यु से नहीं डरता। जो ब्रह्म रूप हो चुका है, मृत्यु उसका कर भी क्या सकती है। इसीलिए रत्नसेन सूली देखकर प्रसन्न होता है।

---

१ बाउर अंध प्रेम कर लागू, सौंहं धंसा किछू सूझ ने आगू॥

जायसी ग्रन्थावली पृ० १०१

२ काया जो परम तंत तत्त लावा।
घूम माति, सुनि और न भावा॥
जस मद पिए घूम कोई नाद सुनै पै घूम।
तेहि ते बरजे नीक है चढ़े रहसि के दून॥

जायसी ग्रन्थावली पृ० १२५

'जिसका जीव इस सांसारिकता के जाल में पड़ा हुआ है, वही जीवात्मा सूली को देख कर प्रसन्न नहीं होगा, किन्तु जिस साधक का जीव इस संसार के दुखों से मुक्त हो चुका है, वह तो उसे प्रेम पूर्वक स्वीकार करेगा। रत्नसेन रूपी साधक को यह हर्ष था कि इस सूली के प्रसाद से उसे इस पृथ्वी से उठ कर अपने प्रियतम से मिलने का अवसर मिलेगा।'[1]

वज्द की अवस्था इसके बाद की है। इसमें पहुंच कर साधक को साध्य की प्राप्ति हो जाती है। 'पद्मावत' में वज्द की अवस्था का वर्णन पद्मावती मिलन-खण्ड में माना जायेगा। शहू की स्थिति का सही चित्र जायसी में नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि जायसी का साधक सिद्धि प्राप्त करके भी पुनरावर्तन करता है। वह तद्रूप नहीं हो जाता। मिलन की आगे की कथा उसी पुनरावर्तन को लेकर चलती है। साधक पद्मावती रूपी सिद्धी को प्राप्त करके उसे चित्तौड़गढ़ में लाने का प्रयत्न करता है। जब सिद्धि की अनुभूति हाल की हालत में होती रहती है, तब तक उसे आनन्द और शान्ति दोनों की अनुभूति होती है किन्तु दूसरा पक्षी रूपी कोई लौकिक व्यक्ति उसे नागमती रूपी लौकिकता का सन्देश दे देता है, तो उसके पुराने संस्कार जाग्रत हो जाते हैं और साधक अपनी सिद्धि के साथ शरीर रूपी चित्तौडगढ की ओर ज्यों ही पुनरावर्त्तन करता है, त्यों ही आपत्तियों के बादल उसके जीवनाकाश में मंडराने लगते हैं। उसे अपनी पद्मावती रूपी सिद्धि की रक्षा के लिए बड़े युद्ध करने पड़ते हैं। अन्त में वह ऐसे ही एक युद्ध में मारा भी जाता है। इस प्रकार कथा का पूर्वार्द्ध कथा के उत्तरार्ध में भिन्न है। पूर्वार्द्ध में सूफी-साधना

---

१ जाकर जीउ मरै पर बसा। सूली देख न सो रस हंसा॥
आजु नेह सो होय निबेरा। आज पुहुमि तज गगन बसेरा॥
—जायसी ग्रंथावली पृ १११

की अन्योक्ति का अच्छा निर्वाह मिलता है, किन्तु उत्तरार्ध में कथा उपदेशात्मक अधिक है, आध्यात्मिक कम। उत्तरार्ध में कवि यही दिखाना चाहता है कि जो साधक सिद्धि प्राप्त करके भी फिर सांसारिकता रूपी नागमती के मोह में फंस जाता है, उसका परिणाम दुखद होता है। इस प्रकार सूफी-साधना का जायसी की कथा से पूरा मेल वैठता मालूम पड़ता है। अतः जायसी की अन्योक्ति का सांकेतिक अर्थ सूफी-साधना के आधार पर लगाया जाना जाहिए।

जायसी की अन्योक्ति के सूफी साधना परक अर्थ के बीच कहीं-कहीं हठयोग की व्यंजना—जायसी की अन्योक्ति को सूफी साधना के ढंग पर स्पष्ट करते समय कही-कही ऐसा लग सकता है कि उनकी अन्योक्ति कहीं हठयौगिक अर्थों की भी व्यंजना करती है। उदाहरण के लिए सिंहलगढ़ का वर्णन लिया जा सकता है। जायसी ने सिंहलगढ़ का वर्णन करते समय उसकी उपमा शरीर से दी है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जायसी हठयोग से भी वहुत अधिक प्रभावित थे। उनका सिंहलगढ़ का वर्णन निश्चय ही हठयोग से प्रभावित है। हमारी समझ में इसका कारण यह था कि सूफी-साधना में साध्य या उपास्य का कोई विशेष निवास-स्थान नहीं होता। वह साधक के हृदय की सम्पत्ति होती है। इसीलिए जायसी ने सिंहलगढ़ को हृदय का प्रतीक माना है। जैसा कि हम अभी लिख चुके हैं, जायसी योग से अधिक प्रभावित थे। यही कारण है कि सिंहल को हृदय का प्रतीक मानते हुए भी वे उसका वर्णन करते समय उसके हठयौगिक साम्य का उल्लेख करने के लोभ का संवरण नही कर सके। किन्तु इससे अन्योक्ति को कोई विशेष धक्का नहीं पहुँचा है। जायसी पर भारतीय मायावाद का भी प्रभाव था। यही कारण है कि उनकी अन्योक्ति के अन्तर्गत माया का वर्णन भी हम पाते हैं। हमारी समझ में जायसी की अन्योक्ति एक ओर तो सूफी साधना का संकेतिक अर्थ अभिव्यंजित करती है और दूसरी ओर कुछ मनोवैज्ञानिक तथ्यों की ओर

संकेत करती है । जायसी ने कथा के मनोवैज्ञानिक पक्ष का ही उद्घाटन किया है। उसके सूफी साधना-परक अर्थों की तथा हठयौगिक बातों की व्यंजना अपनी तरफ से करनी पड़ेगी । तभी सम्पूर्ण कथा एक अन्योक्ति मालूम पडेगी। इन तीनों के सामंजस्य से अन्योक्ति को स्पष्ट करने पर भी ऐसा अनुभव होता है कि सम्पूर्ण कथा मे अन्योक्ति का सफल निर्वाह नही हो सका है। इसके सम्भवतः निम्नलिखित कारण थे—

१—जायसी को जितना अन्योक्ति बाँधने का लोभ था उतना ही अधिक कथा के विस्तार करने का भी । कही-कहीं कथा के विस्तार में वे ऐसी बुरी तरह फँस गए हैं कि वहाँ अन्योक्ति के अनुरूप कथा को नही ढाल सके हैं।

२—जायसी सूफी-साधना, हठयोग, भारतीय वेद-शास्त्र और वेदान्त-दर्शन आदि न मालूम किन-किन बातो से प्रभावित थे। वे अपनी कथा में इन सबकी यथा-स्थान व्यंजना करना चाहते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि स्थान-स्थान पर अन्योक्ति का क्रम टूट गया और समासोक्ति की व्यंजना पाई जाने लगी।

३—जायसी की "पद्मावती" की कथा अत्यधिक भावपूर्ण और रोचक है। कही-कही कवि कथा के रस मे इतना अधिक डूब गया है कि उसे अन्योक्ति के निर्वाह का ध्यान ही नही रहा है।

४—जायसी ने एक साथ अन्योक्ति के दो-तीन सांकेतिक अर्थ प्रकट करने की चेष्टा की है। इस बात को अच्छी तरह से स्मरण रखना चाहिए कि जायसी का 'पद्मावत', लिखने में प्रत्यक्ष लक्ष्य केवल कथा-मात्र कहना था जैसा कि कथा के उपोद्घात मे ही उन्होंने कहा है। किन्तु परोक्ष लक्ष्य अपने सूफी सिद्धान्तों का हिन्दुओं में प्रचार करना भी था। इसीलिए उन्होने कथा के माध्यम से अन्योक्ति के सहारे सूफी साधना का सुन्दर सकेत किया है। यदि हम जायसी की अन्योक्ति

की विवेचना सूफी साधना के प्रकाश में करें तो हम उसे सफल मानेंगे। अब प्रश्न यह है कि फिर जायसी ने अन्योक्ति का जो सुलझाव दिया है, वह उनकी सूफी साधना-परक क्यों नहीं है ? वास्तव में वह प्रत्यक्ष ऐसा नहीं कर सकते थे। यदि वे ऐसा करते तो हिन्दू लोग उनकी कहानी को पढ़ते ही नहीं। अतएव उन्हें अपनी कहानी का आध्यात्मिक अर्थ पण्डितों की विचारधारा के अनुरूप ढालना पड़ा। हिन्दुओं में उस समय योग और वेदान्त की मान्यता अधिक थी। गीता का भी बहुत प्रचार थो। उन्होंने अपनी अन्योक्ति का जो सुलझाव दिया है, वह पूर्ण भारतीय है। पद्मावती को उन्होंने समत्व बुद्धि का साकार रूप माना है। रत्नसेन को मन का प्रतीक कहा गया है। मन जब समत्व बुद्धि को प्राप्त कर लेता है, तभी वह ब्रह्ममय हो जाता है। यही सिद्धावस्था है। गीता में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। ऊपर हम गीता के इस सिद्धान्त का संकेत कर चुके हैं। जायसी अपनी कथा में प्रत्यक्ष रूप से इस सिद्धान्त की भी व्यंजना करना चाहते थे। यदि उनकी कथा से हिन्दू सिद्धान्तों के अनुरूप अर्थ न निकला तो पण्डित लोग उसकी प्रशंसा नहीं करेंगे। पण्डितों के द्वारा प्रशंसित न होने पर उनके काव्य का प्रचार हो नहीं सकता था। इसीलिए उन्होंने पण्डितों की चापलूसी-सी की है। अपने को पण्डितों का 'पिछलगा' कह उन्होने पण्डितों के अभिमान भाव की परितुष्टि की है। अन्योक्ति के उपर्युक्त भारतीय ढंग का सुलझाव देते समय भी उन्होंने उसका श्रेय पण्डितों को ही दिया है।

"मैं एहि अरथ पण्डितन्ह बूझा।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी प्रत्यक्ष रूप से अन्योक्ति को हिन्दू-विचारधारा के अनुरूप दिखलाना चाहते थे, किन्तु उनका प्रधान लक्ष्य सूफी साधना की अन्योक्ति के सहारे व्याख्या करना था। एक कथा से दो आध्यात्मिक अर्थ की व्यंजना करने के प्रयास में लगे हुए जायसी कहीं-कहीं तीसरा योगपरक अर्थ भी ध्वनित करने में लग गए हैं।

एक साथ दो या तीन आध्यात्मिक अर्थों की व्यंजना करने की चेष्टा करते हुए जायसी कही एक अर्थ मे इतना तन्मय हो गये हैं कि दूसरे अर्थ का निर्वाह नही कर सके। इसके अतिरिक्त जायसी का लक्ष्य इस्लाम के महत्व का प्रतिपादन करना भी था। प्रोपेगण्डा के भाव से प्रेरित होने के कारण वे बहुत से स्थलो पर इस बात को बिल्कुल भूल गए है कि वे एक लम्बी-चौड़ी अन्योक्ति कथा लिख रहे है।

इन्ही सब कारणो से जायसी की अन्योक्ति उतनी अधिक सफल और सार्थक नही मालूम पडती जितनी कि होनी चाहिए थी। किन्तु इसमे कोई सन्देह नही है कि वह है एक अन्योक्ति ही। अन्योक्ति के सहारे कवि ने सूफी साधना, हठयौगिक-साधना तथा मनोविज्ञान आदि के बड़े रहस्यपूर्ण तथ्यो का सकेत किया है। इससे कथा की रहस्यात्मकता और भी बढ गई है। मेरी समझ में सम्पूर्ण कथा का इस ढंग का रहस्यपूर्ण एवं आध्यात्मिक निर्वाह जायसी से पहले किसी कवि मे नही मिलता। निश्चय ही कथात्मक रहस्यवादियो मे जायसी अग्रगण्य कहे जा सकते हैं।

जायसी के आध्यात्मिक रहस्यवाद की समासोक्ति मूलक कथा शैली

समासोक्ति—कथात्मक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति का एक दूसरा ढंग भी है। कवि कथा के बीच-बीच में आध्यात्मिक संकेत करता चलता है। यह आध्यात्मिक संकेत किसी क्रम से नही होते। कभी तो वह मायावाद की व्यंजना कर देता है, कभी सूफी साधना सम्बन्धी कोई बात कह देता है और कभी किसी अन्य साधना पद्धति से सम्बन्धित बात ध्वनित करता है। किन्तु इस प्रकार के सभी आध्यात्मिक सकेतो मे एक विचित्र और मधुर रहस्यात्मकता पाई जाती है। अपनी इसी रहस्यात्मकता के कारण लौकिक कथा भी कही-कही अलौकिक

सी लगते लगती है। प्रस्तुत कथा के बीच लाक्षणिकता और व्यंजनात्मकता के कारण जहां कही अप्रस्तुत रहस्यात्मक भावों की अभिव्यक्ति की जाती है, वहां आलंकारिक समासोक्ति अलंकार की अवस्थिति मानते है। यह अलंकार अन्योक्ति का बिल्कुल उल्टा माना जाता है। अतएव साधारणतया जहा अन्योक्ति की योजना की जाती है, वहां समासोक्ति के लिए कोई स्थान नही रहता। किन्तु जायसी ने अन्योक्ति और समासोक्ति दोनों की सुन्दर योजना की है। हम अभी ऊपर स्पष्ट कह चुके है, कि जायसी अपनी कथा में सर्वत्र अन्योक्ति का निर्वाह नही कर सके हैं। कथा के स्थूल रूप को यदि लें तो वह किसी प्रकार अन्योक्ति सिद्ध की जा सकती है, किन्तु कथा के सूक्ष्म स्वरूप में हम सफलता पूर्वक अन्योक्ति घटित नही कर सकते, क्योंकि कथा के वहुत से अंश ऐसे हैं, जिनमें वहुत दूर-दूर तक लौकिक कथा के अतिरिक्त किसी आध्यात्मिक अर्थ की व्यजना नहीं मिलती। ऐसे स्थानों पर वे इस बात को बिल्कुल भूल गये हैं कि वे कथा को अन्योक्ति के रूप मे भी लिख रहे हैं। किन्तु ऐसे प्रसंगों के लिखते समय जव कभी उन्हें कथा के आध्यात्मिक पक्ष की याद आ जाती है, वस वही एकाध पंक्ति ऐसी ढाल देते है जो किसी रहस्यपूर्ण सांकेतिक अर्थ की व्यंजना करती है। वृहत प्रवन्ध काव्य लिखने वालों मे प्रायः यह दोष आ जाता है कि वे कथा के प्रवाह और रोचकता में अपने मूल लक्ष्य को भूल जाते हैं और कथा में पूर्ण तन्मय हो जाते हैं, किन्तु जव उन्हें होश आता है। तभी वह अपने लक्ष्य की कुछ पंक्तियों में व्यंजना कर देते हैं। तुलसी ने अपने मानस की रचना भगवान राम के भक्तों के उपास्य स्वरूप की प्रतिष्ठा करने के लिए की थी। किन्तु वीच-वीच में कथा के प्रवाह में पड़कर वे अपने लक्ष्य को विल्कुल भूल जाते है, किन्तु जव होश आता है तव एकदम याद दिला देते हैं कि राम मानव नही, भगवान हैं। यही हालत जायसी की है। कथा की रोचकता में वे इतना डूब जाते हैं कि उन्हें होश ही नही रहता कि उनका लक्ष्य कथा के सहारे किन्हीं आध्यात्मिक वातों की

व्यंजना करना भी है। जब कभी इस बात का स्मरण हो जाता है, तभी वे एकाध वाक्य ऐसा लिख देते हैं जिससे अप्रस्तुत की व्यंजना होती है।

जायसी की समासोक्तियां—अब हम जायसी की समासोक्तियों पर विचार करना चाहते हैं। कथा का प्रारम्भ सिंहल द्वीप के प्रतीक से किया गया है। कवि सिंहल द्वीप का वर्णन करते हुए वृक्षों की छाया का प्रसंग आते ही अप्रस्तुत की ओर संकेत कर देता है—

"जेई वह पाई छांह अनूपा।
फिर नहीं आइ सहै वह धूपा॥"

जायसी ग्रन्थावली शुक्ल पृ० ११

इस खण्ड में कवि ने मानसरोवर का वर्णन करते समय भी उसकी अलौकिकता की ओर संकेत किया है। इस वर्णन को पढ़ते पढ़ते ऐसा लगता है कि जायसी मानसरोवर के वर्णन के सहारे सहस्रार और ब्रह्मरन्ध्र का संकेत कर रहे हैं—

" उस मानसरोवर मे जो रक्त वर्ण के पुष्प विकसित हो रहे हैं, उनमे सहस्र-सहस्र पंखड़ियां हैं। इस मानसरोवर में तैरने वाली सीपियों मे मोती उत्पन्न होते हैं। इन मोतियों का हंस रूपी आत्मा बड़े विनोद से पान करता है और प्रसन्नतापूर्वक उस जल में क्रीड़ाएं करता है।[1]

इसी खण्ड में हाट का वर्णन करते-करते जायसी संसार की ओर संकेत करने लगते हैं—" इस संसार रूपी बाजार में कोई क्रय करता है और कोई विक्रय। इसमें किसी को लाभ होता है और कोई अपना मूल भी गंवा देता है। इस प्रकार इस संसार में कोई व्यक्ति अपने जन्म को यो ही व्यर्थ गंवा देता है और कोई इस संसार में जन्म लेकर अपने

---

१ फूला कंवल रहा होइ राता। सहस सहस पखुरिन कर छाता॥
उलथहि सीप मोति उतराहीं। चुगहि हंस और केलि कराहीं॥
जायसी ग्रन्थावली पृ० १२

पुण्यों का संग्रह करता है तथा परमात्मा को प्राप्त करता है ।[1]

इसी खण्ड में कवि ने सिंहलगढ़ का रहस्यात्मक वर्णन भी किया है। सिंहलगढ़ का यह वर्णन पूर्ण हठयौगिक है और इसीलिए बड़ा ही रहस्यात्मक हो गया है। जायसी के हठयौगिक रहस्यवाद का विवेचन करते समय इस पर विस्तार से विचार करेंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही खण्ड में कवि ने प्रस्तुत कथा के प्रसंग में अप्रस्तुतों की व्यंजना की है। इसीलिए ऐसे स्थलों पर समासोक्ति अलंकार हो गया है। साथ ही सम्पूर्ण प्रसंग ही रहस्यपूर्ण प्रतीत होने लगता है।

जायसी में समासोक्ति का समावेश उनकी अन्योक्ति के कारण भी हुआ है। अन्योक्ति को स्पष्ट करते समय हम लिख चुके हैं कि जायसी की पद्मावती, समत्व बुद्धि रूपी परमात्मा की प्रतीक हैं। पद्मावती का लौकिक वर्णन करते-करते वे अन्योक्ति के इस प्रतीक की ओर भी संकेत कर देते हैं। जैसे जन्म खण्ड में पद्मावती का नख-सिख-वर्णन करते-करते उसके ब्रह्मत्व की ओर संकेत करने लगते हैं—

" उस पद्मावती रूपी ब्रह्म के नेत्र ब्रह्मरन्ध्र में केंन्द्रित रहते हैं जो संसार को दृष्टिगत नही होते। योगी, यती और सन्यासी लोग उन्हीं नेत्रों के दर्शन के लिए तपस्या और साधना करते हैं।[2]

जायसी ने बहुत-से स्थलों पर समासोक्ति की योजना सूफी विचार धारा की अभिव्यक्ति के हेतु भी की है। सूफी लोग प्रेम को ही मूल तत्व मानते हैं और उस दिव्य प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए दाम्पत्य-

---

१ कोई करै बिसाहना काहू केर बिकाय।
कोई चलै लाभ सन कोई मूर गंवाय ॥

जायसी ग्रन्थावली पृ० १४

२ जग कोई दीठि न आवै आछैं नैन अकास।
जोग जती सन्यासी तप साधहिं तेहि आस ॥

जायसी ग्रन्थावली

प्रतीक का आश्रय लेते हैं। वे परमात्मा को प्रियतम और अपने को प्रेमिका मानते हैं। इसी प्रतीक के आधार पर वे इस लोक को नैहर और उस लोक को प्रियतम का लोक मानते हैं। जायसी ने इस भाव की व्यंजना अनेक स्थलों पर बड़े रहस्यात्मक ढंग से की है। मानसरोवर खण्ड के प्रारम्भ में ही वे लिखते हैं।

"हे रानी! तुम अपने मन में विचार कर देख लो। इस संसार रूपी नैहर में तुम्हें कुछ ही दिन रहना है। जब तक जीवन रूपी पिता का राज्य है, तब तक जी भर के खेल लो।"[1] तथा फिर तो ससुराल रूपी परलोक चला ही जाना है। फिर कहाँ हम होंगे और कहाँ यह सरोवर का तट होगा! फिर आना हमारे हाथ में कहाँ होगा। कैसे फिर हम एक साथ मिलकर खेल सकेंगे।[2]

सूफी लोग उपास्य का स्वरूप सगुण और निर्गुण दोनों को मानते हैं। सगुण इस रूप में कि वह दिव्य सौन्दर्य सम्पन्न होता है, और निर्गुण इस रूप में कि लोक में उसकी प्रतिष्ठा नहीं होती। सूफी साधक का उपास्य रूप ठीक वैसा ही होता है जैसा कि गुरु शिष्य के हृदय में भर देता है। जायसी ने अपनी अन्योक्ति में पद्मावती को बुद्धि का प्रतीक माना है। बुद्धि का साकार रूप ही पद्मावती है। बुद्धि को परमात्मा का रूप मानकर जायसी ने पद्मावती के लौकिक वर्णनों के बीच उसके अलौकिक रूप की ओर भी संकेत किया है। मानसरोवर-खंड में उसके रूप की अलौकिकता का बड़े विस्तार से

---

१ ऐ रानी मनु देखि बिचारी। ए नैहर रहना दिन चारी॥
जो लागि अहै पिता का राजू। खेल लेहु जो खेलहु आजू॥
जायसी ग्रन्थावली पृ० २२

२ पुनि सासुर हम गवनब काली। कित हम कित यह सरवर पाली॥
कित आवन पुनि अपने हाथा। कित मिलके खेलब एक साथा॥
जायसी ग्रन्थावली पृ० २३

उल्लेख किया गया है। पद्मावती ब्रह्म रूप है। अतः सारी सृष्टि यहाँ तक कि जड़ मानसरोवर भी उसके चरणों तक पहुँचने की चेष्टा करते हैं—

"मानसरोवर ने जब पद्मावती के दर्शन किये तब वह उसके रूप को देखकर मुग्ध हो गया तथा उसका हृदय हिलोरें लेने लगा। मैं तनिक उस पद्मावती रूप ब्रह्म के चरण छू पाऊँ, इस कामना से वह अपनी लहरों को ऊँचा उठाने लगा।"[1]

इसी प्रकार इस खण्ड के अन्तिम अवतरण में भी पद्मावती के ब्रह्मत्व का संकेत किया गया है—

"मानसरोवर पद्मावती के आने का समाचार पाकर मुग्ध हो गया और सोचने लगा कि मैंने मनवांछित फल पा लिया है। पारस के सदृश पद्मावती रूपी ब्रह्म ने यहाँ तक आने का कष्ट किया है। जब मानसरोवर ने पद्मावती के नेत्रों के दर्शन किए तो उसमें कमल खिल उठे मानो उसके नेत्र ही कमल के रूप मे मानसरोवर मे प्रतिबिम्बित हो गये हों। इसी प्रकार उस पद्मावती रूप ब्रह्म के शरीर की निर्मलता ने जल को निर्मलता प्रदान की। उसकी हँसी ही हंस के रूप में और दांतों की ज्योति ही हीरे आदि रत्नों के रूप मे उस मानसरोवर में प्रतिबिम्बित हो गए।"[2]

अन्य सैकड़ों स्थलों पर पद्मावती के लौकिक वर्णनों के बीच में

---

१ सरवर रूप विमोहा। हिये हिलोरहि लेइ ॥
पाव छुवै मकु पावौं। एहि मिसि लहरहि देहि ॥
—जायसी ग्रन्थावली पृ० २४

२ कहा सरवर चाह सो पाई। पारस रूप यहाँ लगि आई ॥
नयन जो देखा कंवल भा निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा दसन ज्योति नग हीर ॥
—जायसी ग्रन्थावली पृ० २५

उसकी दिव्यता एवं अलौकिकता अभिव्यंजित की गई है।

जायसी ने कभी-कभी अप्रस्तुत भावों की व्यंजना के लिए श्लेष का भी उपयोग किया है। उदाहरण के लिए उनकी निम्नलिखित पंक्तियों को ले सकते हैं—

"यह भोग रूपी केले का वृक्ष क्यों इतना अधिक फल रहा है। इसमें सांसारिक जीव रूपी पक्षी आ-आकर फँसते हैं।"[1]

यहाँ पर भोग पर श्लेष है। भोग का अर्थ केला है और दूसरा विषय-वासना। इस प्रकार और भी बहुत से उदाहरण पद्मावत में पाए जाते हैं। एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है—

"हे योगी ! तू धातु कमाना सीख कर भी अर्थात् स्वर्ण आदि धातुओं की रसायन आदि बनाना सीखकर भी अब कान्तिहीन कैसे हो रहा है ?"[2]

एक दूसरा वर्णन भी ठीक इसी प्रकार का है—

"हे धातु (अर्थात् स्वर्णादि धातु एवं भोग-विलास) के प्रति उदासीन योगी ! तुम क्या पूछते हो। जिसको हमने गुरु बनाया है, वही हमारे हृदय-पट में स्थित है।"[3]

इस प्रकार इन अवतरणों में धातु का उल्लेख श्लेष के सहारे किया गया है। इसका एक अर्थ तो धातुपरक निकलता है और दूसरा आध्यात्मिक। इन्हें भी हम एक प्रकार की श्लिष्ट समासोक्ति ही मानेंगे।

---

१ काहेक भोग बिरछ अस फरा। आउ लाइ पंखिन कह धरा॥

—जायसी ग्रन्थावली पृ० २८

२ धातु कमाय सिखं तै जोगी। अब कस भा निरधातु वियोगी॥

—जायसी ग्रन्थावली पृ० १२६

३ का पूंछहु तुम धातु निछोही। जो गुरू कीन्ह अन्तर पट ओही॥

—जायसी ग्रन्थावली पृ० १२६

कहीं-कहीं जायसी ने भारतीय दर्शनों की बातों की भी व्यंजना की है। भारतवर्ष में सदा से दो मार्ग रहे हैं—प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग। देखिए जायसी ने उनका कितने मधुर ढंग से संकेत किया है—

"इस संसार रूपी हाट में हमें केवल दो मार्ग दिखाई देते हैं। न जाने विधाता हमें किस मार्ग से ले जावेगा।"[1]

इसी प्रकार अद्वैतवाद की भी व्यंजना की है। नागमती रत्नसेन से कहती है—

"मैं समझती थी कि तुम केवल मुझसे प्रेम करते हो किन्तु जब ध्यानपूर्वक देखा तो ज्ञात हुआ कि तुम सभी को प्रेम करते हो। अथवा मैं समझती थी कि ईश्वर मुझ में ही है किन्तु जब खोज कर देखा तो ज्ञात हुआ कि ईश्वर सर्वव्यापी है।"[2]

इसी प्रकार देखिये निम्नलिखित अवतरण में जायसी ने मायावाद और अद्वैतवाद आदि की कितनी भाव्यात्मक व्यंजना की है—

जब तक मैंने ब्रह्म रूपी गुरु को नहीं पहचाना था तब तक वह मुझे करोड़ों अन्तरपटों के बीच में छिपा हुआ जान पड़ता था, किन्तु जब मैंने उसे पहचान लिया तब वह मुझसे भिन्न नहीं दिखाई दिया। मेरे लिए गुरू ही मेरा तन, मन, प्राण और जीवन सब कुछ है। मैं अहंकार में भूला हुआ इस संसार में घूमता था जब मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ तो फिर अहंकार की समस्त भावना समाप्त हो गई। मैंने उसके प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण कर दिया है वह चाहे मुझे मार दे अथवा जीवित रक्खे। गुरु के अतिरिक्त मुझे इस संसार में कौन मार सकता

---

१ दुइ मारगु देखौ एहि हाटा। दई चलावै धौं केहि बाटा॥

—जायसी ग्रन्थावली पृ० ३१

२ मैं जानेउ तुम्ह मोहि माहा। देखौ ताकि तो हो सब पाहा॥

जायसी ग्रन्थावली पृ० ३७

है। संसार तो स्वयं नश्वर है। गुरु चाहे मुझे सूली पर चढ़ा दे और चाहे हाथी से कुचलवा देवे। उसके हाथों मुझे सब कुछ स्वीकार है।[1]

इस प्रकार और भी बहुत से स्थलों पर जायसी ने कथा-प्रसंगों के बीच गूढ आध्यात्मिक सिद्धान्तों की व्यंजना की है। यह समस्त वर्णन आध्यात्मिक रहस्यवाद के अन्तर्गत आते हैं।

जायसी ने सूफी सिद्धान्तों की व्यंजना स्थान-स्थान पर समासोक्ति के सहारे की है। हकीकत की अवस्था का यह वर्णन देखिये—

"फिर सातवें समुद्र मानसरोवर पर आए। यहाँ पहुँचने पर मन ने जो चाहा वही प्राप्त किया। इस मानसरोवर के दर्शन से अद्भुत प्रसन्नता कमल के रूप मे विकसित हो छा गई। इस मानसरोवर के दर्शन से, अर्थात ईश्वर के अस्तित्व का बोध होने से समस्त अज्ञान रूपी अन्धकार नष्ट हो गया और मोह रात्रि की कालिमा समाप्त हो गई। बोध रूपी प्रातःकाल होने पर ज्ञान रूपी सूर्य की किरणें फूट निकली। सभी साथियों को ईश्वर के अस्तित्व का बोध हुआ और वे "अस्ति" "अस्ति" कहने लगे। जो अज्ञान के कारण अन्धे थे उनके नेत्र विधाता ने खोल दिये।[2]

---

१ जब लगि गुरु हौं अहा न चीन्हा।
कोटि अन्तर पट बीचहि दीन्हा ॥
जब चीन्हा तब और न कोई, तन मन जिउ जीवन सब सोई।
हौं हौं करत धोक इतराई, जब भा सिद्ध कहां पर छाई।
मारै गुरु कि गुरु जियावै, और को मार मरै सब आवै।
सूरी मेली हस्ति कर चूरू, हौं नहि जानौ जानै गुरु।

जायसी ग्रन्थावली पृ० १०५

२ सतएं समुद्र मानसर आय, मन जो कीन्ह साहस सिधि पाय।
देखि मानसर रूप सुहावा, हिय हुलास पुरइनि हुई छावा।

इसी प्रकार ज्ञान की प्राप्ति के सुन्दर संकेत भी मिलते हैं। एक वर्णन इस प्रकार है—

"जब काया उस परम तत्व (ब्रह्म) में मन लगाती है तब साधक उस आनन्द के मद में मस्त होकर झूमने लगता है। फिर उसे और कुछ अच्छा नहीं लगता। जिस प्रकार मद पीकर कोई व्यक्ति झूमने लगता है, ठीक उसी प्रकार अनहद नाद का श्रवण करके साधक मस्त हो झूमने लगता है। जिस प्रकार सामान्य मानव मदिरा पान कर उन्मत्त हो जाता है ठीक इसी प्रकार अनहद नाद का श्रवण करके साधक उस रहस्यमय ब्रह्म की अनुभूति में मग्न हो जाता है।[1]

इसी प्रकार सूफी विचार-धारा और साधना की बहुत सी बातों का संकेत जायसी ने समासोक्तियों के सहारे किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जायसी ने कथा के बीच-बीच में समासोक्ति के सहारे रहस्यात्मक आध्यात्मिक अर्थों की व्यंजना की है। ये सब उदाहरण आध्यात्मिक रहस्यवाद के अन्तर्गत आवेंगे।

जायसी के आध्यात्मिक रहस्यवाद में अध्यात्म की भावात्मक विवेचना—जायसी भावुक सन्त कवि थे। प्रेम उनकी साधना का प्राण था और अध्यात्म उनके जीवन का प्रिय विषय। इनकी रचनाओं में बहुत से स्थलों पर प्रेम और आध्यात्मिकता का सुन्दर गठबन्धन दिखाई पड़ता है। जहां कहीं भी प्रेम भाव ने उनकी अध्यात्म विवेचना को

गा अंधियार रैनि मसि छूटी, भा भिनसार, किरनि रवि फूटी।
'अस्ति' 'अस्ति' सब साथी बोले, अंध जो अहा नैनी विधि खोले।
जायसी ग्रन्थावली पृ० ६७

१ काया जो परम तत मन लावा, घूमि माति सुन और न भावा।
जस मद पिए घूमि कोई नाद सुनै पै घूम।
तेहि के बरजे नीक है, चढ़े रहसि के दूम॥
जायसी ग्रन्थावली पृ० १२५

आक्रान्त कर लिया है, वही सुन्दर भाव-प्रधान विवेचनात्मक आध्यात्मिक रहस्यवाद की मधुर व्यजना हो गई है ।

ब्रह्म—ब्रह्म के भावात्मक वर्णन उपनिषदों मे भी पाये जाते है। ब्रह्म के विभावनात्मक वर्णन प्राय. भाव-प्रधान होते है । उपनिषदो में "अपाणि पादो जवनी ग्रहीतां" आदि अनेक विभावनात्मक वर्णन मिलते है। भावुक जायसी भला अपने "गुसाई" के ऐसे भावात्मक वर्णन करना कैसे भूल सकते थे। उनके विभावनात्मक वर्णन वास्तव मे वडे ही मधुर और मनोरम है ।

"ईश्वर का स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिये जैसे कि पुराणों मे वर्णन किया गया है । उसके प्राण नही है किन्तु वह फिर भी जीवित रहता है। उसके हाथ नही है किन्तु वह ससार के समस्त कार्यों को करता है। वह जीभ के अभाव मे भी सब कुछ वोल सकता है । बिना शरीर के ही वह समस्त स्थलों पर घूमता फिरता है। श्रवण न होने पर भी वह सब कुछ सुन लेता है । विना हृदय का होते हुए भी भावों का अनुभव करने वाला है। दृष्टि हीन होकर भी वह समस्त ससार को देखता है। उस विशेष स्वरूप वाले ब्रह्म का वर्णन किस प्रकार किया जावे। उसका उपमान इस ससार में कोई दूसरा नही है और न कोई उससे वढकर अनुपम ही है। उसके रहने का इस संसार में कोई स्थान नही है किन्तु फिर भी उससे रिक्त कोई स्थान इस संसार मे नही है। उसका न कोई रूप है और न कोई आकार, किन्तु फिर भी उसका निर्मल नाम है। न तो वह कभी प्राप्त होता है और न वह कभी अप्राप्य ही है। इस प्रकार वह समस्त ससार मे व्याप्त है। दृष्टिवान पुरुषों के लिए वह निकट है किन्तु अज्ञानी और मूर्खों के लिए वह दूर है ।"[1]

---

१ एहि विधि चीन्हहु करहु गियानू, जस पुरान महं लिखा बखानू ।
जीउ नाहि पै जिए गुसाई, कर नहीं पर करै सवाई ॥

ब्रह्म के भावात्मक वर्णनों के अन्तर्गत उनका विराट रूप भी आता है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में इस रूप के सुन्दर चित्र मिलते हैं। भगवान का विराट् रूप निश्चय ही बड़ा भावात्मक होता है। जायसी ने प्रत्यक्ष रूप से तो इस रूप का वर्णन नहीं किया है, किन्तु पद्मावती को ही विराट् ब्रह्म का प्रतीक मान कर उसका भावपूर्ण सांकेतिक चित्र खींचा है। इस प्रकार का सबसे प्रसिद्ध वर्णन निम्नलिखित है—

"जब मानसरोवर को पद्मावती रूपी ब्रह्म के आने का समाचार मिला तो उसने कहा कि पारस के सहारे पद्मावती यहाँ आ गई है। अब मुझे मनवांछित फल प्राप्त हो गया। उसके चरणों को छूकर मेरा जल निर्मल हो गया। उसके रूप के दर्शन करके वह भी सुन्दर हो गया। उसके शरीर की सुगन्ध का स्पर्श कर के उसे मलयानिल जैसा सुख प्राप्त हुआ। उससे उसके शरीर की समस्त तपन शान्त हो गई। उसी क्षण उसका हार शीघ्र जल के ऊपर तैरने लगा। सखियों को यह हार प्राप्त हो गया। उसे पाकर पद्मावती का मुख-चन्द्र मुस्करा उठा। उसके मुख चन्द्र के विकास को देखकर, उसे चन्द्रमा की रेखा समझ कर कुमुद खिल उठे। उस समय जिसने भी पद्मावती के रूप को देखा, वह भी सुन्दर

जीभ नाहीं पै सब कुछ बोला, तन नाहीं सब ठांहर डोला।
स्रवन नाहि पै सब कुछ सुना, हिया नाहि पै सब कुछ गुना॥
नयन नाहि पै सब कुछ देखा, कौन भांति अस जाय विशेषा।
है नाहीं कोई ताकर रूपा, ना ओहि सुन कोई आहि अनूपा॥
ना ओहि ठाउं न ओहि विन ठाऊ, रूप रेख विन निरमल नाऊ।
ना वह मिला न वे] हरा ऐस रहा भर पूरि।
दी ठिवत कहं नीयरे अंध मूरखहि दूरि॥

जायसी ग्रन्थावली पृ० ३

वन गया। उसका चन्द्र मुख दर्पण वन गया। उसमे वह अपने मनोनुकूल रूप का दर्शन करने लगे। नेत्रो को देख कर मानसरोवर मे कमल खिल उठे। उसके शरीर की निर्मलता निर्मल जल के रूप मे मानसरोवर में प्रतिविम्वित हो गई। उसकी हँसी हस का रूप धारण करके तथा दाँतो की कान्ति रत्नो के रूप मे वही शोभित हो गई।"[1]

इस अवतरण मे जायसी ने पद्मावती का चित्रण विराट् ब्रह्म के रूप मे किया है। उपनिषदो ने 'तस्य भाषा सर्वमिद विभाति' कह कर ब्रह्म की विराट् ज्योति का ही संकेत किया है। इस अवतरण मे विराट् ब्रह्म के ज्योति स्वरूप का भी सकेत किया गया है। अन्तिम पक्तियो मे उसी रूप की व्यंजना की गई है। उसी के सहारे प्रतिविम्ववाद का सिद्धान्त भी स्पष्ट किया गया है।

जायसी ने ब्रह्म के सौन्दर्यात्मक और प्रेमात्मक रूप की भी व्यजना अनेक स्थलो पर की है। ऊपर अभी-अभी जो उद्धरण उद्धृत किया गया है, उसमे भी उसके सौन्दर्यमय होने की ध्वनि निकलती है। नख-शिख वर्णन के प्रसंग मे विराट् ब्रह्म के सौन्दर्यात्मिक रूप की व्यंजना की गई है। मार्ग का वर्णन करते हुए जायसी कहते है कि लोग करपत्र साधना करते हैं कि कदाचित उनके रक्त का सिन्दूर वन जाय और

---

१ कहा मानसर चाह सो पाई, पारस रूप यहाँ लगि आई।
भा निरमल तिन्ह पायन परसे, पावा रूप-रूप के दरसे॥
मलयन समीर वार तन आई, भा सीतल गै तपनि बुझाई।
तत खन हार वेगि उतरा, पावा सखिन्ह चन्द विहंसाना॥
विगसा कुमुद देखि ससि रेखा, भई तहं ओर जहाँ जेई देखा।
पावा रूप-रूप जस चाहा, ससि मुख जनु दरपन होइ रहा॥
नयन जो देखा कंवल भा निरमल नीर सरीर।
हसत जो देखा हंस भा दसन ज्योति नगहीर॥

जायसी ग्रन्थावली पृ० २५

उसी सिन्दूर को वह मस्तक पर चढ़ा लें। फलोत्प्रेक्षा के सहारे पद्मावती का ब्रह्मत्व व्यंजित किया गया है। इसी प्रकार समस्त नक्षत्रों को उसी माँग की साधना में उदित हुआ बतलाकर वे उसके सौन्दर्य की विराट्ता की ओर संकेत करते हैं—

"जिस प्रकार द्वादश वर्णित स्वर्ण सुहागे के सम्पर्क से और अधिक जाज्वल्यमान हो जाता है, उसी प्रकार उसकी मांग अपनी दीप्ति की वृद्धि के लिए सुहाग की कामना करती है। जिस प्रकार आकाश गंगा में नक्षत्रों का समूह जगमगाया करता है ठीक उसी प्रकार उसकी मांग पर मोतियों की लड़ियां चमका करती हैं।[1]

इसी प्रकार उस विराट् ब्रह्म रूपी पद्मावती के नेत्रों के डोलने से सारा संसार डोल पड़ता है और महान् प्रलय संसार में उत्पन्न हो जाती है। जब पद्मावती रूपी ब्रह्म के नेत्र चलायमान होते हैं तो सारा आकाश उसमें लीन हो जाता है। उसके नेत्रों की पुतली रूपी भ्रमर के गतिमान होने का परिणाम इतना व्यापक है।[2]

उस विराट् रूपी-ब्रह्म पद्मावती के दर्शनों की शोभा से सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र तक ज्योतिर्मय होते हैं—

"जिस दिन उस पद्मावती रूपी-ब्रह्म के दाँतों की ज्योति प्रस्फुटित हुई उसी दिन सारा संसार प्रकाशमान हो उठा। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि सभी उसकी ज्योति से ही ज्योतिष्मान है। उसी की मुस्कराहट

---

१ मनक दुवादस बानि होई चह सोहाग वह मांग।
सेवा करहि नखत सब उवै गगन जस मांग॥

जायसी ग्रंथावली पृ० ४३

२ जग डोलत डोलैं नैनाहा। उलटि अडार जाहि पल माहा॥
जब फिराहि गगन गहि बोरा। अस वे भौर चक्र के जोरा॥

जायसी ग्रन्थावली पृ० ४२

रत्न, माणिक्य, मोती आदि पदार्थों में जहाँ-तहाँ प्रतिविम्बित हो रही है दामिनी की चमक उस ज्योति की तुलना नहीं कर सकती। वह ज्योति अत्यन्त अनुपम है। कोई भी प्रकाश उस पद्मावती रूपी ब्रह्म की ज्योति की तुलना नहीं कर सकता।"[1]

इस प्रकार जायसी ने ब्रह्म के विराट् सौन्दर्य का अतिशयोक्ति, हेतूत्प्रेक्षा आदि के सहारे अच्छा वर्णन किया है।

जायसी ने अपने ब्रह्म की महानता और विशालता के भी भावात्मक वर्णन प्रस्तुत किए हैं। उनका ब्रह्म इतना विशाल है, इतना ऊँचा है कि संसार के समस्त चर-अचर उस तक पहुँचने की चेष्टा करते रहते हैं, किन्तु फिर भी नहीं पहुँच पाते हैं—

"चन्द्रमा, सूर्य, तथा नक्षत्र सभी उस पद्मावती रूपी विराट् ब्रह्म के भय से अन्तरिक्ष में परिक्रमा करते हैं। पवन ने उसके स्थान तक पहुँचने की चेष्टा की तो उस विराट् ने उसे इस प्रकार प्रताड़ित किया कि वह आकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। अग्नि ने उठ कर वहाँ पहुँचने का प्रयत्न किया तो वह उसके कोप से प्रज्वलित हो उठी। धुएं ने उठ कर वहाँ पहुँचने की चेष्टा की तो वह अन्तरिक्ष में ही विलीन हो गया। पानी ने ऊपर उठकर वहाँ पहुँचने की चेष्टा की तो वह भी वहाँ नहीं पहुँच पाया और फिर आकर भूमि पर द्रवित होकर गिर पड़ा। इस प्रकार कोई भी तत्व उस परम तत्व तक पहुँचने में सफल नहीं हो पाया।"[2]

---

१ जेहि दिन दसन ज्योति निरमई। बहुतै ज्योति ज्योति ओहि भई॥
रवि ससि नखत दिपहिं वह ज्योति। रतन पदारथ मानिक मोती॥
जहं-जहं विहंसि सुभावहि हंसी। तह-तहं छिटकि ज्योति परगसी॥
दामिनि दमकि न सरवर पूजी। पुनि ओहि ज्योति और को पूजी॥
जायसी ग्रन्थावली पृ० ४४

२ चांद सुरज और नखत तराई। तेहि डर अन्तरिख फिरहि सबाई॥

जायमी ने अपने ब्रह्म की अद्वैतता का भी भावात्मक वर्णन किया है—"वह पद्मावती रूपी ब्रह्म स्वय ही मृत्यु रूप है और स्वयं ही जीवन रूप है। वह स्वयं ही मन है और स्वयं ही तन है। वह स्वय ही जो चाहती है करती है। उसके अतिरिक्त इस संसार मे दूसरा कोई नही है।[1]

जायमी का अद्वैत ब्रह्म ही उनका प्रियतम है और उसके दर्शन हृदय मे ही हो सकते हैं। इसी कारण नागमती कहती हैं कि "इम शरीर रूपी समुद्र मे ही वह प्रियतम रूपी ईश्वर विद्यमान है। वह रत्नसेन रूपी ब्रह्म इस हृदय मे ही स्थित है। मेरा हृदय मानो दर्पण है। उसमे मुझे अपने पति के दर्शन होते हैं। वह नेत्रो के निकट होते हुए भी दूर दिखाई देता है। अब मैं उसके विरह मे झुलस रही हू। पति के हृदय मे स्थित होते हुए भी मेरी उनसे भेट नही हो पा रही है। मैं अपना दुख रोकर किसे सुनाऊँ। मुझे अपने पति से कौन मिला सकता है।"[2]

पौन जाइ तहं पहुंच चहा। मारा ऐस लोट भुई रहा॥
अगिनि उठी जरि उठी नियाना। धुंवा उठा उठि बीच विलाना॥
पानि उठा उठि जाइ न छूवा। बहुरा रोइ आइ भुइ चूवा॥
जायसी ग्रन्थावली पृ० ६६

१ आपुहि मीच जियन पुनि। अपुहि तन मन सोइ।
आपुहि आपु करै जो, कहा सो दूसर कोइ॥
जायमी ग्रन्थावली पृ० ९३

२ काया उदधि चितव पिउ माहा। देखो रतन सो हिरदय मांहा॥
जानहु आहि दरपन मोर हीया। तेहि मह दरस दिखावै पीया॥
नैन नियर पहुंचत सुठि दूरी। अब तेहि लागि मरौं मैं झूरी॥
पिउ हिरदय महं भेट न होई। को रे मिलाव कहौं केहि रोई॥
जायसी ग्रन्थावली शुक्ल पृ० १५७

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ब्रह्म के बहुत से अत्यन्त रहस्यपूर्ण वर्णन जायसी में कम मिलते हैं। जायसी ने जीव का वर्णन अगर भावात्मक ढंग से किया भी है तो वह साधक जीव का ही है। जीव के स्वतन्त्र गुणों का कही भी भावात्मक ढंग से उल्लेख नहीं किया गया है। मानसरोवर खण्ड में कवि ने मानसरोवर के रूप में साधक जीव का भावपूर्ण चित्रण किया है—

"उन चरणों का स्पर्श करने से मानसरोवर रूपी साधक का शरीर निर्मल हो गया। उसके रूप के दर्शन करके ही उसने सुन्दर रूप प्राप्त किया। उसके शरीर की सुगन्ध ही मलय-समीर का रूप धारण करके उस सरोवर में व्याप्त हुई जिसके फलस्वरूप उसका जल शीतल हो गया और उसके शरीर के ताप नष्ट हो गये।"[1]

इन पंक्तियों से प्रकट होता है कि जीव संसार में माया से बद्ध होने के कारण कलुषित रहता है किन्तु ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही उसके समस्त कालुष्य नष्ट हो जाते हैं। वह ब्रह्म रूप हो जाता है। जायसी ने जीव का वर्णन एकाध स्थलों पर तोते के प्रतीक से भी किया है—

'हे सखी यह जीवात्मा रूपी तोता कहाँ है ? तुम उस स्थान को खोजो। वह इसी पृथ्वी पर है अथवा स्वर्ग लोक मे है ? सम्भवतः उसके पास पवन भी नहीं पहुँच पाती।' चारों ओर सखियाँ उसे समझाती हैं कि अब तुम उस पक्षी को कहाँ पा सकती हो। जब तक वह पक्षी पिंजरे मे था, तब तक वह बन्धन में था। तुमने उसकी सेवा कर ली। जो जीवात्मा रूपी पक्षी इस शरीर रूपी पिंजरे से छूट जाता है, वह फिर लौट कर इस शरीर रूपी पिंजरे में कैसे बन्द हो सकता

---

१ भा निरमल तिन्ह पांयन परसे। पावा रूप-रूपके दरसे॥
मलय समीर बास तन आई। भा सीतल गै तपन बुझाई॥
जायसी ग्रन्थावली शुक्ल पृ० २५

हैं । जब यह जीवात्मा रूपी पक्षी ऊर्ध्वगामी होकर उड़ जाता है, तथा वह फिर उस पिंजड़े में लौट कर नहीं आता । यह शरीर रूपी पिंजरा जिन पंचतत्वों का बना है वह उन्हीं पंचतत्वों को प्राप्त हो जाता है । इस प्रकार जो जीवात्मा, परमात्मा का ही अंश है, वह अपने अंशी को प्राप्त हो जाता है और जो शरीर पंचतत्वों से निर्मित है, वह पंचतत्वों में लीन हो जाता है । जब इस शरीर रूपी पिंजरे में दस द्वार विद्यमान हैं तब यह जीवात्मा रूपी पक्षी काल रूपी बिलाव से कैसे बच सकता है । यह पृथ्वी इस प्रकार की है कि जिस किसी व्यक्ति को वह उदरसात कर लेती है, उसे फिर बाहर नहीं निकलने देती ।[1]

उपर्युक्त अवतरण में जीव और शरीर तथा दोनों के सम्बन्ध पर भावात्मक विचार किया गया है । भाव की प्रधानता होने के कारण यह वर्णन रहस्यवाद के अन्तर्गत आता है ।

जायसी ने आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का भी भावात्मक निरूपण किया है । वह इस प्रकार है—

'मैंने समझा था कि हे मेरे प्रियतम रूपी ईश्वर, तुम मुझ में ही विद्यमान हो, किन्तु जब मैंने तुमको खोजने की चेष्टा की तो

---

१ उड़ि यह सुअटा कहं बसा खोज सखी सो बासु ।
दुहुं है धरती की सरग पौन न पावै तासु ॥
चहुं पास समझावहिं सखी, कहां सो अब पाउब पंखी ।
जौ लहि पींजर अहा परेवा, रहा बंदि महं कीन्हेसि सेवा ।
तेहि बन्द हुत छे छुटै जो पावा, पुनि फिरि बंदि होय कित आवा ।
वै उडान परि तहिए खाए, जब भा देखि पंखि तनि आए ।
पींजर जेहिक सौंपि तेहि सएऊ, जो जाकर सो ताक भएऊ ।
दस दुवार जेहि पींजर मांहा, कैसे बाच मजारी पांहा ।
यह धरती अस के तन लीला, पेट गाढि अस बहुरि न ढीला ।
जायसी ग्रन्थावली—शुक्ल पृ० २६

तुम्हे सर्वव्यापी पाया ।'[1]

यहा पर कवि ने मैं और तुम की एकता प्रतिपादित की है। साथ ही जीव की ससीमता और परमात्मा की सर्वव्यापकता भी ध्वनित की है।

संसार—जायसी ने इस संसार का वर्णन हाट के प्रतीक से भी किया है। इस हाट को दो मार्ग जाते हैं। यह मार्ग सम्भवतः गीता की दो निष्ठाये हैं—

"इस ससार रूपी हाट मे हमे दो मार्ग दिखाई देते हैं। न जाने हमे ईश्वर किस मार्ग से ले जावेगा ।'[2]

जायसी ने ससार का वर्णन नैहर के प्रतीक से भी किया है—

"हे रानी तुम अपने मन मे विचार कर देखो। इस संसार रूपी नैहर मे हमे केवल चार ही दिन रहना है।"[3]

जगत और ब्रह्म का सम्बन्ध—जायसी ने जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। वे जगत की अलग सत्ता नही मानते हैं। वास्तव मे भ्रम के कारण ब्रह्म और जगत् भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं। किन्तु जब ज्ञान का उदय होने लगता है तब वह भेद स्वय मिट जाता है—

"जब मैंने उस गुरु रूपी ईश्वर को पहचान लिया तब मुझे वही अपना शरीर मन और जीवन प्रतीत होने लगा। उसके अतिरिक्त मुझे और कुछ नही दिखाई देता है। मैं अहमत्व मे भूला हुआ था।

---

१ मैं जानेउ तुम मोहीं माहाँ, देखौं ताकि तो हौं सब पांहा।

जायसी ग्रन्थावली--शुक्ल पृ० ३७

२ दुई मारग, देखौं एहि हाटा, दई चलावै दहु केहि बाटा।

जायसी ग्रन्थावली—शुक्ल पृ० ३१

३ ए रानी मन देखु विचारी, यहि नैहर रहना दिन चारी।

जायसी ग्रन्थावली पृ० २२

जब मुझे उस ईश्वर का भान हुआ तब मेरा समस्त गर्व दूर हो गया। उसका लवलेश भी अवशिष्ट न रहा।"[1]

वेदान्त में ब्रह्म और जगत के सम्बन्ध पर विचार करते हुए प्रतिबिम्बवाद का प्रतिपादन किया गया है। इसका आधार बादरायण का "अभास एव च" और "उपमा सूर्यकादिवच्चे" आदि सूत्र हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार संसार ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। जिस प्रकार प्रतिबिम्ब केवल दृष्टि-ग्राह्य होता है, सत्य नही होता, उसी प्रकार यह संसार भी सत्य नहीं है। जायसी ने इस प्रतिबिम्बवाद का बड़े भावात्मक और रहस्यात्मक ढग से प्रतिपादन किया है—

"मैंने एक विचित्र कौतुक देखा। वह प्रियतम अन्तर्पट मे प्रछन्न होते हुए भी अप्रछन्न था। उसकी उपमा केवल उसी से दी जा सकती है। वह समीप रहते हुए भी हस्तगत नही हो पाता। वह स्वर्ग में रहते हुए भी पृथ्वी पर छाया रहता है तथा पृथ्वी पर रहते हुए भी पकडा नही जा सकता।"[2]

माया—जायसी ने माया की चर्चा तो की है, किन्तु उनमें माया के भावात्मक वर्णन नही मिलते हैं। अतः उनका उल्लेख दार्शनिक विचारों के प्रसंग में किसी समय किया जायेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि जायसी मे हमें आध्यात्मिक रहस्यवाद की सुन्दर भावपूर्ण झांकी मिलती है।

---

१ जब चीन्हा तब और न कोई, तन मन जिउ जोवन सब सोई।
"हौं हौं" कहत धोंक इतराई, जब भा सिद्ध कहां परछाई।
जायसी ग्रन्थावली—शुक्ल

२ देखि एक कौतुक हौं रहा, रहा अन्तर पट पै नहीं अहा।
सरवर देखि एक मैं सोई, रहा पानि पै पानि न होई।
सरग आइ धरती महं छावा, रहा धरति पै धरति न आवा।
जायसी ग्रन्थावली—शुक्ल पृ० २५७

तुलना—यहां पर अब हम जायसी के आध्यात्मिक रहस्यवाद पर थोड़ा तुलनात्मक विचार कर लेना चाहते हैं। कबीर में भी हमें दार्शनिक रहस्यवाद की झांकी मिलती है। किन्तु दोनों में बड़ा अन्तर है। कबीर के दार्शनिक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति प्रायः मुक्तक रूप में हुई है। जायसी में कथात्मक रूप तथा मुक्तक रूप, दोनों में ही हुई है। किन्तु प्रधानता कथात्मक दार्शनिक रहस्यवाद की है। उन्होंने सम्पूर्ण-कथा को अन्योक्ति बतला कर एक साथ आध्यात्मिक अर्थ को व्यंजित करने की चेष्टा की है। जहां कहीं भी उन्होंने समासोक्ति का समावेश भी किया है, वहां वह समासोक्ति अन्योक्ति के अधीन है। कबीर के दार्शनिक-रहस्यवाद की सर्जना मुक्तक रूप में ही हुई है। जायसी और कबीर के दार्शनिक रहस्यवाद में एक अन्तर और है। जायसी में भाव की प्रधानता है, किन्तु कबीर में बुद्धि और सिद्धान्त दोनों की प्रधानता है। जायसी और कबीर के रहस्यवाद के अन्तर को स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी ने दोनों के दो समान उद्धरण उद्‌धृत किये हैं। एक भाव की व्यंजना दोनों कवियों ने अपने-अपने अनुरूप की है। जायसी कहते हैं—

"मेरे पति रूपी ईश्वर मेरे हृदय में निवास करते हैं। किन्तु मेरी उनसे भेंट नहीं होने पाती। मुझे उनसे कौन मिला सकता है? मैं किस से रोकर अपने दुख को अभिव्यक्त करूं।"[1]

इसी बात को कबीर दूसरे और कुछ अधिक शुष्क ढंग से लिखते हैं—

'हे बन्दे! तू मुझे कहां ढूंढता फिरता है। मैं तो तेरे ही समीप रहता हूं। मैं न तो देव-मन्दिर में निवास करता हूं और न मस्जिद में। इसी प्रकार मैं न काबे में निवास करता हूं और न कैलाश पर्वत

---

१ पिउ हिरदय मंह भेंटि न होई, को रे मिलाव कहाँ केहि रोई।
जायसी ग्रन्थावली—शुक्ल पृ० १७७

पर ही।' 1

जायसी और कबीर के दार्शनिक रहस्यवाद की अभिव्यक्त-प्रणालियों में भी भेद है। कबीर ने अधिकतर उलटवासियों और रूपकों का आश्रय लिया है और जायसी ने अन्योक्तियों और समासोक्तियों का। इन्ही सब कारणों से जायसी का दार्शनिक रहस्यवाद अधिक भाव-प्रधान और मधुर प्रतीत होता है और कबीर का शुष्क और सिद्धान्त प्रधान।2

रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति में प्रकृति और जायसी का प्रकृतिमूलक रहस्यवाद

उपनिषदों में प्रकृतिमूलक रहस्यवाद—भावुक रहस्यवादियों के लिए प्रकृति सदा से ही सजीव और सार्थक रही है। रहस्यवाद का मूलभूत सिद्धान्त भावात्मक अद्वैतवाद है। इस अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा के लिए प्रकृति में परमात्मा की झांकी देखना स्वाभाविक ही नही अनिवार्य है। यही कारण है कि पाश्चात्य भारतीय और सूफी रहस्यवादी प्रकृति के पर्दे के पीछे परमात्मा के दर्शन करते रहे हैं। उपनिषदों में इस बात का प्रतिपादन बड़े ही भावपूर्ण और रहस्यात्मक ढंग से किया गया है। दो-एक उदाहरण दे देना अनुपयुक्त न होगा। ब्राह्मणो-

---

१ मोको कहां ढूंढता बन्दे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल ना मैं मस्जिद, ना काबे कैलाश में।
कबीर वचनावली—हरिऔध

२ तस्यै वाचः पृथ्वी शरीरम्
ज्योतिरूपमयमग्निस्तद्यावत्येव
वाक्तावत्ती पृथ्वी तावानयमग्निः
अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं ज्योतीरूपम ब्राह्मणोपनिषद ३।१२

उपनिषद् में एक स्थल पर प्रकृति के समस्त पदार्थों को उसी विराट् ब्रह्म का रूप अंग कहा गया है।

ब्राह्मणोपनिषद में उस विराट् का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"वाणी उस विराट् की वाणी है। पृथ्वी उसका शरीर है, ज्योति उसका रूप है, अग्नि उसकी कान्ति है। उसका मन द्यौ रूप है। उसका शरीर ज्योति रूप है, इत्यादि।"

इसी प्रकार ब्राह्मणों में अनेक स्थलों पर प्रकृति को विराट ब्रह्म का रूप ध्वनित किया गया है। पुरुष-सूक्त तो स्पष्ट ही समस्त प्रकृति का विराट ब्रह्म-रूप में वर्णन करता है।

सूफियों में प्रकृतिमूलक रहस्य-भावना—भारतीय रहस्यवादियों ने ही नहीं, सूफी रहस्यवादी भी प्रकृति में परमात्मा के दर्शन करते थे। जलालुद्दीन रूमी ने अपनी एक कविता में जिसका निकलसन-कृत अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है, इस तथ्य का प्रतिपादन सुन्दर और भावात्मक ढंग से किया है—

"यह संसार हिमवत् है। इसका नाम जमद है। जमद का अर्थ है—जमा हुआ। हे ईश्वर! जब तक इस संसार का अन्तिम दिन बतलाने वाला सूर्य उदय न हो, तब तक प्रतीक्षा करो जिससे कि तुम इस संसार के शरीर की गतिविधियों को देख सको। क्योंकि मानव को ईश्वर ने रज से ही बनाया है, इस कारण तुम्हारे लिए यह उचित है कि तुम इस संसार के प्रत्येक कण के वास्तविक स्वरूप का परिचय प्राप्त करो। जो यहाँ शान्त रहते हैं वे उधर मुखरित प्रतीत होते हैं, जब वह उन्हें इस संसार के बीच भेजता है तो मसा न्याय-दण्ड उसके कार्यों का निर्णय करने के लिए भयानक सर्प के समान सिद्ध हो जाता है।

पर्वत डैविड के साथ गाते हैं, लोहा उसके हाथों में मोम बन जाता है। वायु न्यायकर्ता सोलोमन का वाहन बन जाती है।

ईश्वर ने मूसा से इस संबंध मे क्या कहा है, इस बात को समुद्र अच्छी तरह जानता है।

चन्द्रमा मौहम्मद साहब के इंगितो का अनुसरण करता है और अग्नि अब्राहम के लिए गुलाब का उद्यान बन जाती है।

वे सब चिल्लाया करते हैं—

हम सुन रहे हैं, हम देख रहे हैं और सचेत हैं, यद्यपि हम तुम्हारे लिए निष्क्रिय और मूक हैं।"[1]

---

1 The world is frozen; its name is jamad, jamad means 'frozen.' O Master! wait till the rising of the sun of Resurrection so that, thou mayest see the movements of the world's body. Since God hath made man from dust, it behoves thee to recognize the real nature of every particle of the universe. They are living silent here but speaking yonder. When he sends them down to our world, the rod of moses becomes a dragon in regard to us.

The mountains sing with David, iron becomes as wax in his hand; the wind becomes a carrier for soloman the sea understands what God said to Moses concerning it.

The moon obeys the sign given by Mohammed, the fire becomes a garden of roses for Abraham.

They all cry, 'We are hearing and seeing and responsive, though to you, the uninitiated we are mute'."

Rumi Poet and Mystic—Nicholson

इस लम्बे चौड़े अवतरण में रूमी ने कई बातें ध्वनित की है। पहले तो वह उन लोगों का खण्डन करता है, जो प्रकृति को जड़ कहते हैं। उसका कहना है कि उस परमात्मा के प्रभाव से यह प्रकृति जिसे तुम जड़ समझते हो सजीव दिखाई पड़ने लगती है। प्रकृति की चेतना का प्रतिपादन करके वह भगवान की महत्ता और सर्वशक्तिमत्ता का सकेन करता है। भगवान की शक्ति से डेविड के साथ पहाड़ भी गाने लगते हैं, लोहा भी मोम के सदृश कोमल और द्रवणशील वन जाता है। चन्द्रमा मुहम्मद साहब के द्वारा दिए गए इंगितों का अनुगमन करता है और अग्नि अब्राहम के लिए गुलाब का फूल वन जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रकृति भी उस परमात्मा की शक्ति और रहस्यों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। रहस्यवादी कवियों ने इस माध्यम का बहुत सदुपयोग किया है। अंग्रेजी रहस्यवादियों ने तो अधिकतर प्रकृति के माध्यम से ही रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति की है।

जायसी का प्रकृतिमूलक रहस्यवाद

प्रकार—जायसी के रहस्यवाद की अभिव्यक्ति प्रकृति के माध्यम से भी हुई है। यहाँ पर हम अब संक्षेप में उनकी प्रकृतिपरक रहस्यमयी भावना का निरूपण कर लेना चाहते हैं। जायसी में हमें रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति में प्रकृति का प्रयोग निम्नलिखित रूपों में मिलता है—

१ प्रकृति के सहारे परोक्ष तथ्यों का संकेत करना।
२ प्रकृति को उस परोक्ष सत्ता की साधना में संलग्न दिखाना।
३ गूढ़ आध्यात्मिक सिद्धान्तों की व्यंजना के हेतु।
४ प्रकृति के रहस्यपूर्ण वर्णन के रूप में।

प्रकृति के सहारे परोक्ष तथ्यों का संकेत—प्रकृति हमारे लिए सदा से ही रहस्यमय रही है। जड़ लोग तो उसे जड़ समझते हैं किन्तु

भावुकों की दृष्टि में वह सजीव और चेतन सत्ता है। भावुकों की दृष्टि में भी भेद रहा है। सभी भावुकों के लिए प्रकृति एक सी नहीं दिखाई पड़ती। किसी के लिए वह रहस्यों का विशाल और असीम आधार है। कोई उसकी रहस्यमयता और अनिर्वचनीयता पर निछावर रहता है और किसी के लिए वह अध्यात्म की विशाल और गम्भीर पुस्तिका है। वास्तव में अपनी-अपनी भावना के अनुरूप ही भावुक लोग उसके रूप के दर्शन करते रहे हैं। कुछ ऐसे भी भावुक रहे हैं जिनके लिए वह सब-कुछ थी। जायसी भी एक ऐसे ही कवि थे। प्रकृति के प्रति उनका अच्छा लगाव था। वे उस पर अपनी भावना का आरोप विविध प्रकार से किया करते थे। किन्तु उनकी भावना प्रिय कार्य था—प्रकृति से आध्यात्मिक संकेत ग्रहण करना। देखिए सिंहलद्वीप के वृक्षों की छाया का वर्णन करते हुए वे उस छाया का आध्यात्मिक संकेत कर देते हैं—

"उस सिंहलद्वीप के समीप घने आमों के वृक्षों का बाग है। वह भूमि से उठकर आकाश को छूता हुआ दिखाई देता है। वहाँ के सभी वृक्ष मलयगिरि से लाए गए हैं। उनके कारण समस्त संसार में छाया रहती है। वहाँ सुन्दर मलय पर्वत की वायु उस छाया में प्रवाहित होती है। वहाँ पर ज्येष्ठ माह में भी शीत प्रतीत होता है तथा छाया के कारण दिन में भी रात्रि सी प्रतीत होती है। ऊपर सर्वत्र वृक्षों की छाया रहने के कारण आकाश हरा दिखाई देता है। जो पथिक रूपी साधक इस संसार के ताप रूपी धूप को सहन करके वहाँ पहुँचता है, वह अपने दुख को भूल कर वहां विश्राम करता है। जिसे वह छाया प्राप्त हो जाती है, वह फिर इस संसार के ताप को पुनः कभी सहन नहीं करता।"[1]

---

१ घन अमराउ लाग चहुँ पासा, उठा भूमि हुत लागि अकासा।
तरिवर सबै मलयगिरि लाई, भई जग छाँह रैनि होई आई॥

जायसी ने प्रकृति के माध्यम से यौगिक वर्णन भी प्रस्तुत किये हैं। इनका विस्तृत विवेचन जायसी के हठयौगिक रहस्यवाद के अन्तर्गत किया जायगा। यहां पर हम केवल इतना ही दिखाना चाहते हैं कि जायसी की प्रकृति हठयौगिक रहस्यों की ओर भी संकेत करती है। सिंहलद्वीप का वर्णन करते हुए वे उसके प्रकृतिगत सौन्दर्य का वर्णन करते हैं। वह वर्णन प्रकृति वर्णन न रह कर एक प्रकार से अत्यन्त रहस्यपूर्ण हठयौगिक वर्णन हो गया है—

"उस हृदय रूपी सिंहलगढ़ पर जल और दूध की दो नदियां (इंगला और पिंगला) हैं। उसमें से जीवात्मा रूपी दुरपदी (पञ्च नाड़ियों की सारिका) जल भरती है। उसके ऊर्ध्व भाग में एक मोतीचूर का कुण्ड अर्थात मानसरोवर भी है जिसमें अमृतमय जल है तथा कपूर अर्थात ब्रह्म की सुगन्ध की व्याप्ति है। उसके जल का जो राजारूपी राजयोगी साधक पान करता है, वह वृद्धावस्था को नहीं प्राप्त होता। उसके समीप ही सुषुम्ना नाड़ी रूपी कंचन वृक्ष है—जिस प्रकार की इन्द्र के कैलाश (अर्थात स्वर्ग) में कल्पतरु है। इस सुषुम्ना रूपी स्वर्ग-वृक्ष का मूल पाताल अर्थात मूलाधार में है तथा इसकी शाखाएं ऊर्ध्व भाग अर्थात ब्रह्माण्ड में है। इस अमर बेलि की साधना और उसके रस का आस्वादन कोई विरला ही करता है। इस स्वर्ण-वृक्ष के ऊर्ध्व में पत्र के सदृश चन्द्रमा है तथा इसके फूल के स्थान पर नक्षत्रों के सदृश चमकने वाले ज्योति खण्ड हैं। इस प्रकार इस स्वर्ण वृक्ष के पत्र और फूल रूपी ब्रह्म की ज्योति से समस्त पिण्ड रूपी

मलय समीर सुहावन छांहा, जेठ जाड़ा लागे तेहि मांहा।
ओही छांह रैनि होई आवै, हरियर सबै अकास दिखावै॥
पथिक जो पहुँचे सहि के घामा, दुख बिसरै होई बिसरामा।
जो वह पाई छाह अनूपा, फिरि नहि आहै यह धूपा॥
जायसी ग्रंथावली पृ० ११

ब्रह्माण्ड जगमगाया करता है। कोई विरला ही साधक महान् तपस्या के परिणाम स्वरूप इन वृक्ष के ब्रह्म रूपी फल को प्राप्त कर सकता है। यदि वृद्धावस्था मे भी कोई साधक इस सुषुम्ना मे ब्रह्म तत्व को पा लेता है तथा ब्रह्मरन्ध्र की साधना मे सफल हो जाता है, तो वह युवावस्था को प्राप्त कर लेता है और उसे वृद्धावस्था के कष्टो से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। जो साधक इस अमृत-फल की चर्चा सुन लेता है, वह राज-सुखों को त्याग कर योग-साधना मे संलग्न हो जाता है। जो इस फल को प्राप्त कर लेता है, वह अमर हो जाता है। फिर उसे न तो कोई व्याधि व्याप्ति है और न कोई रोग।"[1]

प्रकृति का परोक्ष सत्ता की साधना में संलग्न रूप का चित्रण

जायसी में प्रकृति का चित्रण साधक रूप मे किया गया है। जिस प्रकार मानव किसी परोक्ष सत्ता की साधना मे लगा रहता है, उसी प्रकार समस्त प्रकृति भी उसी की साधना मे निरत रहती है।

---

१ गढ़ पर नीर खीर दुई नदी, पनिहारी जैसे दुरपदी।
और कुण्ड एक मोती चूरू, पानी अमृत कीच कपूरू।
ओहिक पानि राजा पै पिया, विरिध होय नहि जौ लहि जिया।
कंचन विरिछ एक तेहि पासा, जस कल्पतरु इन्द्र कविलासा।
मूल पतार सरग ओहि साखा, अमर बेलि को पाव को चाखा।
चांद पात और फल तराई, होइ उजियार नगर जह ताई।
वह फल पावै तप करि कोई, विरिध खाइ तो जोवन होई।
राजा भए भिखारी सुनि वह अमृत भोग।
जेइ पावा सो अमर भा ना किछु व्याधि न रोग॥

जायसी ग्रन्थावली, पृ० १६

जायसी ने प्रकृति का अधिकाश चित्रण इसी रूप मे किया है। उनकी भावुक दृष्टि मे सारी सृष्टि उसी परोक्ष सत्ता तक पहुँचने के लिए प्रयत्नशील है।

"चन्द्रमा, सूर्य, और समस्त नक्षत्र उसी परमात्मा को प्राप्त करने की कामना से अन्तरिक्ष मे परिक्रमा करते रहते है। पवन ने जब उस परमात्मा तक पहुँचने की चेष्टा की तो वह इस प्रकार प्रताडित हुआ कि फिर भूमि पर आकर प्रवाहित होने लगा। अग्नि ने उठकर वहां जाना चाहा तो परिणाम स्वरूप उसका शरीर जल उठा। धूम्र ने वहा पहुँचने की चेष्टा की तो बीच ही मे लीन हो गया। पानी ने भी उठ कर जाने की चेष्टा की तो पुनः लौटकर भूमि पर वर्षा के रूप मे आ गिरा। इस प्रकार सभी तत्व उस परम-तत्व तक पहुँचने के लिए साधना करते हैं किन्तु मार्ग की बाधाओ से प्रताड़ित होकर निराश हो जाते है।"[1]

इसी प्रकार जायसी ने मानसरोवर को भी उसी प्रियतम की साधना मे सलग्न चित्रित किया है। ऐसे स्थलो पर वह भारतीय भक्ति मार्ग से प्रभावित प्रतीत होते है। पद्मावती तो विराट भगवान का रूप है, सरोवर भक्त रूप। भक्त भगवान के अद्वितीय रूप को देखकर मुग्ध हो रहा है। वह उसके चरणो तक पहुँचना चाहता है। हेतूत्प्रेक्षा के प्रयोग से ऐसे प्रकृति चित्रण बड़े ही मनोरम हो गए हैं।

"सरोवर उस पद्मावती रूप ब्रह्म के दर्शन को पाकर विमोहित

---

१ धाइ जो बाजा कै मन साधा, मारा चक्र भएउ दुइ आधा।
चांद सुरज औ नखत तराई, तेहि डर अन्तरिख फिरहि सबाई।
पौन जाइ तहं पहुंचे चाहा, मारा तैस लोट भुईं राहा।
अगिनी उठी उठि जरी नियाना, धुंवा उठा उठि बीच बिलाना।
पानि उठा उठि जाय न छूवा, बहुरा रोई आइ भुईं चूआ।
जायसी ग्रन्थावली पृ० ६१

हो उठा। उसका हृदय हिलोरों के रूप में चंचल हो उठा। वह इस कारण ऊंची लहरें उठाने लगा कि वह उसके चरणों को किसी प्रकार छू सके।"[1]

इसी भाव का विस्तार हमें इसी खण्ड की अन्तिम पक्तियों में मिलता है। यहां पर उन्होंने स्पस्ट ही भक्त और भगवान के साक्षात्कार की परिस्थिति का चित्रण किया है। इन पंक्तियों में सेव्य-सेवक भाव की बड़ी अच्छी अभिव्यक्ति मिलती है। पद्मावती रूपी विराट् ब्रह्म को देखकर मानसरोवर रूपी साधक आनन्द से विभोर हो जाता है। उसके युग-युग के कालुष्य नष्ट हो जाते हैं। ऐसे स्थलों पर प्रकृति प्रतीक के रूप में भी ग्रहण की गई है। एक उदाहरण इस प्रकार है—

जब मानसरोवर को पद्मावती के आने की सूचना मिली तो वह सोचने लगा कि पारस रूपी पद्मावती (विराट ब्रह्म) यहाँ आ गई है। उसके चरणों का स्पर्श करके उसका जल-रूप-शरीर निर्मल हो गया। उसके रूप के दर्शन पाकर उसने सुन्दर स्वरूप पाया। मलय पर्वत की सी शीतल वायु और सुगन्ध उसके जल में व्याप्त हो गई। उससे उसका जल रूप शरीर शीतल हो गया और समस्त ताप नष्ट हो गए।[2]

गूढ़ आध्यात्मिक सिद्धान्तों की व्यंजना का माध्यम-रूप प्रकृति

रहस्यवादी कवि लोग गूढ़ आध्यात्मिक सिद्धांतों की व्यंजना के

---

१ सरवर रूप विमोहा, हिय हिलोरहि लेई।
पांव छुवै मकु पावौं, एहि मिसी लहरहि देहि।

जायसी ग्रन्थावली पृ २४

२ कहा मानसर चाह सो पाई। पारस रूप यहां लगि आई॥

हेतु भी प्रकृति का चित्रण करते हैं। कभी-कभी भावुक रहस्यवादी गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों और तथ्यों का स्पष्टीकरण प्रकृतिमूलक अन्योक्तियों तथा रूपकों के सहारे इतने सुन्दर ढंग से करते हैं कि बुद्धि चमत्कृत हो जाती है। जायसी ने इस रूप में भी प्रकृति का उपयोग किया है। एक साधारण-सा आध्यात्मिक तथ्य है कि सृष्टि के पूर्व में केवल एक तत्व था। सब कुछ अद्वैत रूप था। उस समय पृथ्वी और स्वर्ग जैसा द्वैत-मूलक भेद न था। किन्तु आगे चलकर यह भेद स्पष्ट हुआ। देखिये इसका वर्णन जायसी ने कितने भावात्मक और रहस्यात्मक ढंग से किया है—

"उस समय पृथ्वी और स्वर्ग दोनों मिले हुए थे। मानों उस समय भेद-भाव का वियोग छाया हुआ हो।"[1]

इसी प्रकार मायावाद की व्यंजना निम्नलिखित पंक्तियों में प्रकृति के माध्यम से ही की गई है—

"मुझे एक कौतुक दिखाई दिया। वह ईश्वर मेरे हृदय के अन्दर विद्यमान था किन्तु मुझे प्राप्त नहीं हो सका। उसकी समानता करने वाला और कोई नहीं है। वह मेरे हाथ में होते हुए भी मुझे हस्तगत नहीं होता। वह स्वर्ग में रहते हुए भी पृथ्वी पर व्याप्त रहता है तथा पृथ्वी पर रहते हुए भी वह ग्रहण नहीं किया जा सकता।"[2]

भा निरमल तिन्ह पांयन परसे। पावा रूप रूप के दरसे॥
मलय समीर बास तन आई। भा सीतल गै तपिन बुझाई॥

जायसी ग्रन्थावली पृ० २५

१ धरती सरग मिले हुत दोऊ, के निनार के दीन्ह बिछोहू।

जायसी ग्रन्थावली पृ० ६२

२ देखि एक कौतुक हौं रहा, रहा अन्तर पट पै नहिं अहा।

प्रकृति का रहस्यपूर्ण वर्णन—प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण भी रहस्यवादियों की रचनाओं में मिला करते हैं। किन्तु साधारण कवियों और रहस्यवादी कवियों के प्रकृति-चित्रण में अन्तर होता है। साधारण कवि जो प्रकृति का संश्लिष्ट रूप-विधान सामने प्रस्तुत करता है, वह यथार्थ और यथातथ्य होने के कारण बोधगम्य होता है, किन्तु रहस्यवादी के संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण इतने अलौकिक होते हैं कि उनमें एक विचित्र रहस्यात्मकता आ जाती है। जायसी में इस कोटि का भी रहस्यपूर्ण प्रकृति-चित्रण पाया जाता है। उनका सात-समुद्र-वर्णन-खण्ड ऐसे ही रहस्यपूर्ण संश्लिष्ट चित्रणों से भरा पड़ा है। यहा पर हम उनके द्वारा लिखित किल किला समुद्र का वर्णन उद्धृत करते हैं:

"फिर किल किला समुद्र के पास आये। उसे देखते ही भय लगने लगा तथा धैर्य समाप्त हो गया। उस समुद्र में ऐसी लहरें उठती थी मानों वे ऊपर उठकर आकाश को छू रही हों। उसकी लहरें पहाड़ के समान उठती है और सौ योजन तक विस्तृत दिखाई देती है। वे पृथ्वी से उठ कर स्वर्ग तक पहुंच जाती हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानों समस्त समुद्र खड़ा हो गया हो। वहां ऊपर से नीचे तक सर्वत्र जल ही जल दिखाई देता है।[1]

सरवर देख एक मैं सोई, रहा पानि औ पान न होई।
सरग आई धरति महं छावा, रहा धरति पै धरति न आवा।

—जायसी ग्रन्थावली पृ० २५७

१ पुनि किल किला सनुद्र महं आय, गा धीरज देखत डर खाय।
भा किल किल अस उठै हिलोरा, जनु अकाश उठै चहुँ ओरा।
उठै लहरि परवत के नाईं, फिर आवै जोजन सौ ताईं।
धरति लेइ सरग लहि वाढ़ा, सकल समुद जानहु भा ठाढ़ा।
नीर होइ तर ऊपर सोई, माथे रम्भ समुद जस होई।

—जायसी ग्रन्थावली पृ० २६६

इससे भी अधिक रहस्यात्मक सातवें समुद्र का वर्णन है। इस वर्णन में कवि ने समुद्र के आध्यात्मिक पक्ष का उद्‌घाटन और उसका संश्लिष्ट चित्रण भी किया है। यह चित्रण दिव्य और अलौकिक होने के कारण बहुत रहस्यात्मक हो गया है—

"सातवें समुद्र मानसरोवर पर पहुँचे। वहां पहुंच कर मन ने जिसे चाहा उसे वहीं सिद्धि प्राप्त हो गई। मानसरोवर के सुन्दर रूप को देखकर हृदय में जो प्रसन्नता हुई वही कमल के रूप में सरोवर में व्याप्त हो गई। उसके दर्शन से मन का भ्रम किंवा अज्ञान रूपी अन्धकार की रात्रि की कालिमा समाप्त हो गई। ज्ञान के प्रकाश रूपी प्रभात का आरम्भ हुआ तथा ज्ञान रूपी सूर्य की किरणें फूट पड़ी। समस्त साथियों को ईश्वर के अस्तित्व का बोध हुआ और वे "अस्तिं-अस्ति" कह कर पुकारने लगे। जो नेत्र हीन थे, विधाता ने उन्हें नेत्र प्रदान किये। मुख की मुस्कान ने कमलों की हँसी का रूप धारण किया। नेत्र रूपी भ्रमर उन कमलों के रस का पान करने लगे। वहाँ पर हंस हँस रहे थे और कल्लोल कर रहे थे। वे मुक्ता और हीरा जैसे बहुमूल्य रत्नों को चुन रहे थे। जो साधक अपनी अनन्त साधना के फलस्वरूप इस मानसरोवर के दर्शन करता है, वह स्वर्ग के सुखों को अपनी तपस्या के परिणामस्वरूप पाता है। कमल के इस रस का पान भ्रमर ने किया। वह मानसरोवर में विकासित होने वाले कमलों का वर्णन न कर सका। इससे वह बड़ा व्यथित हुआ और भुलसित होकर उसने काठ का भक्षण किया।"[1]

---

१ सतए समुद मानसर आए, मन जो कीन्ह साहस सिध पाय।
देखि मानसर रूप सुहावा, हिय हुलास पुरइनि होइ छावा।
गा अंधियार रनि मसि छूटी, भा भिनसार किरन रवि फूटी।
'अस्ति अस्ति' सब साथी बोले, अंध जो अहे नैन विधि खोले।
कंवल विगस तहं विहसी देही, भौंर दसन हयि के रस लेहीं।

इनमे भी अधिक रहस्यात्मक वर्णन सिंहलगढ के है। वे अपने यौगिक, संकेत के कारण बहुत अधिक रहस्यात्मक हो गये है। ऊपर दूसरे प्रसग मे उनका उल्लेख किया जा चुका है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी ने अपनी रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति मे प्रकृति से बडी सहायता ली है। उनका प्रकृति-परक रहस्यवाद कम सुन्दर नही है।

जायसी का प्रेममूलक रहस्यवाद

जायसी भारतीय सूफी थे। उनमे एक तो सूफियो का मादन भाव और कोमलतम भावना के लौकिक तथा अलौकिक पक्ष के चित्र मिलते है और दूसरी ओर उनमे भारतीय अद्वैतवाद की अभिव्यक्ति भी पाई जाती है। पहले हम जायसी के मादन भाव जनित परिस्थितियो के चित्रो आदि का उद्घाटन करेगे। बाद मे उनके रहस्यवाद के अद्वैतवादी पक्ष पर विचार करेगे।

प्रेम-तत्व—सूफियो मे मादन भाव की अभिव्यक्ति सुरति और सुरा के रूप मे पाई जाती है। पहले हम इनके सुरति पक्ष पर विचार करेगे। सूफियो ने जिनमे राबिया, रूमी, हल्लाज आदि प्रमुख हैं, साधना मे प्रेम-तत्व को बहुत अधिक महत्व दिया है। इस प्रेम-तत्व का वर्णन करते हुए रूमी ने लिखा है—

"प्रेम ही वासना के भयकर शीतल सर्प का विनाशक होता है। वह अपनी अश्रुपूर्ण प्रार्थनाओ और अलौकिक कामनाओ की पूर्ति के

हंसहि हस और करहिं किरोरा, चुनहि रतन मुकताहल हीरा।
जो अस आव साध तप जोगू, पजै आसमान तप भोगू।
और जो मनसा मानसर लीन्ह कवल रस आइ।
घुन जो हियाव न कै सका झूर काठ तस खाइ॥

—जायसी ग्रन्थावली, पृ० ६३

द्वारा हमें उस ज्ञान के द्वार पर ले जाता है जिसकी प्राप्ति हमे किसी पाठशाला से नहीं हो सकती।"[1] एक दूसरे स्थल पर वे फिर लिखते हैं—

"प्रेम की ज्वाला ने ही मुझे प्रज्वलित किया है। उसकी सुरा ने ही मुझ को प्रेरित किया है। तुम नरकुल के गाने को सुन कर सीख लो कि प्रेमी किस प्रकार अपना रक्त बहाता है।"[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि सूफियो में प्रेम-तत्व की बड़ी मान्यता है। इस प्रेम-तत्व का स्वरूप दाम्पत्य है। यह बात राबिया की इस उक्ति से प्रकट है—

"हे नाथ तारे चमक रहे है। लोगों की आँखें मुंद चुकी हैं। सम्राटो ने अपने द्वार बन्द कर लिए है। प्रत्येक प्रेमी अपनी प्रिया के साथ एकान्त सेवन कर रहा है और मै यहां आपके साथ अकेली हूँ।"[3]

इस दाम्पत्य प्रेम के दो पक्ष होते हैं—लौकिक और अलौकिक। यह बात राबिया की निम्नलिखित उक्ति से प्रकट है—"हे नाथ! मै आपको द्विधा प्रेम करती हूं। एक तो मेरा यह स्वार्थ है कि मैं

---

1 Love, Love alone can kill what seemed so dead
The froyen snake of passion, love alone,
By tearful knayer and fairy longing bed,
Reveals knowledge, schools have never known.
—Rumi Poet & Mystic by Nicholson, page 29

2 'Tis the flame of love that fired me
'Tis the wine of love that inspired me,
Wouldst thou learn hath lovers bleed,
Hearken, hearken to the need.
—Rumi poet & Mystic, page 31.

3 Rabia, the Mystic, Page 27.

आपके अतिरिक्त अन्य की कामना नहीं करती। दूसरे मेरा यह परमार्थ है कि आप मेरे पर्दे को मेरी आंखों के सामने से हटा देते हैं ताकि मैं आपका साक्षात्कार करके आपकी सुरति में निमग्न हो सकूँ।"

सूफी रहस्य-भावना के मूल में राबिया और रूमी का यही प्रेम तत्व है। जायसी भी सूफी थे। इनकी रहस्य-भावना का मूलाधार भी यही प्रेम-तत्व है। इस प्रेम तत्व की महिमा का वर्णन उन्होंने शतशः किया है। राबिया के प्रेम के समान जायसी का प्रेम भी लौकिक और अलौकिक दोनों ही था। उनका लौकिक पक्ष पद्मावती के नख-शिख-वर्णन और संयोग-वर्णन से पूर्णतया स्पष्ट है। स्थान-स्थान पर पाइ जाने वाली—"अधिक काम दाधै सो रामा" जैसी पंक्तियां इस बात का ही प्रमाण हैं। किन्तु उसका यह लौकिक प्रेम सदा ही लौकिक नहीं रहता। वह साधना की अतिरेकता में अलौकिक हो जाता है। इसीलिए उन्होंने लिखा है—

मानवी प्रेम ही अलौकिक प्रेम बन गया है। अन्यथा यह मानव तन एक मुट्ठी क्षार से बढ कर और क्या था ?[1]

इसी वैकुण्ठी प्रेम के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

अपने हृदय में ईश्वर-प्रेम का दीपक जलाने से जो ज्ञान रूपी ज्योति जागृत हुई, उससे समस्त हृदय निर्मल हो गया।[2]

यह आध्यात्मिक-प्रेम त्याग से ही सुशोभित होता है। तभी तो जायसी ने लिखा है—

"प्रेम का मार्ग अत्यन्त कठिन है। इस मार्ग में सफलता की प्राप्ति

---

१ मानुष प्रेम भयो वैकुण्ठी, नाहित कहा छार भर मूठी।

जायसी ग्रन्थावली पृ० ७१

२ लेसा हिए प्रेम भर दीया, उठी जोति भा निरमल हीया॥

जायसी ग्रन्थावली पृ० ७

मस्तक अर्पित करने मे ही होती है।"[1]

किन्तु इस प्रेम की कठिन साधना करने वाला दोनों लोकों से मुक्त हो जाता है—

यह प्रेम का मार्ग भले ही अत्यन्त कठिन हो, किन्तु जो इस मार्ग का अनुसरण करता है वह दोनों लोकों से मुक्त हो जाता है[2]

वे इस आध्यात्मिक प्रेम के बिना जीवन को निरर्थक मानते थे। उनका कहना था—

"जो इस ईश्वर के प्रेम के मार्ग को अपना शीश नहीं नवाते, वे पृथ्वी में व्यर्थ ही जन्म लेते हैं।"[3]

इस प्रेम-वेदना की अनुभूति सब को नहीं होती। यह गूंगे के गुड के समान है। इसका रहस्य वही जानता है, जिसने इसकी अनुभूति कर ली है।

"प्रेम के घाव के दुख कोई नही जान सकता। इसे तो वही जान सकता है जिसके हृदय में यह प्रेम का घाव उत्पन्न हो जाता है।"[4]

इसकी स्थिति मृत्यु से भी भयंकर होती है—

"प्रेम-मार्ग की पीड़ाएं मृत्यु से भी बढ़कर कष्टदायक हैं। प्रेम-मार्ग का अनुसरण करता हुआ साधक न तो जीवितावस्था में ही रहता है और न विरह की श्याम अवस्था—अर्थात् मृत्यु को ही प्राप्त

---

१ कठिन प्रेम सिर देइ तो छाजा।

जायसी ग्रन्थावली पृ० ३९

२ भलेहि प्रेम है कठिन दुहेला, दुइ जग तरा प्रेम जेहि खेला॥

जायसी ग्रंथवाली पृ० ४०

३ जो नहि सीस प्रेम पथ लावा, सो पृथ्वी मे काहे को आवा।

—जायसी ग्रन्थावली

४ प्रेम घाव दुख जान न कोई, जेहि लागै जानै पै सोई।

—जायसी ग्रन्थावली पृ० ४९

करता है।"[1]

यह आध्यात्मिक प्रेम ज्ञान से कहीं ऊंची वस्तु है—

"ज्ञान का मार्ग गम्य है। उसकी अन्तिम सीमा तक साधक की दृष्टि पहुँच सकती है। किन्तु प्रेम का मार्ग अगम्य है। वह गगन से भी ऊंचा है। वहाँ तक साधक की दृष्टि नहीं पहुँच सकती। साधक प्रेम के मार्ग की थाह नहीं पा सकता।"[2]

इस आध्यात्मिक प्रेम को प्राप्त करके साधक दिन-दिन "दूबर" होता जाता है—

"जिसके शरीर में प्रेम का घाव हो जाता है, फिर उसके शरीर पर मांस कहाँ रह सकता है। उसके शरीर में तो रक्त नहीं रहता तथा उसके नेत्रों में अश्रुओं का अभाव हो जाता है।"[3]

इस प्रकार के आध्यात्मिक प्रेम से जो प्राणी मुग्ध होता है, वही धन्य है—

"प्रेम जो दाधा धनि वोह जीऊ।"

ऐसे व्यक्ति के लिए अग्नि भी चन्दन के समान शीतल हो जाती है—

"जेहि जिय प्रेम चंदनि तेहि आगी।"

यह प्रेम साधक के लिए सच्ची सुरा भी है—:

"यह प्रेम की सुरा जिसके हृदय में चढ़ जाती है वह फिर महुवा

---

१ कठिन मरन ते प्रेम-व्यवस्था, न जिउ जियै न दसम अवस्था।
—जायसी ग्रन्थावली पृ० ४६

२ ज्ञान दृष्टि सौं जाइ पहुँचा, प्रेम अदिष्ट गगन तें ऊंचा।
—जायसी ग्रन्थावली पृ० ५०

३ जेहि तन प्रेम कहां तेहि मांसू, क्या नहिं रकत नयन नहिं आंसू।
—जायसी ग्रन्थावली पृ० ५३

की छाह में भी नहीं बैठना पसन्द करता ।"[1]

इस प्रेम-सुरा के पीने के बाद मृत्यु और जीवन का भय नही रहता—

"हे सखि सुनो। इस प्रेम रूपी सुरा के पीने से जीवन और मृत्यु का भय हृदय में नही रहने पाता ।"[2]

यह प्रेम आध्यात्मिक विरह से भी अनुगमित रहता है—

"प्रीति बेन संग हैं विरह अपारा ।"

इस विरह मे भी बड़ा रस होता है—

"प्रेम मे विरह का रस भरा रहता है। विरह आप्लावित इस प्रेम मे उसी प्रकार का आनन्द रहता है जिस प्रकार की कामदेव के घर में अमृत का वास रहता है ।"[3]

इस प्रकार जायसी ने अपने पद्मावत में लौकिक प्रेम-तत्व को अलौकिकता का रूप प्रदान करके उसकी रहस्यात्मकता की सर्वत्र व्यजना की है ।

सौन्दर्य—इस प्रेम-तत्व के उदय का मूल कारण सूफियों ने यह सौन्दर्य तत्व ही माना है। रूमी ने लिखा है—

"प्रेम अपने विश्वासपात्र सेवकों को कभी श्रमित न होने देगा, अगर सौन्दर्य सदा उन्हें आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करता रहेगा। यह प्रेम-मार्ग का पथिक ज्यों-ज्यो उस मार्ग से दूर होगा, यह सौन्दर्य उन्हें बार बार यशान्वित करता हुआ पुनः उन्हें मार्ग में लाता रहेगा।

---

१ प्रेम सुरा जेहि के हिय मांहा, कित बैठे महुआ के छांहा ।

—जायसी ग्रन्थावली पृ० ६५

२ सुन धनि प्रेम सुरा के पिए, जियन मरन डर रहे न हिए ।

—वही १ भूमिका

३ प्रेमहि मांह विरह रस रसा, मैन के घर मधु अमृत वसा ।

—वही ७१

यह प्रेम-मार्गी सदा उस सौन्दर्य की प्रेरणा से स्वेच्छापूर्वक पुनः प्रेम-मार्ग मे लाये जाते रहेगे।"[1]

रूमी के अतिरिक्त सूफी इब्नेसिना और महाकवि जायसी का सौन्दर्यवाद भी कम प्रसिद्ध नही है। जिस सौन्दर्य की प्रतिष्ठा इन सूफी सन्तों ने की है, वह आध्यात्मिक है। किन्तु उसका वर्णन उन्होंने लौकिक ढंग पर ही किया है। रहस्यवाद के अन्तर्गत इनमे सौन्दर्य का अलौकिक एव आध्यात्मिक पक्ष ही आयगा। सौन्दर्य का लौकिक पक्ष उन्हें श्रृंगारिक कवि कहने के लिए प्रेरित करता है, किन्तु उन सूफियो को श्रृंगारिक कहना उनके प्रति अन्याय करना होगा। उन्होने लौकिक श्रृंगार का आश्रय आध्यात्मिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के हेतु ही किया है। उनका प्रसिद्ध सिद्धान्त है—"परदे में नूरे खुदा देखते हैं।" अतएव उनके लिए आध्यात्मिक सौन्दर्य की व्यंजना के हेतु लौकिक सौन्दर्य का वर्णन करना एक प्रकार से आवश्यक था। उसे हम उनका साध्य नही कह सकते—वह केवल आध्यात्मिक सौन्दर्य के उद्घाटन का साधन-मात्र है। अतएव हम उन्हें उनकी श्रृंगारिकता के लिए दोषी नही ठहरा सकते।

जायसी ने रहस्यमय आध्यात्मिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति 'पद्मावत' में अनेक स्थलों पर की है। इस अभिव्यक्ति के लिए उन्होने कहीं पर तो समासोक्ति का आश्रय लिया है, कही विराट-आरोपण का, कहीं-कही उत्प्रेक्षाओं के सहारे भी उसकी मार्मिक व्यंजना की गई है।

---

१ Love will not let his faithful servants tire,
Immortal beauty draws them on and on,
From glory un to glory, drawing nigher,
At each remove and loving to be drawn,
—Rumi Poet and Mystic, by Nicholson Page 30

यद्यपि जायसी ने अपने काव्य को अन्योक्ति ध्वनित करने की चेष्टा की है, किन्तु उनमें अन्योक्ति से कहीं अधिक सुन्दर समासोक्तियों की छटा दिखलाई पड़ती है। अपने रहस्यात्मक दिव्य-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति इन्होंने समासोक्तियों के सहारे बड़े सुन्दर ढंग से की है। निम्नलिखित पंक्तियों में देखिये उस दिव्य-सौन्दर्य की ओर कैसी ध्वनात्मक शैली में संकेत किया गया है—

"पद्मावती के सुन्दर रूप को देखकर मानसरोवर के हृदय का आनन्द कमलों के रूप में विकसित हो उठा। अन्धकार समाप्त हो गया और अज्ञान रूपी रात्रि की कालिमा क्षीण हो गई। ज्ञानोदय का प्रभात होते ही ज्ञान रूपी सूर्य की किरणें फूट पड़ीं।"[1]

समासोक्तियों के अतिरिक्त जायसी ने व्यष्टि का समष्टि में आरोप करके भी सौन्दर्य की आध्यात्मिकता व्यंजित की है। नायिका अपने बालों को खोलकर जब झाड़ती है, तब सारे विश्व में अन्धकार छा जाता है—

"जब बाला ने अपनी वेणी खोलकर झाड़ी तो स्वर्ग और पाताल लोक तक अन्धकार छा गया।"[2]

इसी तरह एक दूसरे स्थल पर उन्होंने पद्मावती को विराट् ब्रह्म के रूप में कल्पित करके प्रतिबिम्बवाद के सहारे उसके सौन्दर्य की विश्वव्यापकता ध्वनित की है। वे पंक्तियां इस प्रकार हैं—

"पद्मावती के मुख रूपी चन्द्र पर मुस्कराहट की रेखा देखकर कुमुद विकसित हो उठा। उसका रूप मानो दर्पण था। जिसने उसके

---

१ देखि मानसर रूप सुहावा, हिय हुलास पुरइनि होइ छावा।
गा अँधियार रैनि मसि छूटी, भा भिनसार किरनि रवि फूटी।

जायसी ग्रन्थावली पृ० ६७

२ बेनि छोरि झारि जो बारा, सरग पतार होइ अँधियारा।

—वही पृ० ४१

रूप को देखा उसमें ही उसका रूप प्रतिबिम्बित हो उठा। इस प्रकार सभी को उसमें अपने मनोनुकूल रूप ही दिखाई दिया। उसके नेत्रों के दर्शन से उसके नेत्रों के उपमान कमल जल मे विकसित दिखाई देने लगे तथा उसके शरीर की निर्मलता जल की निर्मलता के रूप में छा गई। उसकी हँसी ने ही हंसों का रूप धारण कर लिया और उसकी दन्त-कान्ति ही नग और हीरो के रूप मे वहां जगमगाने लगी।"[1]

इन पंक्तियों में उन्होंने प्रतिविम्बवाद के सहारे जामी और इब्नेसिना के सौन्दर्यवाद का बड़े ढग से वर्णन किया है। विराट ब्रह्म रूपिणी पद्मावती पारस रूपिणी है। उसके स्पर्श का लाभ करके विश्व के समस्त पदार्थ वांछित सौन्दर्य को प्राप्त करते हैं। विश्व का समस्त सुन्दर पदार्थ उसी विराट सौन्दर्य के अंग-प्रत्यग का प्रतिविम्ब है। इस आध्यात्मिक सौन्दर्य से मानव को भाव-विभोर करके समाधि की स्थिति में ले जाने की एक विचित्र क्षमता है। इस दिव्य-सौन्दर्य का वर्णन सुन कर ही राजा रत्नसेन मूर्छित हो जाता है—

"उसके सौन्दर्य का वर्णन सुनते ही राजा मूर्छित होकर गिर पड़ा मानो सूर्य मूर्छित हो गया हो।"[2]

इस आध्यात्मिक सौन्दर्य-का प्रभाव प्रकृति पर बड़ा ही मादक और आह्लादमय दिखाई पड़ता है।

"मानसरोवर ने जब पद्मावती के सुन्दर रूप को देखा तो उसके

---

१ विकसा कुमुद देखि ससि रेखा, भई तहं ओप जहां जेहि देखा।
पावा रूप रूप जस चाहा, ससि मुख जनु दर्पन होइ रहा।
नैन जो देखा कंवल भा निर्मल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर॥

—वही पृ० २५

२ सुनतहि राजा गा मुरझाई, जानौं लहरि सूरज कै आई।

—वही पृ० ४६

हृदय का उल्लास ही कमलों के रूप में उसमें विकसित दिखाई देने लगा।"[1]

इसमें अज्ञान के अन्धकार को नष्ट करके ज्ञान की ज्योति को ज्योतित करने की क्षमता पाई जाती है। आस्तिकता का यह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

"अज्ञान रूपी अन्धकार नष्ट हो गया और रात्रि की कालिमा दूर हो गई। प्रभात होते ही जिस प्रकार सूर्य की किरणें फूट निकलती हैं, उसी प्रकार ज्ञान की किरणें फूट निकलीं। सभी साथियों को ईश्वर के अस्तित्व का बोध हुआ और वे "अस्ति-अस्ति" चिल्लाने लगे।[2]

'पद्मावत' में आए हुए उपर्युक्त ढंग के दिव्य एवं आध्यात्मिक सौन्दर्य सम्बन्धी समस्त अवतरण रहस्यवाद के ही अन्तर्गत लिए जायेंगे। यहां पर विस्तार भय के कारण सौन्दर्य-सम्बन्धी समस्त अवतरणों का उल्लेख नहीं किया जा सका है।

आस्तिकता—हम ऊपर ध्वनित कर चुके हैं कि दिव्य सौन्दर्य ही साधक में पूर्ण आस्तिकता का संचार करता है। जायसी ने उपर्युक्त अवतरण में यही बात कही है। रहस्यवादी साधक का आस्तिक होना नितान्त आवश्यक होता है। जायसी भी कट्टर आस्तिक थे। इसका पुष्ट प्रमाण यही है कि उन्होंने 'पद्मावत' के प्रारम्भ में ही एक परमेश्वर की वन्दना की है—

"मैं उस आदि रूप परमात्मा की वंदना करता हूँ जिसने मुझे जीवन प्रदान किया है तथा जिसने इस संसार का

---

२ देखि मानसर रूप सुहावा, हिय हुलास पुरइन होइ छावा।
—वही पृ० ६७

३ गा अंधियार रैनि मसि छूटी, भा भिनसार किरन रवि फूटी।
'अस्ति अस्ति' सब साथी बोले।
—वही पृ० ६७

निर्माण किया है।"[1]

उपास्य—यहाँ पर अब हम थोड़ा-सा उनके उपास्य स्वरूप के संबंध में भी विचार कर सूफी लेन चाहते हैं। जायसी सूफी थे। लोग एकेश्वरी अद्वैतवाद में विश्वास करते हैं। सूफियों का उपास्य भक्तों के उपास्य से भिन्न होता है। भक्त लोग ब्रह्म के आधिदैविक स्वरूप में आस्था रखते हैं। ज्ञानी उसके आध्यात्मिक पक्ष का निरूपण करते हैं—सूफियों का उपास्य इन दोनों से भिन्न होता है। वह आधिदैविक होता है—इन अर्थ में कि उसकी उपासना की जाती है, वह आध्यात्मिक भी होता है। इस दृष्टि से वह निर्द्वन्द्व सत्य है जो सर्वथा अभिव्यक्ति से परे कहा जा सकता है। निकलसन ने रूमी की मसनवी अनुवाद की भूमिका में सूफियों के उपास्य के स्वरूप को उपर्युक्त ढंग से ही स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। वह लिखते हैं—

"ईश्वर समीप इस दृष्टिकोण से है कि वह समस्त भौतिक रूपों की सीमाओं में प्रकट होता है और परात्पर इस दृष्टिकोण से है कि वह पूर्ण सत्य रूप है और रूपाकार की सीमा से परे है।"[2]

जायसी का उपास्य प्रेम और सौन्दर्य स्वरूप विराट ब्रह्ममय प्रतीत होता है जिसकी अभिव्यक्ति पद्मावती के प्रतीक से की हुई जान

---

१ वन्दों आदि एक करतारू, जेहि जिय दीन्ह कीन्ह संसारू

वही पृ० १

२ God is Faith imminent in the sense that he appears under the aspect of limitation the all phenomenal forms and transedental in the sense that hs is the absolute reality above and beyond appearance.

पड़ती है। जहाँ कहीं भी कवि को पद्मावती के वर्णन का अवसर मिला है, वहां पर उसने प्रेम और सौन्दर्य तत्व की ही मार्मिक व्यजना की है। इस प्रेम और सौन्दर्य को उन्होंने विश्व-व्यापी चित्रित करके अपने उपास्य की विराट् स्थिति का संकेत किया है। उनके इस विराट् उपास्य की स्थिति विश्व के कोने-कोने में है। पद्मावती के निम्नलिखित वर्णन में सौन्दर्य स्वरूपी विराट तत्व की अभिव्यक्ति इस प्रकार की गई है।

"पद्मावती सरोवर के किनारे गई और वहाँ जाकर उसने अपने बालों की लटों को खोला। उस रूप पर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि उसके मुख और अंगों में मलय गिरि की सुगन्ध थी। सम्भवतः इसी कारण उसके चारो ओर नागिन रूपी लट लिपट गई थी क्योंकि उन्हें वहाँ मलय पर्वत के आ जाने का भ्रम हुआ। उसके बालों के विस्तार के कारण आकाश में घटा सी छा गई जिसके कारण सारे संसार में अन्धकार छा गया मानो पद्मावती के मुख रूपी चन्द्रमा को राहु ने ग्रसित कर लिया हो। दिन में सूर्य भी उन बालों के अन्धकार के कारण छिप गया। रात्रि में केवल उसका मुख रूपी चन्द्रमा और उन पर शोभित मोती रूपी नक्षत्र ही चमकते हैं। चकोर भ्रम में पड़ कर अपनी दृष्टि उसके मुख रूपी चन्द्र की ओर केन्द्रित किये हुए हैं। उसे बालों में छिपे हुए मुख को देख कर मेघ-घटा मे छिपे हुए चन्द्रमा का भ्रम होता है। उस पद्मावती के दाँतों को विद्युत समझ कर कोयल बोलने लगती है। उसकी भौंहें आकाश में छाये हुए धनुष के समान प्रतीत होती हैं। उसके नेत्र ही खन्जन पक्षी हैं जो उसके मुख-मंडल पर क्रीड़ाएँ किया करते हैं। कुच नारंगी के समान हैं तथा उनके अग्रभाग का श्याम बिन्दु मधुकर के समान प्रतीत होते हैं। मानो वे उन पयोधरों के रस का पान कर रहे हों। वह मानसरोवर उस पद्मावती के रूप को देख कर विमोहित हो जाता है तथा उसका हृदय आनन्द की लहरों

से लहराने लगा। वह अपनी लहरों को इस कामना से ऊँचा उछाल रहा है कि वह किसी प्रकार उसके चरणों का स्पर्श कर सके।"1

सौन्दर्य का यही विराट स्वरूप, जिसकी व्यंजना पद्मावती के प्रतीक से की गई है, जायसी का आराध्य स्वरूप था। इस दृष्टि से उन्हें रत्नसेन का अनुयायी कह सकते हैं। जायसी का यह विराट् सौन्दर्य वर्णन वेदो के विराट् ब्रह्म वर्णन से, जिसका अनुसरण कबीर ने भी किया है, सर्वथा भिन्न है। वेदों का विराट् ब्रह्म, सहस्रबाहु, सहस्रपाद, सहस्रशीर्ष स्वरूपी है किन्तु जायसी का विराट उपास्य शुद्ध सौन्दर्य स्वरूप है। उसमें मूर्तिमत्ता की जो छाया दिखाई पड़ती है, वह केवल प्रतीक-योजना के कारण है। उनके उपास्य स्वरूप के सम्बंध में एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। उन्होने ब्रह्मरूप की कल्पना नारी रूप में की

---

१ सरवर तीर पद्मनी आई। खोपा छोर केस मुकलाई॥
ससि मुख अंग मलय गिरि वासा। नागिन झाँपि लीन्ह चहुँ पासा॥
उनई घटा परी जग छाँहा। ससि के सरन लीन्ह जनु राहा॥
छपि गै दिनहिं भानु के दसा। लेई निसि नखत चांद परगसा॥
भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा मंह चन्द देखावा॥
दसन दामिनी, कोकिल भाखी। भौंहें धनुख गगन लेइ राखी॥
नैन-खन्जन दुइ केलि करेहीं। कुच नारंग मधुकर रस लेहीं॥
सरवर रूप विमोहा, हिय हिलोरहि लेइ।
पांव छूवै मकु पावौं एहि मिस लहरहि देइ॥

जायसी ग्रंथावली पृ० २४

है। इसका कारण यह था कि लौकिक सौन्दर्य नारी रूप में ही सम्भवत: अपनी पराकाष्ठा पर पाया जाता है। उन्होंने अपने उपास्य रूप को स्पष्ट करने के लिए सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी पद्मिनी को ही प्रतीक रूप में चुना। इस प्रकार हम देखते हैं कि जायसी का रहस्यमय उपास्य प्रेम और सौन्दर्य की रहस्यमयता का सरस इतिहास है। उसकी छटा 'मुनि-मण्डल' में ही फैल कर नहीं रह जाती, उसके प्रकाश से सारा ब्रह्माण्ड प्रकाशित है। विश्व की समस्त विभूतियाँ उसी से सुन्दर है। अण्डरहिल ने रहस्यवादी उपास्य की चार प्रमुख विशेषताएँ बतलाई हैं—

"रहस्यवादी का उपास्य ब्रह्म प्रेम करने योग्य, प्राप्त करने योग्य सजीव तथा व्यक्तिगत होता है [1]

जायसी ने अपने उपास्य मे यह सभी विशेषताएँ प्रतिष्ठित की हैं। वह विश्व-व्यापी और अखण्ड सौन्दर्य रूप होने के कारण पूर्ण परब्रह्म (Absolute) है। स्त्री प्रतीक द्वारा अभिव्यक्त किये जाने के कारण प्रेम करने योग्य (loveable) है तथा प्रेम और सौन्दर्यमय होने के कारण सजीव (Alive) सी है। उन्होंने सारे विश्व में उसका आरोप करके उसे एक अपनापन दे दिया है। जिसके कारण हम यह भी कह सकते हैं कि उनका उपास्य विश्व-व्यापी होते हुए भी व्यक्तित्व विशिष्ट (Personal) है। संक्षेप में जायसी के रहस्यवादी उपास्य का यही स्वरूप है।

जायसी : रोसेटी, ब्राउनिग और शैली—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जायसी प्रेम और सौन्दर्य विशिष्ट रहस्यवादी थे। अंग्रेजी मे शैली, ब्राउनिग आदि इसी कोटि के रहस्यवादी हैं। अंग्रेजी कवि

---

1 The absolute of a mystic is loveable, attainable, alive and personal.

—Mysticism—E. Under Hill.

रोसेटी भी ऐसा ही रहस्यवादी है। उसके रहस्यवाद में प्रेम के वासनात्मक स्वरूप की भी यत्र-तत्र अभिव्यक्ति मिलती है। रोसेटी की यह विशेषता जायसी में भी पाई जाती है। इसका संकेत हम पहले भी कर चुके हैं। जायसी की सौन्दर्य-भावना शैली की सौन्दर्य-भावना से मिलती जुलती है। शैली को आदर्श सौन्दर्य में विश्वास था। जायसी भी उसी आदर्श सौन्दर्य के उपासक थे। शैली के "हिम टु इन्टेलेक्चुअल ब्यूटी (Hymn To Intellectual Beauty) में इसी आदर्श-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की गई है। जायसी ने पद्मावती के सौन्दर्य-चित्रण में विशेषकर मानसरोवर के अन्तिम अवतरण में इसी आदर्शवादी सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की है। जायसी शैली से एक बात मे और मिलते जुलते मालूम पड़ते हैं। शैली का विश्वास था कि—"चरित्र का महान रहस्य प्रेम मे सन्निहित है।"

इस विश्वास की अभिव्यक्ति जायसी में भी पाई जाती है। उनके मतानुसार सौन्दर्य ही समस्त नैतिकता एवं आस्तिकता की आधार-भूमि है। यह बात उनकी निम्नलिखित पक्तियों से प्रकट होती है—

"मानसरोवर ने जब उस पद्मावती रूप ब्रह्म के दर्शन किये तो उसके हृदय का आनन्द कमल के पुष्पों के रूप मे विकसित हो उठा। उससे समस्त अन्धकार नष्ट हो गया और प्रात:कालीन सूर्य की ज्ञान रूपी किरणें फूट पडी।"[1]

जायसी के सौन्दर्य-चित्रण मे एक बात ब्राउनिंग की भी पाई जाती है। ब्राउनिंग विश्व के समस्त पदार्थो मे उसी ईश्वर के दर्शन करता था। उसने बार-बार लिखा है—"ईश्वर ही तारों, पत्थरों, शरीर और

१ देखि मानसर रूप सुहावा। हिय हुलास पुरइन होइ छावा॥
गा अँधियार रैन मसि छूटी। भा भिनसार किरन रवि फूटी॥
—जायसी ग्रंथावली पृ० २५

आत्मा आदि में दिखाई देता है।"[1]

ब्राउनिंग के समान जायसी भी विश्व के कण-कण में अपने प्रियतम की झाँकी देखते थे। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि ब्राउनिंग की अनुभूति बहुत-कुछ कवि की अनुभूति है और जायसी में साधना की प्रधानता दिखलाई पड़ती है। इसीलिए उनकी अनुभूति एक साधक की अनुभूति है। उन्होने सृष्टि के समस्त पदार्थों को साधना में संलग्न चित्रित किया है—

"चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र और सभी तारे उसी के भय से अन्तरिक्ष में भ्रमण करते हैं। वायु भी उस ईश्वर तक पहुँचने के प्रयत्न में था कि इस प्रकार प्रताड़ित हुआ कि वह पृथ्वी पर जाकर लोट रहा।"[2]

जायसी का ब्राउनिंग से एक बात में और साम्य दिखलाई पड़ता है। जिस प्रकार ब्राउनिंग प्रेम को जीवन का मूल-तत्व मानता था, उसी प्रकार जायसी भी प्रेम को जीवित रहने का एकमात्र साधन समझते थे। "ए डैथ इन द डैजर्ट" नामक कविता में ब्राउनिंग ने लिखा है—

"जीवन में हमें जो कुछ दिखाई पड़ता है, वह केवल प्रसन्नता ही है। और आशा और निराशा उस प्रेम-जनित प्रसन्नता का ही पुरस्कार है।"[3]

---

1 God is seen in the stars, in the stone, in the flesh, in the soul etc.

—Mysticism in English poetry by Spurgeon.

२ चांद सुरज औ नखत तराई। तेहि डर अन्तरिख फिरहिं सवाई॥
पौन जाइ तहं पहुँचे चहा। मारा तैस लोट भुईं रहा॥

— जायसी ग्रन्थावली

3 For life with all it yields joy alone.
And hope and fear is just our chance.
Of the prize of the learning love.

—Mysticism in English Literature, Page 41.

ब्राउनिंग के समान ही जायसी ने भी लिखा है—

"तीनों लोकों और चौदह खण्डों में मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेम के अतिरिक्त और कोई तत्व मन को प्रसन्न करने वाला नहीं दिखाई देता।"[1]

इस प्रकार हम देखते है कि जायसी अंग्रेजी के प्रेम-प्रधान रहस्य-वादियों से भी कुछ दृष्टियों से मिलते-जुलते हैं। हिन्दी के सूफी कवियों को छोड़कर जायसी के समान रहस्यवादी वहुत कम हैं।

रहस्यवाद के क्रियात्मक पक्ष—अब हम जायसी के प्रेममूलक रहस्यवाद के क्रियात्मक पक्ष पर विचार करेंगे।

प्रेम मूलक रहस्यवाद वास्तव में कोई सिद्धान्त मात्र नही है। हमारी समझ में वह उस प्रियतम तक पहुँचने का भावनामय मार्ग के साधक रूपी पथिक की अनुभूतियों का प्रकाशन है। वॉहन (Vaughan) ने अपने "अवर्स विद द मिस्टिक्स" के प्रथम खण्ड के ८८वें पृष्ठ पर हमारे इसी मत का समर्थन सा किया है। उसने लिखा है—

"इस अज्ञात-तत्व ब्रह्म तक पहुँचने के अनेक मार्ग हैं। सौंदर्य का प्रेम जो कि कवियों को प्रभावित करता है.........इत्यादि।"[2]

जब रहस्यवाद उस प्रियतम तक पहुंचने का प्रयत्न करने वाले साधक की मधुर साधनाओं का इतिहास है तो फिर हमें उस साधना क्रम को भी समझना पड़ेगा।

---

१ तीनि लोक चौदह खण्ड सबै परै मोहि सूझि।
प्रेम छाड़ि नहि लोन किछु, जो देखा मन बूझि॥

—जायसी ग्रन्थावली

२ There are different roads by which this (apprehension of the infinita) may be reached. The love of beauty excells all etc.'

—Hours with the Mystics by R. A. Vaughen.

जागरण की स्थिति—रहस्यवादी की साधना भावना या प्रेम के सहारे अग्रसर होती है। यह भावना या प्रेम साधक में गुरु की कृपा से या पूर्व जन्म के पुण्यो के प्रताप से ही उत्पन्न होती है। यह ईश्वर प्रदत्त है जिसे पाकर मानव कृत-कृत्य हो जाता है। हृदय में इसकी जाग्रति होते ही आध्यात्मिक सौन्दर्य की अनुभूति बढ जाती है। साधक को सर्वत्र उसी सौदर्य की व्याप्ति दिखलाई पड़ती है। विश्व का कण-कण उसे उसी सौदर्य से सुन्दर प्रतीत होता है। इस सौंदर्य की परिचयात्मक अनुभूति होते ही साधक पागल हो उठता है। इसका परिचय गुरु कराता है। जायसी ने निम्नलिखित पक्तियों में इसी तथ्य की अभिव्यक्ति की है।

"उस पद्मावती के रूप का वर्णन सुनते ही राजा मूछित ऐसा प्रतीत होता था मानो सूर्य का प्रकाश मलिन हो गया हो अथवा उसे मूर्छा आ गई हो।"[1]

गुरु से इस सौदर्य का परिचय पाकर साधक प्रेम की पीर से तड़प उठता है। इस पीर की अनुभूति भुक्तभोगी को ही होती है:—

"इस प्रेम के घाव की पीड़ा को कोई नही जान सकता। जिसे यह वेदना होती है, केवल वही इसे जान सकता है।"[2]

आंशिक अनुभूति की अवस्था—प्रेमानुभूति क्षण भर के लिए साधक को एक विचित्र आंशिक अनुभूति की दशा में ले जाती है। उस दशा का वर्णन जायसी ने निम्नलिखित पक्तियों में किया है—

"जो व्यक्ति इस अपार प्रेम सागर मे पड़ जाता है, वह उसकी लहरो के साथ नृत्य करने लगता है और बेसुध हो जाता है। विरह

---

१ सुनतहि राजा गा मुरझाई। जानौ लहर सूरज कंह आई॥
—जायसी ग्रन्थावली पृ० ६५

२ पीर घाव दुख जान न कोई। जेहि लागै जानै पै सोई॥
—जायसी ग्रन्थावली

रूपी भंवर में वह भ्रमित होने लगता है। क्षण-क्षण में उसका हृदय हिलोरें लेने लगता है। क्षण भर में वह विरह की निश्वासों में डूब जाता है और क्षण भर में ही वह उठ बैठता है और बौराया हुआ सा घूमने लगता है। क्षण भर में वह पीत-वर्ण हो जाता है और क्षण भर में ही उसका मुख श्वेत हो जाता है। कभी उसकी मुर्छा भंग होती है और कभी वह पुनः मूर्छित हो जाता है। प्रेम दशा मे विचरण करना मृत्यु से भी अधिक जटिल कार्य है। उस दशा में पहुँचने पर साधक न तो जीवित ही रहता है और न दसवीं अवस्था मृत्यु को ही प्राप्त कर पाता है।"[1]

दोनों अवस्थाएं—साधक की आंशिक अनुभूति की स्थिति अधिक देर नहीं टिक पाती; क्योंकि इस समय तक उसकी साधना अपूर्व रहती है। उसका हृदय भी पूर्ण सिद्ध नहीं हो पाता है। शैतान और माया के विविध संगम उसे उस दैवी और आध्यात्मिक अनुभूति की रमणीय स्थिति से जगने के पश्चात् साधक बावला सा दिखलाई देने लगता है। उस दैवी आनन्द के आगे उसे सांसारिक वैभव फीके मालूम पड़ने लगते हैं। इसलिए वह विरक्त और अदृष्ट हो जाता है और उसी अपनी दैविक अनुभूति की प्राप्ति के लिए तड़पने लगता है। रहस्यवाद की इस स्थिति का चित्रण, जिसे हम अण्डरहिल के शब्दों में जागरण की अवस्था कहेंगे, जायसी की निम्नलिखित पंक्तियों में बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है।

---

१ परा सो प्रेम समुद्र अपारा, लहरहिं लहर होइ विसम्भारा।
विरह-भौंर होइ भांवर देई, खिन खिन जीउ हिलोरा लेई।
खिनहिं उसास बूडि जिउ जाई, खिनहिं उठै निसरै बौराई।
खिनहिं पीत, खिन होई मुख सेता, खिनहिं चेत, खिन होइ अचेता।
कठिन मरन ते प्रेम व्यवस्था, ना जिउ जियै, न दसवं अवस्था।

जायसी ग्रन्थावली पृ० ६६

इन पंक्तियों मे जागरण की स्थिति के साथ-साथ आंशिक अनुभूति की स्थिति का भी चित्रग मिलता है—

"जब साधक को उस ब्रह्म का आभास मिलता है, तब वह एक क्षण के लिए मूर्छित हो उठता है। जब उसकी मूर्छा भंग होती है, तब वह विरक्त हो उठता है। जिस प्रकार इस संसार में आते समय बालक रोया करता है, ठीक उसी प्रकार साधक रोने लगता है और यह पश्चाताप करने लगता है कि हाय! मैंने अपने ज्ञान को खो दिया है। मैं तो इस मृत्यु-लोक मे पड़ा हुआ हूँ। उस स्वर्ग-लोक को तो मै खो चुका हूँ जिसमे कि मै अभी कुछ क्षण पहले विश्राम कर रहा था। मैं इस मृत्यु लोक में कहां और किस प्रकार आ गया हूँ। न जाने किसने हमें मृत्यु देकर हमारा उपकार किया था और हमारे प्राणों का हरण कर लिया था। मैं सुख की शाखा में अर्थात् सुखराशि में शयन कर रहा था। न जाने विधाता ने मुझे क्यो वहा सोता नहीं रहने दिया। अब हमारे प्राण तो वहाँ हैं और शून्य शरीर यहां पर पडा है। यह शरीर बिना प्राणों के कब तक रह सकता है। यदि इस शरीर में स्थित जीव काल के अधीन है तो इस शरीर का जीव के बिना रहना उचित नहीं है।"[1]

विरहावस्था—रहस्यमय की इस आंशिक अनुभूति से जगने के

---

१ जब भा चेत उठा वैरागा, बाउर जनौं सोइ उठि जागा।
आवत जग बालक जस रोआ, उठा रोइ हा ज्ञान सो खोआ।
हौं तौ अहा मरनपुर जहाँ, इहाँ मरनपुर आएहुँ कहाँ।
केइ उपकार मरन कर कीन्हा हंकारि जीउ हरि लीन्हा।
सोवत रहा जहां सुख साखा, कस न तहां सोवत विधि राखा।
अब जिउ उहां इहां तन सूना, कब लगि रहै परान बिहूना।
जो जिउ घटहि काल के हाथा, घन न नीक पै जीउ-निसाथा।

—जायसी ग्रन्थावली पृ० ५०

पश्चात् साधक में तीव्र आध्यात्मिक विरह की जागृति होती है। सूफी-साधना में इस आध्यात्मिक विरह को बड़ा महत्व दिया जाता है। जायसी भी सूफी थे। इसलिए उन्होंने भी विरह को बहुत अधिक महत्व दिया है। उनका सारा काव्य इसी आध्यात्मिक विरह से व्यथित दिखलाई पड़ता है। उन्होंने इस विरह का स्थान-स्थान पर महत्व भी प्रतिपादित किया है, वे लिखते हैं—

"उस विरह-तप्त साधक और उसके हृदय को धन्य है, जिसमें यह विरहाग्नि समाती है।"[1]

विरह की धार तलवार की धार से भी तेज होती है—

"इस संसार में तलवार की धार बहुत तीव्र मानी जाती है। विरह की धारा उससे भी अधिक तीव्र है।"[2]

"यदि यह विरह इतना कठिन न होता तो साधना-मार्ग ही सरल हो जाता और उस प्रियतम को सभी लोग पा जाते।"[3]

यह विरह व्यक्ति-विशेष का साधारण विरह नहीं है। वह अखण्ड और महान् ज्वाला है, जिससे दृष्टि में समस्त पदार्थ जलते हुए दिखलाई पड़ते हैं—

"उस दिव्य विरह की अग्नि से ही सूर्य जल कर कांप रहा है। रात और दिन उसके ही ताप से जल रहे हैं। सारे नक्षत्र और तारे भी उसी ताप से संतप्त हैं। उसी ताप के कारण तारे रूपी अग्नि-पिण्ड टूट कर पृथ्वी पर गिरते हैं, जिसके कारण धरती स्थान-स्थान पर

---

१ धनि विरहो औ धनि हिया, जहं अस अगिन समाय।

—वही

२ जग महं कठिन खड्ग कै धारा तेहि ते अधिक विरह मैं झारा।

वही ६७

३ अगम पन्थ जो ऐस न होई साध किये पावै पै कोई।

—वही

जलने लगती है।"[1]

विरह के वैयक्तिक पक्ष का भी कम मार्मिक वर्णन जायसी ने नही किया है। नागमती, पद्मावती और रत्नसेन के जो विरह-वर्णन है, उनमें उनका वैयक्तिक रूप अधिक निखरा है। उनका विवेचन नागमती के विरह-वर्णन के अन्तर्गत किया जायेगा। यहाँ पर विरह के समष्टि मूलक और आध्यात्मिक पक्ष का चित्रण करना ही हमारा उद्देश्य है, क्योंकि रहस्यवाद के अन्तर्गत विरह का यही आध्यात्मिक और समष्टि मूलक रूप आता है।

विरह के साधक के लिए परिष्करण भी प्रेरणा प्रदान करता है। सच तो यह है कि साधक रूपी कन्चन विरह रूपी अग्नि में बिना तपे हुए निखरता ही नहीं है तभी तो उस्मान ने लिखा है—

"विरह की अग्नि में जल कर ही मनुष्य सोना बन जाता है तथा उसका शरीर शुद्ध हो जाता है।"[2]

जब विरह से साधक की आत्मा पवित्र होने लगती है, तब वह हृदय शुद्धि-विधायक कुछ अन्य साधकों की ओर भी उन्मुक्त हो उठता है। भिन्न-भिन्न रहस्यवादियों ने परिष्करण के साधन के रूप में बहुत अलग-अलग साधनाएं निर्देशित की हैं। किसी ने कुरान की शरायतो पर बल दिया है, किसी ने तरीकत नाम की स्थिति से गुजरने का उपदेश दिया है। कोई हकीकत के लिए तड़पता दिखलाई पड़ता है और कोई मारिफत तक पहुँचने की चेष्टा में है।

इसी प्रकार किसी ने योग को महत्व दिया है, किसी ने ज्ञान को

---

१ विरह की आगि सूरि जरि कांपा, रातिहु दिवस जरहि उहि तापा।
और सब नखत तराई जरई, टूटहि लूक धरति महं परई।
जरैं सो धरती ठांवहि ठाऊं। —वही

२ विरह अगिनि जरि कुन्दन होई, निरमल तन पावै पै सोई।
—उसमान

आवश्यक ठहराया है और कोई भक्ति-मार्ग पर चलता दिखलाई पड़ता है। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से छोटे-छोटे साधन हैं, जिनसे साधक अपनी आत्मा और हृदय को शुद्ध करके उस प्रियतम से मिलने के लिए प्रयत्नशील होता है। जहाँ तक जायसी का संबंध है, उन्होंने आत्मशुद्धि के साधकों में सहज योग और वैराग्य के साथ-साथ सूफियों के शरीकत, तरीकत, हकीकत और मारिफत—सबको अपनाने की चेष्टा की है। इन सबसे अधिक उ ो मन् को महत्त्व दिया है। उनका दृढ़ निश्चय था कि "चार बसेरे सों चढ़े सत सों उतरे पार।"

अर्थात् साधक सत् की साधना करते हुए सूफियों के शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत नामक चार पड़ावों से गुजरता हुआ ही अपने प्रियतम तक पहुँच पाता है। जायसी ने साधना के रूप में आत्मानुभूतिमूलक सहयोग के प्रति श्रद्धा प्रकट की है। हठयोग के प्रति उन्हें बिल्कुल श्रद्धा न थी। उन्होंने साफ लिखा है—

"कोई हठयोग साधना से ईश्वर को नहीं प्राप्त कर पाता। वह आत्म-साधना रूपी राजयोग से प्राप्त किया जा सकता है।"[1]

जायसी में साधना के रूप में प्रपत्ति-भावना को भी आश्रय दिया गया है। इस प्रपत्ति-भावना की अभिव्यक्ति मानसरोवर-खण्ड में की गई है। सरोवर पद्मावती के दिव्य रूप से मुग्ध हो उसके चरणों को छूना चाहता है—

"मानसरोवर का हृदय पद्मावती के रूप को देखकर विमोहित हो गया और लहरें लेने लगा। वह अपनी लहरों को ऊँचा उठाकर

---

१ पाइय नाहिं जूझ हठ कीन्हें। जेहि पावा तेहि आपुहि चीन्हें॥
—वही पृ० ६३

उसके चरणों को छूना चाहता है।'[1]

इसी खण्ड में दूसरे स्थल पर वे लिखते हैं—

"भा निरमल तिन पाइन परसे।"

इन पंक्तियों से अच्छी तरह से स्पष्ट है कि जायसी की प्रपत्ति या शरणागत में पूर्ण आस्था थी।

विघ्न की अवस्था—आत्म-परिष्करण और साधना की स्थिति के पश्चात् विघ्नों की अवस्था आती है। अण्डरहिल ने रहस्यवादियों की इस स्थिति को "डार्क नाइट" कहा है। सूफियों का विश्वास है कि उस प्रियतम तक पहुँचने में शैतान बाधक होता है। भारतीय साधक शैतान के स्थान पर माया की कल्पना करते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि माया ही आत्मा और परमात्मा के रूप में बाधक है। माया का प्रतीक अज्ञान है। जायसी ने रहस्य-साधना की बाधा रूप में माया को ध्वनित किया है। माया के साथ उन्होंने उसके पंचविकार तथा विषय-विकारों को समेटने की भी चेष्टा की है। ज्ञानी-से-ज्ञानी मनुष्य भी इन विकारों तथा माया के इन्द्रजाल में पड़कर बन्धन में बँध जाता है। यह बात जायसी ने निम्नलिखित पंक्तियों में तोते या पक्षी के रूपक से प्रकट की है—[2]

---

१ सरवर रूप विमोहा हिये हिलोरें लेइ।
पांव छुवे मकु पावौं यहि मिस लहरें देइ॥ —वही पृ० २४

२ बधिगा सुआ करत सुख केली। चूर पाखि मेलिस घर डेली॥
तहवां बहुत पंखि खरवरही। आपु-आपु महं रोदन करहीं॥
बिख दाना कित होत अंगूरा। जेहि भा मरन डहन धरि चूरा॥
जौ न होत चारा कै आसा। कित चिरहार ढुकत लेई लासा॥
यह विष चारै सब बुद्धि ठगी। औ भा कात हाथ लेइ लगी॥
एहि झूठी माया मन भूला। ज्यों पंखी तैसे तन फूला॥
—वही पृ० २७

"वह जीवात्मा रूपी तोता सुख से क्रीड़ा करते-करते ही संसार रूपी पाश में बद्ध हो गया। बधिक ने उसके पखो को चूर्ण करके अपनी झोली में डाल लिया। उसमे पड़े हुए बहुत से पक्षी तिलमिला रहे थे तथा अपना-अपना रोदन कर रहे थे। वह अगूर के दाने क्योकर विष के बन गए। उनके कारण मृत्यु का सामना करना पडा और पखों का चूर्ण हो गया। यदि जीवात्मा रूपी पक्षी को इस ससार मे चारे की आशा न हो, तो वह कैसे विषय वासनाओ रूपी लासा पर आकर बैठता और पकडा जाता। इस विष के समान चारे ने समस्त बुद्धि का हरण कर लिया। इसी कारण उसे बधिक के हाथ मे पड़ना पडा। इसी प्रकार जीवात्मा इस संसार की झूठी माया मे फस कर अपने को भूला हुआ, व्यर्थ गर्व मे पड़ा रहता है।"

जायसी ने साधना के बाधक रूप मे काम-क्रोधादि पच-विकारो को पाच कोतवालो के रूपक से कई जगह सकेतित किया है—

"गढ पर पाच कोतवाल भ्रमण करते हैं। उनकी मार से साधक के पैर कांपने लगते हैं।"[1]

जायसी ने अन्य सन्तो के समान विषय-वासना की प्रतीक नारी की भी निन्दा की है। वे लिखते हैं—"जो स्त्री के कार्यो को नही जानता वह उसके धोखे मे पडकर पीछे पछताता है।"[2]

जब साधक काम-क्रोधादि-प्रधान माया से विमुख हो जाता है, तभी उसे उस प्रियतम की अनुभूति होती है। इस बात को जायसी ने निम्नलिखित पक्तियों मे स्पष्ट कर दिया है—

"तोते से पद्मावती का वर्णन सुनकर राजा ने क्षण भर को भी

---

१ फिरहिं पांच कुतवाल सुभौरी। कांपै पांव चपत वा पौरी॥
—वही पृ० १५

२ जो तिरिया के काज न जाना। परै धोक पाछे पछताना॥
—वही

देर न की और तुरन्त ही उसके प्रेम मे लीन हो गया। उसके नेत्रो से प्रेमाश्रु रूपी मोती और मूगे प्रवाहित होने लगे। हृदय मे उत्पन्न प्रेमाग्नि से उसे समस्त ससार आलोकित सा प्रतीत होने लगा। फिर उसे इस संसार मे सर्वत्र अधकार दिखाई देने लगा। उसकी दृष्टि अन्तर्मुखी हो माया से विमुख हो गई। इस ससार को असत्य जान कर वह फिर इस संसार की ओर प्रवृत न हुई।"[1]

मिलन के पूर्व की स्थिति—जब साधक माया पर विजय प्राप्त कर लेता है, तब उसे केवल उस प्रियतम के लोक तक पहुँचने की ही कामना शेष रह जाती है। वह अध्यात्म जगत मे प्रकट हो जाता है। वह कभी तो उस प्रियतम के लोक की मधुर कल्पना करता है, और कभी मिलन के पूर्व की भावनाओ का चित्रण करता है। और मिलने के लिये तडप उठता है। जायसी के उस प्रियतम-लोक की कल्पना देखिए कितनी मधुर है—

"जहाँ वहाँ न जल है, न वायु है, न दिन होते हैं और न रात्रि का ही आगमन होता है, ऐसे उपवन मे तोता उडकर जा पहुँचा है। उसको लाकर मुझमे कौन मिला सकता है।"[2]

मिलन के पूर्व की भावनाओ का चित्रण भी जायसी ने बड़े मधुर ढग से किया है। वे लिखते हैं—

'जीवात्मा रूपी प्रेमिका सोचती है कि मैंने अपने प्रियतम रूपी

---

१ सुनि सो बात राजा मन जागा। पलक न मार, प्रेम चित्त लागा॥
हिय कै ज्योति दीप वह सूझा। यह जो दीप अंधियारा बूझा॥
उलटि दीठि माया सौं रूठी। पलटि न फिरी जानि कै झूठी॥
—वही

२ पौन न पानि है वहां न दिवस न रात।
तेहि बन सुवटा चल बसा कौन मिलावे आन॥
—वही पृ० २७

परमात्मा को कभी नहीं देखा है। इस कारण मैं मन में कांपती हूँ। जब प्रियतम मेरी बाँह पकड़ेंगे, तो मैं क्या कहूँगी। मेरी बाल्यावस्था व्यतीत हो चुकी है किन्तु मैंने प्रेम को नहीं पहचाना है। युवावस्था में मैं यौवन के मद के कारण उन्मत्त हो रही हूँ। मुझे यौवन के गर्व का कुछ आभास नहीं हुआ है। मैं नही जानती कि प्रेम क्या है ? उसका वर्ण श्वेत है अथवा श्याम ? अब जब प्रियतम हाल पूछेंगे, तो मेरा मुख न जाने लाल होगा या पीला।"[1]

इसी प्रकार उन्होंने मिलन के पूर्व की परिस्थितियों के बड़े ही रमणीय चित्र प्रस्तुत किए हैं।

तादात्म्य की अवस्था—रहस्यवाद की अन्तिम अवस्था साक्षात्कार या तादात्म्य की मानी जा सकती है। जायसी ने इस अवस्था के बहुत से मनोरम चित्र चित्रित किए हैं। इन चित्रो की योजना अधिकतर रूपकों अन्योक्तियों और प्रतीकों के सहारे की गई हैं। साक्षात्कार की स्थिति के दो चित्र बहुत ही प्रसिद्ध और सुन्दर हैं। पहला चित्र मानसरोवर खण्ड में हैं। उसमें पद्मावती की कल्पना ब्रह्म के रूप में की गई है। सरोवर साधक के रूप में चित्रित किया गया है। वह पंक्तियां इस प्रकार हैं—

"मानसरोवर को मनवांछित फल प्राप्त हुआ और वह सोचने लगा कि पारस रूपणी पद्मावती स्वयं ही यहां उपस्थित हैं। उसके शरीर की मलयानिल जैसी सुरभि सरोवर में व्याप्त हो गई जिसके प्रभाव से उसका जल रूपी शरीर शीतल हो गया तथा उसके हृदय

---

१ अनचिन्ह पिउ कांपै मन मांहा। का मैं कहब गहब जो बांहा॥
बारि बैस गइ प्रीत न जानी। तरुनि भई मैमंत भुलानी॥
जोबन गरब न मैं किछु चेता। नेह न जानौं सांव कि सेता॥
अब सो कत जो पूछहि बाता। कस मुख होइहि पीत की राता॥
—वही पृ० १२२

की तपन शान्त हो गई। वह सोचने लगा कि न जाने किस पुण्य के प्रताप से उसे पद्मावती रूपी ब्रह्म के दर्शन प्राप्त हुए हैं। उसकी दशा कुछ विचित्र सी हो गई तथा उसके समस्त पाप नष्ट हो गए। उसी क्षण पद्मावती का हार ऊपर तैरने लगा। सखियों को वह हार दिखाई दिया तथा पद्मावती का मुख-चन्द्र विहंसने लगा। उस मुख-चन्द्र को विकसित हुआ जान कर सरोवर में कमल विकसित होने लगे। उसके रूप को जिसने भी देखा उसे वह अपने ही अनुकूल दिखाई दिया। जिसने जैसा रूप चाहा उसे वैसा ही रूप प्राप्त हुआ, मानो पद्मिनी का मुख-चन्द्र दर्पण हो गया हो। उसके नेत्र कमल के रूप में प्रतिविम्बित हो गये। उसके शरीर की निर्मलता ही जल की निर्मलता बन गई। उसकी हँसी ही हंसों के रूप में मानसरोवर में रहने लगी तथा उसके दांतों की कान्ति हीरे आदि रत्नों की ज्योति में वहाँ छा गई।"[1]

यहाँ पर साधक और साध्य के साक्षात्कार की स्थिति का बड़ा ही रहस्यात्मक चित्र प्रस्तुत किया गया है। समासोक्ति, रूपकातिशयोक्ति आदि विविध अलंकारों के प्रयोग ने तथा साध्यवासना गौड़ी लक्षणा-जनित लाक्षणिक अर्थ ने चित्रण को और भी अधिक

---

१ कहा मानसर चाह सो पाई, पारस-रूप इहां लगि आई।
मलय-समीर बास तन आई, भा सीतल, गै तपनि बुझाई।
न जानों कौन पौन लेई आवा, पुन्य-दसा भै पाप गंवावा।
तत खन हार बेगि उतिराना, पावा सखिन्ह चन्द विहंसाना।
बिगसा कुमुद देखि ससि-रेखा, भै तहं ओप जहां जोई देखा।
पावा रूप रूप जस चाहा, ससि-मुख जनु दरपन होइ रहा।
नयन जो देखा कंवल भा, निरमल नीर सरीर।
हंसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर।

जायसी ग्रंथावली पृ० २५

रमणीय और साहित्यिक बना दिया है।

उपनिषदों में ब्रह्म-साक्षात्कार की स्थिति का बड़े वि
वर्णन किया गया है। मुण्डक उपनिषद् में लिखा है—

"उस ब्रह्म के दर्शन होने पर हृदय की समस्त अज्ञान रूपी ग्रन्थियाँ समाप्त हो जाती हैं और सब प्रकार के संशय समाप्त हो जाते हैं। जीव अथवा साधक के समस्त पाप कर्म आदि भी नष्ट हो जाते हैं।"[1]

जायसी ने उपर्युक्त पंक्तियों में इन्ही बातों का चित्रण किया है। वे इस दृष्टि से कबीर से मिलते जुलते है। कबीर ने भी साक्षात्कार की दशा का कुछ ऐसा ही वर्णन किया है।

"मैं हरि की संगति के कारण शीतल हो गया। मेरी मोह-रूपी अग्नि समाप्त हो गई। जब मेरे अन्त:करण में मुझे ब्रह्म की झलक दिखाई दी, तो फिर मै रात-दिन उसके सुख-सागर में गोते लगाने लगा।"[2]

इस चित्रण पर भारतीय मोक्ष-भावना का प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

एक दूसरे स्थल पर जायसी ने साक्षात्कार की स्थिति का और भी अधिक सुन्दर चित्रण किया है। उस स्थल पर वे मोक्ष-भावना के प्रति सूफियों से भी प्रभावित मालूम होते हैं। वे पक्तियाँ इस प्रकार हैं।

---

१ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।

मुण्डकोपनिषद २/२/८

२ हरि संगति शीतल भया, मिटी मोह की ताप।
निस वासर सुख निधि लहा, अन्तर प्रकटा आप॥

—कबीर ग्रन्थावली पृ० ११

"मानसरोवर ने जब पद्मावती रूपी ब्रह्म के दर्शन किये तो उसके हृदय का आनन्द पुरइनों के रूप में विकसित होकर छा गया। उसके हृदय से अज्ञान रूपी रात्रि का अन्धकार समाप्त हो गया और प्रातःकालीन किरणवत ज्ञान का प्रकाश जगमगाने लगा।"[3]

यहां पर कवि ने एक ओर तो सूफी भावना के अनुरूप दिव्य रूप के आनन्द-विधायक पक्ष का उद्घाटन किया है और दूसरी ओर भारतीय श्रुति-ग्रन्थों के आधार पर उसने साक्षात्कार की स्थिति में अज्ञान के निराकरण और ज्ञान के उदय की बात भी कही है। इसी स्थल पर उन्होंने रहस्यवाद की आधार भूमि—आस्तिकता के प्रति श्रद्धा प्रकट की हैं। जायसी के रहस्यवाद की यही विशेषता थी।

साक्षात्कार के बाद तादात्म्य या पूर्ण एकाकार की स्थिति आती है। जायसी सूफी थे। सूफी पूर्ण तादात्म्य की स्थिति में पूर्ण विश्वास नहीं करते। उन लोगो की धारणा है कि साधक और साध्य नीर-क्षीर की तरह कभी एक नहीं होते हैं। उनके इस मत का स्पष्टीकरण निकल्सन ने अपने "आइडिया आफ परस्नैलिटी इन सूफीज़्म" नामक ग्रन्थ में किया है। जायसी के "पद्मावत" में कहीं पर भी तादात्म्य की उस स्थिति का वर्णन नहीं किया गया है, जहाँ साधक और साध्य नीर-क्षीर के समान एक हो जाते हैं।

अद्वैतता—अब हम जायसी के रहस्यवाद के प्रेम-पक्ष से हट कर अध्यात्म पक्ष की ओर आते हैं। अनेक में एक के दर्शन करना रहस्यवादी अध्यात्म की प्रधान विशेषता है। स्पर्जन ने अपने "मिस्टिसिज्म इन वर्नाकुलर लिट्रेचर" नामक ग्रन्थ में लिखा है—

"रहस्यवाद वास्तव में एक सिद्धान्त न होकर भावना है, वह एक

---

१ देखि मानसर रूप सुहावा, हिय हुलास पुरइन होइ छावा।
गा अंधियार रैन मसि छूटी, भा भिनसार किरन रवि फूटी॥
—जायसी ग्रन्थावली पृ० ६७

दर्शन की धारा न होकर वातावरण मात्र है। बहुत से रहस्यवादी विचारक परम्परागत सत्य के नवीन क्षेत्रों की रक्षा करते हैं, क्योंकि उन्होंने विविध दृष्टियों से उनकी झाँकी देखी हैं। विविध भावों से अभिभूत हुए वे, विचारों और दृष्टिकोणों में दूसरों से भिन्न दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए वर्ड्सवर्थ को ले सकते हैं। उसे उस परमात्मा की महिमा के दर्शन प्रकृति के माध्यम से हुए। इसके विपरीत यही प्रकृति ब्लेक के लिए एक प्रकार की बाधा रूप थी। उसे सत्य के दर्शन कल्पना में होते थे। इतना होते हुए भी इस बात में सभी रहस्यवादी एकमत हैं कि संसार में जो अनेकता दिखाई पड़ती है उसमें एक एकता भी है। यह भावना ही उनके रहस्यवादी जीवन का श्रीगणेश है। इसको हम मन की एकवृत्ति, जिसका विकास स्वानुभूति से होता है या अद्वैतानुभूति से होता है, कह सकते हैं। समस्त रहस्यवादियों और रहस्यवादों का मूलस्रोत यही वृत्ति है।"

कृष्ण के अनुसार—

"ज्ञान ही सत्य रूप है। उसी को प्राप्त करना चाहिए। सभी जीवात्माओं में और उस अद्वैत तत्व के विभिन्न समस्त रूपों में केवल एक ही ब्रह्म के विभिन्न रूपों को देखना चाहिए।"[1]

---

1 Mysticism is in truth a temper rather than a doctrine, an atmosphere rather than a system of Philosophy. Various mystical thinkers save contributed fresh aspects of truth as they have her, for they have caught glimpses of her face at different angles, transfigured by diverse emotions, so that their testimony, and in some respects their views, are dissimilar to the point of contradiction. Wordsworth, for instance, gained his revelation of

उपर्युक्त पंक्तियों में विद्वान लेखक ने अनेकता में एकता के दर्शन को सब कालों और सब देशों के रहस्यवाद का मूल और प्राण भूत तत्व माना है। गीता के उद्धरण से उसने अपनी इस बात को पुष्ट भी किया है। जायसी एक सच्चे रहस्यवादी कवि थे। अतएव रहस्यवाद के इस मूलभूत तत्व की अभिव्यक्ति उनके "पद्मावत्" में स्थल-स्थल पर मिलती है। अनेकता में एकता की इस अनुभूति की अभिव्यक्ति उन्होंने व्यष्टि में समष्टि के आरोप द्वारा की है। जहां कहीं भी उन्हें स्थान और समय मिला है उन्होंने

---

dignity through Nature, and through Nature alone and where as to Blake, Nature was a hinderance and imagination the only reality. But all other agree in one respect in one passionate assertion and this is that unity underlies diversities. Thus, their starting point and their goal is basic fact of Mysticism, which in its widest sense may be described as an attitude of the mind founded upon and intutive or experienced emotions of unity or oneness, of alikeness in all things. From this source spring all Mystical thoughts and the Mystics of whatever age or country. Say the words of Krishna —

There is true knowledge
Learn thou it is this,
To see one changeless life in all the lives,
And in the separate one inseparable

Introduction, page 2

व्यष्टिपरक लौकिक वर्णन पर समष्टि का आरोप करके उन्हें अलौकिक रूप दे दिया है। इसके लिए उन्होंने समासोक्ति, रूपकातिशयोक्ति, हेतूत्प्रेक्षा, रूपक आदि का आश्रय लिया है—

"विरह की आग से ही जल कर सूर कम्पित होता है। उसी ताप के कारण रात दिन उसका हृदय तप्त रहता है। उसी के प्रभाव से समस्त नक्षत्र-मण्डल प्रज्वलित होता है। अग्नि-पिण्ड तारों के रूप में टूट कर जो पृथ्वी पर गिरते हैं, वे ही स्थान-स्थान पर अग्नि के रूप में जलते हुए दिखाई देते हैं। लाल लाल पलाश भी मानो उसी विराट् विरह में दहक रहे हों ॥"[1]

साधना पक्ष का वर्णन करते हुए भी उन्होंने सृष्टि के समस्त पदार्थों को प्रियतम की साधना में चित्रित करके समष्टि भावना का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है—

"वायु ने उस परम तत्व तक पहुँचने की चेष्टा की तो वह वहाँ नहीं पहुँच पाया और लौट कर भूमि पर आ गिरा। अग्नि जब ऊपर उठने का प्रयत्न करने लगी तो फलतः जल उठी। जब धुंए ने वहां जाने की चेष्टा की तो मध्य में ही विलीन हो गया। जल भी उठ कर वहाँ पहुँचना चाहता था, किन्तु विवश होकर वह भूमि पर पुनः वृष्टि के रूप में स्रवित हो गया।"[2]

---

१ विरह की आगि सूर जर कांपा, रातिउ दिवस जरै उर तापा।
औ सब नखत तराईं जरईं, टूटहिं लूक धरति मंह परईं।
जरहि सो धरती ठांवहि ठाहूं, दहति पलास जरै तेहि दाऊं।

—जायसी ग्रन्थावली

२ पवन जाहि तहं पहुंचै चहा, मारा तैस लोटि भुंई रहा।
अगिनि उठी, जरि उठी नियाना, धुंआ उठा, उठि बीच बिलाना।
पानि उठा, उठि जाई न छूआ, बहुरा रोई, आइ भुंइ चूआ।

—जायसी ग्रन्थावली पृ० ६८

रूप वर्णन में जायसी ने अतिशयोक्ति के सहारे विराट् भावना को चित्रित करने की चेष्टा की है। उनकी नायिका जब वेणी खोल कर बाल झाड़ती है, तब स्वर्ग और पाताल में अन्धकार फैल जाता है—1

"विराट् भावना के चित्रण के हेतु उन्होंने कहीं-कहीं हेतूत्प्रेक्षाओं का भी प्रयोग किया है। उदाहरण के रूप में निम्नलिखित पंक्तियां देखी जा सकती हैं—

"उसकी लाली को देखकर वह—सूर्य—जो अपनी सहस्रों किरणों से दिप्त होकर चमकता है, भी छिप जाता है।" 2

इस प्रकार उन्होंने विविध शैलीगत विधानों के सहारे अनेकता में एकता दिखलाने की चेष्टा की है। व्यष्टि में समष्टि के आरोप से, लौकिकता में अलौकिकता की इस प्रतिष्ठा से उनके रहस्यवाद में स्वर्ण-सुगन्धि-संयोग उपस्थित हो गया है।

प्रतीक-योजना—अब हम थोड़ा सा विचार जायसी की प्रतीक पद्धति पर कर लेना चाहते हैं। जायसी सूफी थे। सूफी साहित्य प्रतीकों से भरा पड़ा है। चन्द्रबली पाण्डेय के शब्दों में—"सूफियों के रक्षक उनके प्रतीक ही रहे हैं। यों तो किसी भी भक्ति-भावना में प्रतीकों की प्रतिष्ठा होती है, पर वास्तव में तसव्वुफ में उनका पूरा प्रसार है। प्रतीक ही/सूफी-साहित्य के राजा हैं।"

रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति में प्रतीक-पद्धति कई प्रकार से सहायक होती है। रहस्यमयी अनुभूतियां अनिर्वचनीय होती हैं। भाषा उन्हें अपनी सम्पूर्णता में अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहती

---

१ बेनी छोरि झारि जो बारा, सरग पतार होइ अंधियारा।

जायसी ग्रन्थावली पृ० ४१

२ सहस किरन जो सुरज दिपाई, देखि ललार सोउ छिप जाई।

—वही पृ० ४२

है। इसके लिए साधक लोग तरह-तरह के प्रतीकों, रूपकों और समासोक्तियों की योजना किया करते हैं। अनिर्वचनीय को वचनीय बनाने के अतिरिक्त प्रतीक विरोधी मतों के मधुर खण्डन और अप्रत्यक्ष खण्डन में भी समर्थ होते हैं। फारीज ने[1] इसीलिए लिखा है कि प्रतीकों के प्रयोग से दो लाभ प्रत्यक्ष होते हैं—एक तो प्रतीकों की ओट लेने से धर्म-बाधा टल जाती है और दूसरे उनके उपयोग से उन बातों की अभिव्यंजना भी खूब हो जाती है जिनके निदर्शन में वाणी असमर्थ अथवा मूक होती है। उन दो उपयोगों के अतिरिक्त प्रतीक-पद्धति एक तीसरे प्रकार से भी उपयोगी प्रतीत होती है। इनसे साहित्य में एक विचित्र सौंदर्य आ जाता है। प्रतीक-पद्धति प्रायः लक्षणा एवं व्यंजना के सहारे खड़ी रहती है। साहित्य का प्राण ध्वनि है। प्रतीकों के सहारे इस ध्वनि की मधुर व्यंजना हुआ करती है। इनसे काव्य में एक विचित्र रमणीयता आ जाती है।

सच तो यह है कि अप्रस्तुतों की योजना के बिना काव्य नहीं रहता है। प्रतीकों में भी अप्रस्तुत योजना का ही रूपान्तर है। रहस्यवाद की आधार-भूमि भावना दिव्य प्रणय है। साधक उस दिव्य प्रणय की अभिव्यक्ति के लिए तड़पता रहता है, किन्तु असीम की अनुभूतियां अपनी सम्पूर्णता में व्यक्त नहीं की जा सकतीं। साथ ही उनको अनुभव करने वाला साधक उनकी रमणीयता और मधुरिमा से इतना अधिक मुग्ध रहता है कि वह उन्हें बिना अभिव्यक्त किये हुए रह भी नहीं सकता। इसके लिए वह उन लौकिक सम्बन्धों के प्रतीकों की योजना करता है जिनमें प्रणय की चरम परिणति पाई जाती है। लोक में प्रणय की चरम परिणति प्रेमी और प्रेमिका के प्रणय में पाई जाती है। पति और पत्नी का प्रेम भी कम तीव्र नहीं होता।

---

१ Studies in Islamic Mysticisim.
by Nicholson page 233

किन्तु दोनों में अन्तर इतना है कि एक संयम की आधार-भूमि पर खड़ा रहता है और दूसरा संयमहीन रहस्यमयता की आधार-भूमि पर। यही कारण है कि जो रहस्यवादी आदर्शवादी होते हैं, वे पति-पत्नी के प्रतीकों की योजना करते हैं और जो कट्टर प्रेमवादी होते हैं, वे प्रेमी और प्रेमिका के प्रतीकों की योजना करते हैं। जायसी ने मध्य-मार्ग को ग्रहण किया। वे कट्टर प्रेमवादी होते हुए भी थोड़ा-बहुत भारतीय आदर्शवाद से भी प्रभावित थे। यही कारण है कि उनके "पद्मावत" में रत्नसेन और पद्मावती का प्रेम और प्रेमिका के रूप में चित्रण किया गया है। बाद में वही प्रेम पति-पत्नी के प्रेम मे परिणत हो जाता है। पद्मावती पहले प्रेमिका थी, बाद में वह सती पत्नी बन गई। जायसी ने इसी दाम्पत्य-प्रतीक को अपनाने की चेष्टा की है, जिससे वे अपनी अभिव्यक्ति में अच्छा सौन्दर्य ला सके हैं। इस दाम्पत्य प्रतीक के अतिरिक्त जायसी ने सूर्य और चन्द्र के प्रतीकों को भी अपनाने की चेष्टा की है। उन्होंने अनेक स्थलों पर पद्मावती को चन्द्र और रत्नसेन को सूर्य कहा है। कहीं-कही उन्होंने 'रत्न पदार्थ' के प्रतीकों से भी रत्नसेन और पद्मावती का बोध कराया है।

अन्योक्तियां और समासोक्तियां--प्रतीक-योजना के अतिरिक्त जायसी ने रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति के लिए समासोक्तियों की भी योजना की है। इनका विस्तृत विवेचन हम जायसी के आध्यात्मिक रहस्यवाद का निरूपण करते समय कर चुके हैं। यहां पर प्रसंगवश संकेत-मात्र कर देना चाहते हैं। समासोक्तियां एक-दूसरे से परस्पर भिन्न होती हैं। अन्योक्तियो में कवि अप्रस्तुत के सहारे प्रस्तुत का वर्णन करता है और समासोक्तियों में प्रस्तुत के सहारे अप्रस्तुत का संकेत करता है। जायसी में सफल अन्योक्तियां बहुत कम मिलती हैं। यद्यपि उन्होने अपने काव्य को अन्योक्तिमूलक ही सिद्ध करने की

चेष्टा की है किन्तु फिर भी उनमे अन्योक्ति के स्थान पर समासोक्ति का समावेश अधिक मालूम पड़ता है। 'पद्मावत' के अन्त में उन्होंने समस्त कथा को अन्योक्ति द्वारा ध्वनित करने की चेष्टा की है। वे लिखते है—

"चित्तौर शरीर का प्रतीक है। मन को राजा बनाया गया है। हृदय ही सिंहलगढ़ है तथा पद्मिनी बुद्धि का प्रतीक है। सुआ ही गुरु है जिसने कि रत्नसेन रूपी साधक को मार्ग दिखाया है। बिना गुरु के इस संसार में कोई व्यक्ति उस निर्गुण ईश्वर को पा नहीं सकता है। नागमती प्रपञ्च रूप है। इसके प्रणय मे बँधने से कोई प्राणी नही बच सका। राघव दूत ही शैतान है। अलाउद्दीन सुल्तान ही माया रूप है। इस प्रकार से इन प्रेम कथा पर विचार करना चाहिए। तभी इसका रहस्य समझा जा सकता है।"[1]

यद्यपि जायसी ने उपर्युक्त पंक्तियों मे पद्मावती की कथा को अन्योक्ति बतलाने की चेष्टा की है, किन्तु वे पद्मावत में सर्वत्र उसका निर्वाह नही कर सके हैं। उपर्युक्त पंक्तियों में पद्मावती को बुद्धि का प्रतीक माना है। इसके विपरीत उन्होंने कहीं-कही पर रत्नसेन को चेला और पद्मावती को गुरु भी कहा है—

"पद्मावती गुरु हो चेला।"

पूर्वोक्त पंक्तियों में उन्होने तोते को गुरु कहा है। इस प्रकार की प्रत्यक्ष विरोधी उक्तियां ही इस बात का प्रमाण है कि वे अन्योक्ति के

---

१ तन चितउर, मन राजा कीन्हा, हिय सिंहल, बुधि पद्मिनि चीन्हा।
गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा, बिन गुरु जगत को निरगुण पावा।
नागमती दुनिया कर धन्धा, बांचा सोइ न एहि चित बंधा।
राघव दूत सोई सैतानू, माया अलादीन सुलतानू।
प्रेम-कथा एहि भांति विचारहु, बूझि लेहु जो बूझै पारहु।
जायसी ग्रंथावली पृ० ३०१

निर्वाह में पूर्ण सफल नहीं हुए हैं। 'पद्मावत' में समासोक्तियों की छटा बहुत सुन्दर दिखलाई पड़ती है। उसका कारण उनकी संकेतात्मक भाषा और शैली है। जैसे—

"जिसने उस परमात्मा का आश्रय पा लिया है वह इस संसार रूपी कूप में आकर पुनः नहीं गिरा।"1

इनका विस्तृत उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। अतः अब व्यर्थ का विस्तार नहीं करना चाहते।

रूपकातिशयोक्तियां—जायसी ने रूपकों की योजना बहुत कम की है किन्तु उनकी रूपकातिशयोक्ति बहुत सुन्दर है। इनके सहारे भी उन्होंने कहीं-कहीं रहस्यभावना की अच्छी अभिव्यक्ति की है। निम्नलिखित पंक्तियों में देखिये उन्होंने रूपकातिशयोक्ति के प्रयोग से रहस्य-भावना को कितना अधिक मार्मिक बना दिया है—

"उसके मुख रूपी चन्द्रमा को विकसित हुआ देख कर मानसरोवर के कुमुद विकसित हो उठे। पद्मावती ने जिस ओर भी दृष्टि विक्षेपण की उधर ही कान्ति दिखाई देने लगी।"2

हेतूत्प्रेक्षा—रूपकातिशयोक्ति के अतिरिक्त रहस्य-भावना में जायसी की हेतूत्प्रेक्षा ने भी हाथ बटाया है। हेतूत्प्रेक्षा में कवि काल्पनिक हेतुओं की योजना करता है—

"सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र उसी के प्रकाश से दीप्यमान होते हैं। रत्न, माणिक्य, मोति आदि में भी उसी की ज्योति जगमगाती है।"3

---

१ जेहि वह पाई छांह अनूपा, सो नहिं आय परै यहि कूपा।

जायसी ग्रंथावली पृ० ११

२ विकसा कुमुद देखि ससि रेखा, भई तहं ओप जहां जेहि देखा।

वही पृ० २५

३ रवि ससि नखत दिपहि ओहि जोती।
रतन पदारथ मानिक मोती॥ —वही

इस पंक्ति में रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति हेतुत्प्रेक्षा के सहारे की गई है। यह हेतुत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति से पुष्ट होती है। इन दोनों का संकर भी स्पष्ट नहीं है, ध्वनित मात्र है, जिससे अभिव्यक्ति में और भी अधिक सौन्दर्य आ गया है।

यौगिक रहस्यवाद

यद्यपि जायसी में भावना-प्रधान रहस्यवाद ही पाया जाता है, किन्तु तत्कालीन नाथ-पंथियों के प्रभाव से उनमें यत्र-तत्र यौगिक रहस्यवाद की भी अभिव्यक्ति हो गई है। पिण्ड में ब्रह्माण्ड की कल्पना करना यौगिक रहस्यवाद की प्रधान विशेपता है। उपनिषदों और तन्त्र ग्रन्थों में उल्टी साधना की चर्चा की गई है। "कठोपनिषद्" में एक स्थल पर इस उल्टी चाल की चर्चा बड़े सुन्दर ढंग से की गई है।[1]

यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि आत्म दर्शन के लिए इन्द्रियों की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी होना आवश्यक है। इस अन्तर्मुखी साधना की अभिव्यक्ति और विकास धर्म-ग्रन्थों में कई प्रकार से देखा गया है। तन्त्र-ग्रथों में वर्णित कुण्डली उत्पादन की प्रक्रिया अन्तर्मुखी साधना से ही सम्बन्धित मानी जा सकती है। ब्रह्म-रन्ध्र का वर्णन प्रायः बड़े रहस्यात्मक ढंग से किया जाता है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी हठयौगिक साधना में विविध स्थलों पर विविध ध्वनियों विविध चित्रों आदि की योजना की जाती है। विविध चक्रों के वर्णन भी इसी अन्तर्मुखी साधना के अन्तर्गत आते हैं। जायसी ने हठयोग आदि के बड़े ही रहस्यात्मक चित्रण प्रस्तुत किये हैं। सिंहलगढ़ के वर्णन में ही उन्होंने हठयोग के रहस्यात्मक वर्णन प्रस्तुत किये हैं। हठयौगिक रहस्यवाद के रूप में निम्नलिखित पंक्तियाँ

---

१ पराँचिखानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नांतरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥
—कठोपनिषद् २।१

विचारणीय है—

"उस पद्मावती के गढ़ से, सूर्य और चन्द्रमा सदा बचकर निकलते हैं, अन्यथा उनके रथ के घोड़े चूर्ण हो जाते। उसमें नौ वज्र की बनी हुई ड्योढ़ियां हैं जिनमें सौ-सौ पैदल सिपाही बैठे हैं। वहां पर पाँच पंच प्राण रूपी कोतवाल घूमते फिरते हैं जिनकी मार से समस्त भूमण्डल कांपने लगता है। प्रत्येक पौढ़ी पर सिंह के चित्र अंकित हैं, उन्हें वहाँ खड़ा देखकर लोग काँप जाते हैं। वे सिंह बहुत प्रयत्नपूर्वक बनाये गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो वे गरज कर सिर पर चढ़ना चाहते हैं। वे अपनी पूँछ घुमाते हैं और जीभ निकालते हैं। हाथी डरने लगते हैं कि कहीं वे गरज कर पकड़ न लें।"[1]

अब यहाँ पर उपर्युक्त पंक्तियों की थोड़ी सी विवेचना करके जायसी के यौगिक रहस्यवाद को स्पष्ट कर देना चाहते हैं। यहाँ पर जायसी ने सिंहलगढ़ को शरीर के रूपक से स्पष्ट करने की चेष्टा की है। जिस प्रकार शरीर में नव-चक्र होते हैं, उसी प्रकार उस सिंहलगढ़ में नव-द्वार हैं। जिस प्रकार शरीर के चक्र वज्र के समान अभेद्य होते हैं, उसी प्रकार सिंहलगढ़ के नव-द्वार भी अभेद्य हैं। इसी तरह जिस प्रकार चक्र-भेदन में साधक को अनेक प्रकार के मायागत मनोविकार बाधक सिद्ध होते हैं, और चक्रों का भेदन नहीं होने देते हैं, उसी प्रकार उस सिंहलगढ़ के प्रत्येक

---

१ निति गढ़ बांचि चलै ससि सूरू। नाहिं त होय बाजि रथ चूरू॥
पौरी नवो वज्र कै साजी। सहस सहस तह बैठे पाजी॥
फिरहिं पांच कोतवार सुभौंरी,। कांपै पांव चपत वह पौरी॥
पौरहि पौरि सिंह गढ़ि काढ़े। डरपहिं लोग देख तहं ठाढ़े॥
बहु विधान वै नाहर गढ़े। जसु गाजहिं, चाहहिं सिर चढ़े॥
टारहिं पूंछ पसारहिं जीहा। कुंजर डरहिं कि गुंजरि लीहा॥
—जायसी ग्रन्थावली पृ० १५

द्वार पर सैकड़ों 'पाजी' अर्थात् पैदल सिपाही प्रहरी के रूप में उसकी रक्षा करते है । कोई भी साधारण व्यक्ति उनमें प्रवेश नहीं पा सकता । इन सैकड़ों मायामय मनोविकारों के अतिरिक्त पंच महा मनोविकार—काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ—साधक को चक्र-भेदन में असफल बनाने की चेष्टा करते हैं । इधर गढ के प्रत्येक द्वार पर सैकड़ों पैदल सिपाहियों के ऊपर पांच वायु रूपी कोतवाल तैनात रहते हैं । ये साधारण व्यक्ति को उन द्वारों से प्रवेश नही करने देते । शरीर में जो चक्र पाए जाते हैं, उनमें से प्रत्येक की अधिष्ठात्री कोई न कोई देवी अवश्य होती है । देवी का वाहन सिंह है । चक्रों के द्वार पर ही देवी की उपस्थिति का द्योतक उनका वाहन सिंह वर्तमान रहता है, जो साधक को चक्र का भेदन नहीं करने देता । इधर गढ पा में गढ़ के प्रत्येक द्वार पर सिंह चित्रित दिखाए गए हैं । वे सिंह इतने सजीव प्रतीत होते हैं कि उन्हें देखकर ऐसा लगता है कि मानो वे गरज कर अभी खा जायेंगे । इस चित्रण से जायसी ने अपने युग की स्थापत्य कला की स्थिति की ओर भी संकेत किया है । इन नवों चक्रों के विविध दल होते हैं । इन दलों की समता जायसी ने द्वारों पर पाई जाने वाली स्वर्ण सीढ़ियों से की है । इस प्रकार गढ़ के रूपक से नव-चक्रों का यहाँ पर बड़ा रहस्यात्मक वर्णन किया गया है । अब दशम द्वार के व्याज से ब्रह्म-रन्ध्र का जो वर्णन किया गया है, उसे देखिए । वह भी बड़ा ही रहस्यात्मक है—

"नौ चक्र रूपी ड्योढियों के पश्चात् ब्रह्म-रन्ध्र रूपी दसवा द्वार आता है । उस पर अनहद्-नाद रूपी राज-घड़ियाल बजा करता है। जीवात्मा रूपी घड़ियाली सदैव उसी की साधना करती है । ज्योंही; घड़ी (अर्थात् एक चक्र में स्थित नाद श्रवण हो जाता है) पूरी हो जाती है, त्योंही वह उस घड़ियाल पर चोट पड़ती है । वह बज उठती है । तब वह सारे संसार को चेतावनी देता है कि हे मिट्टी के पुतलो ! तुम क्यों निश्चिन्त होकर बैठे हो ? तुम भी अन्य सांसारिक वस्तुओं की भाँति कच्ची मिट्टी से बने हो । समय आने पर तुम स्थिर न रह सकोगे ।

जिम प्रकार जलघडी के पात्र मे जल भर आने पर वह रिक्त कर दी जाती है, उसी प्रकार तुम्हारा समय पूरा हो चुकने पर तुम्हारा जीवन भी समाप्त हो जायगा और तुम्हे यह संसार छोड़ देना पडेगा। हे ससार के प्राणी रूपी यात्री ! तुम क्यो निश्चिन्त होकर सो रहे हो ? प्रत्येक प्रहर (अर्थात् प्रत्येक चक्र के नाद श्रवण होने पर भी) के पश्चात् गजट बजता है, किन्तु मानव का हृदय वज्र के समान दृढ है और वह बार-बार जगाये जाने पर भी नही जागता। समस्त चेतावनियां उसके लिए निरर्थक सिद्ध होती हैं।[1]

यहां पर कवि ने सिंहलगड मे दसवें द्वार का वर्णन किया है। इस द्वार पर राज घडियाल बजता है। हठयोगिक अर्थ पक्ष मे दशम द्वार ब्रह्म-रन्ध्र का प्रतिरूप कहा जायगा। राज घडियाल अनहद नाद का प्रतीक कहा जा सकता है। घडियाली को हम साधक मान सकते हैं। जिस प्रकार घडियाली, घड़ी रूपी जल-पात्र के पूर्ण होने पर जो कि घटिका का द्योतक है, घन्टा बजा देता है, उसी प्रकार प्रत्येक घण्टे के बीतने पर घण्टा-ध्वनि होती है। इधर साधक जब अनहद्-नाद श्रवण मे लीन होता है, तब उसे स्तर-स्तर पर तरह-तरह के नाद सुनाई पडते हैं। गढ के द्वार पर प्रत्येक घटिका के अन्त मे होने वाली घन्ट-ध्वनि विश्व की नश्वरता का सदेश देती है, उसी प्रकार साधक जब एक चक्र से दूसरे चक्र की ध्वनि सुनता है, तो उसके

---

१ नव पौरी पर दसवां दुआरा, तेहि पर बाज राज घरिआरा।
घरी सौ बैठि गनै घरियारी, पहर पहर सो आमनि बारी।
जबहीं घरी पूजि तेइ मारा, घरी घरी घरियार पुकारा।
परा जो डांड जगत सब डांडा, का निचित माटी कर भांडा।
तुम्ह तेहि चाक चढे हो कांचे, आएहु रहै न थिर होइ बांचे।
घरी जो भरी घटी तुम्ह आऊ, क्या निचित होई सोउ बटाऊ।
पहरहि पहर गजर निति होइ, हिया बजर, मन जाग न सोई।
जायसी ग्रंथावली पृ० १६

हृदय में क्रमशः संसार की नश्वरता का और अधिक आभास होने लगता है। इस अवतरण की अन्तिम पंक्तियो में कवि हठयौगिक अर्थ को सफलता पूर्वक नहीं घटा सका है। वे पक्तियाँ सिंहलगढ़ के द्वार पर होने वाले घन्टा-ध्वनि-जनित संदेश की सूचक-मात्र हैं : फिर भी अवतरण की प्रथम पंक्तियां ब्रह्म-रन्ध्र तथा उसमे होने वाले अनहद् नाद के कारण काफी रहस्यात्मक हो गई हैं। इनसे भी अधिक रहस्यात्मक इनके बाद का अवतरण है। वह इस प्रकार है—

इस गढ रूपी शरीर पर नीर (इडा) और क्षीर (पिंगला) की दो नाडिया रूपी नदियां है। पच प्राणो की साधना करने वाली जीवात्मा द्रौपदी के सदृश है। शरीर के उर्ध्व भाग में ब्रह्म-रन्ध्र रूपी मानसरोवर है, उसमें अमृत का जल है। और कपूर की कीच है। जो राजयोगी है। वह उसका पानी पान कर लेता है, वह जब तक जीवित रहता है, वृद्ध नही होने पाता। उसके समीप ही सुषुम्ना का एक कचन-वृक्ष है। वह उसी प्रकार शोभायमान है जिस प्रकार स्वर्ग मे कल्पतरु शोभायमान है। उसका मूल पाताल में, अर्थात मूलाधार में है और उसकी शाखाएँ सहस्रार के ऊर्ध्व भाग में हैं। उस अमर बेल के फल को कौन पा सकता है और कौन उसका आस्वादन कर सकता है। उस सुषुम्ना रूपी वृक्ष के उर्ध्व भाग में पत्तो के सदृश ब्रह्म-रन्ध्र चन्द्र है सहस्रार जिनके नक्षत्रों के सदृश प्रकाश से सारा शरीर जगमगाया करता है। सहस्र दल ही उस सुषुम्ना रूपी वृक्ष के फूल हैं, इस फल को कोई विरला साधक ही कठिन तपस्या करके प्राप्त कर सकता है। यदि कोई वृद्ध इस फल को खा ले, तो वह भी युवा हो जाता है।"[1]

---

१ गढ पर नीर खीर दुई नदी, पनिहारी जैसे दुरपदी।
और कुन्ड एक मोती चूरू, पानी अमृत, कीच कपूरू।
ओहि क पानि राजा पै पीया, बिरिध होइ नहि, जौं लहि जीया।

इस अवतरण में जायसी ने कुछ अधिक जटिल सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया है। पनिहारी साधक का प्रतीक है। गढ़ पर शब्द सहस्रार कमल का द्योतक है। "नीर खीर" नामक दो नदियां सम्भवतः इडा और पिंगला की सूचक हैं। साधक रूपी पनिहारी को दुरपदी इस कारण कहा गया है कि वह पंच प्राणों की साधना करती है। कुण्ड ब्रह्म-रन्ध्र का द्योतक प्रतीक होता है। उसके जल का पान करने वाला राजा राज-योगी का संकेतक है। ब्रह्मरन्ध्र में जो चन्द्र तत्व झरा करता है, यही अमृत है। उसे पान करने वाला अमर हो जाता है। कंचन वृक्ष हमारी समझ मे ब्रह्म-रन्ध्र में पाया जाने वाला द्वार है। 'मूल पतार' का भाव निम्नस्थ देश में स्थित मूलाधार चक्र से है। चांद का अर्थ ब्रह्म-रन्ध्र मे स्थित चन्द्र तत्व से लिया जा सकता है। संक्षेप में इन पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार है—"शरीर रूपी गढ के ऊपरी भाग में अर्थात्—ब्रह्माण्ड मे इडा और पिंगला नाम की दो प्रधान नाडियाँ है, जो नीर और क्षीर के सदृश अलग-अलग हैं। इन इडा और पिंगला की अद्भुत साधना का उपभोग करने वाला कोई राजयोगी साधक ही होता है। पच प्राणों की उपासना करने के कारण पंचपति उपासिका द्रोपदी के सदृश है। कुछ लोग पनिहारी का अर्थ सुषम्ना नाडी भी लेते हैं। जिस प्रकार द्रोपदी के पाँच पति थे उसी प्रकार सुषुम्ना नाड़ी, इडा, पिंगला, चित्रा और वज्रा आदि पच

कंचन विरिछ एक तेहि पासा, जस कलपतरु इन्द्र कविलासा।
मूल पतार सरग ओहि साखा, अमर वेलि को पाव को चाखा।
चांद पात और फूल तराई, दोइ उजिआर नगर तहं ताई।
यह फल पावै तप करि कोई, विरिध खाइ तौ जोवन होई।
जायसी ग्रंथावली पृ० १६

नाड़ियों का अधिकार रखती है। इसीलिए उसे द्रौपदी के सदृश कहा गया है। उसी ब्रह्माण्ड में ब्रह्म-रन्ध्र है, जिसकी समता कुण्ड से की गई है। ब्रह्म-रन्ध्र में अनिवर्चनीय सुषमा के दर्शन और अलौकिक रस की अनुभूति होती है। वहां साधक को विचित्र मधुमयी सुरति की अनुभूति होती है। जायसी ने 'मोती चूरू', 'पानी अमृत', 'कीच-कपूरू' लिख कर ब्रह्मरन्ध्रान्तर्गत अनुभूत होने वाले सौन्दर्य-सुरभि और रस आदि की अलौकिकता की ओर संकेत किया है। इस प्रकार के ब्रह्म-रन्ध्र रूपी कुण्ड के जल का पान कोई राजा रूपी राजयोगी ही कर सकता है। इस ब्रह्म-रन्ध्र के समीप सुषुम्ना का मार्ग भी होता है, जो प्रकाशमय वृक्षाकार-सा प्रतीत होता है। जायसी ने उसी को "कंचन बिरिछ" कहा है। उसकी समता उन्होंने इन्द्रलोक के कल्पतरु से की है। इस सुषुम्ना रूपी, वृक्ष का मूल निम्नस्थ प्रदेश में स्थित मूलाधार में रहता है। इस सुषुम्ना रूपी, मूलाधार से उत्पन्न होकर ब्रह्म-रन्ध्र तक फैली हुई बेल के रस का पान कोई बिरला ही कर पाता है। उस ब्रह्म-रन्ध्र में चन्द्र-तत्व का प्रकाश रहता है। फूल के सदृश तारावलियों की छटा भी दिखलाई पड़ती है। सम्पूर्ण ब्रह्म-रन्ध्र रूपी नगर इस अनिर्वचनीय प्रकाश से प्रकाशित रहता है। उस अमर बेल के अमृतत्व रूपी फल को कोई विरला ही प्राप्त कर पाता है। इस अमृतत्व का लाभ प्राप्त करके वृद्ध भी युवा हो जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त पंक्तियों में जायसी ने हठयोग की अच्छी अभिव्यक्ति की है। ब्रह्म-रन्ध्र के रहस्यात्मक वर्णन 'पद्मावत' में और कई स्थलों पर मिलते हैं। एक वर्णन सात समुद्र-खण्ड में पाया जाता है। वह इस प्रकार है—

"मानसरोवर ने जब पद्मावती रूपी ब्रह्म का दर्शन किया तो उसके हृदय का उल्लास कमल के रूप में वहीं पर छा गया। अज्ञान रूपी अन्धकार दूर हो गया और रात्रि की कालिमा समाप्त

हो गई।"[1]

इस अवतरण की प्रायः सभी पंक्तियां यौगिक रहस्यवाद का ही सुन्दर स्वरूप कही जा सकती हैं।

योग का एक प्रमुख सिद्धान्त है कि जो ब्रह्म में है वही पिण्ड में है। जायसी ने गढ़ और पिण्ड की एकरूपता चित्रित करके योग के उसी रहस्यात्मक सिद्धान्त की ओर संकेत किया है—

"किला भी तेरे शरीर के समान ही बांका है। उसमें भी उस विराट् पुरुष की झांकी दिखाई देती है। कोई भी व्यक्ति व्यर्थ हठयोग की साधना से उसे नहीं पा सकता। जिसने उसे पाया है, उसने आत्मज्ञान रूपी राजयोग की साधना से ही उसे पाया है। उस किले में भी शरीर के समान ही नवद्वार हैं, जिन पर पांच वायु रूपी कोतवाल फिरा करते हैं। उसमें एक ब्रह्म-रन्ध्र रूपी गुप्त दसवां द्वार है। उस पर चढ़ कर पहुँचना कठिन है, उसका मार्ग सुन्दर और स्निग्ध है। उस मार्ग पर वही चल सकता है जो चींटी की तरह धीरे-धीरे साधना में सदैव लगा रहता है। वही उस ब्रह्म के रहस्य को जान सकता है। मूलाधार रूपी गढ़ के निम्न मार्ग में एक कुण्ड है, जिसमें होकर सुषुम्ना रूपी सुरंग जाती है। उसमें होकर उस ब्रह्म तक पहुंचने का मार्ग है। उसका निर्देश साधक को गुरु करता है। उसमें अनेक कुवासना रूपी चोर बैठे हुए सेंध लगाते हैं, जिस प्रकार जुआरी लोग बैठकर जुए का दांव लगाते हैं। जिस प्रकार गोताखोर को समुद्र में धंसने पर ही सीप हाथ आती है, ठीक उसी प्रकार मरजिया अर्थात जीवनमुक्त साधक, जिसने स्वर्ग द्वार पर पहुंचने का अभ्यास कर लिया है, उस शरीर रूपी सिंहलगढ़ की

---

१ देखि मानसर रूप सुहावा, हिय हुलास पुरइन होइ छावा।
भा अँधियार रैन मसि छूटी, भा भिनसार किरन रवि छूटी।
—जायसी ग्रंथावली पृ० ६७

साधना में सफल हो सकता है—कोई सामान्य व्यक्ति वहाँ पहुँचने मे कदापि सफल नही हो सकता ।"[1]

उपर्युक्त पंक्तियो में जायसी ने नौ चक्र तथा दशम द्वार ब्रह्म-रन्ध्र तथा तत्सम्बन्धी साधना का विस्तार से रहस्यात्मक वर्णन किया है । ब्रह्म-रन्ध्र के वर्णन से सम्बन्धित निम्नलिखित पंक्तियां बहुत रहस्यात्मक मालूम होती हैं—

"दसवा द्वार ताड़ के वृक्ष के समान ऊंचा है । जो अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी बना लेता है, वही उसे देख सकता है ।"[2]

जायसी मे हठयौगिक रहस्यवाद की कुछ अपनी विशेषताएं हैं । वह कबीर के हठयौगिक रहस्यवाद से थोडा भिन्न प्रतीत होता है । पहली बात तो यह है कि वह कबीर के हठयौगिक रहस्यवाद के सदृश अत्यधिक जटिल और दुरूह नही है । फिर उनमे कबीर जैसी शुष्कता भी नही आने पाई है । कवि ने जहाँ कही भी हठयौगिक वर्णन किया है, वहाँ उसने राजयोग को ही अधिक महत्व दिया है । हठयोग के

---

१ गढ तस बांक जैस तोरी काया, पुरुष देखि ओही कै छाया ।
पाइय नाहि जूझ हठि कीन्हें, जेइ पावा तेइ आपुहि चीन्हें ।
नौ पौरी तेहि गढ मंझियारा, औ तेंह फिरहिं पांच कोतवारा ।
दसवं दुआर गुप्त एक ताका, अगम चढत, बाट सुठि बांका ।
भेदै जाई वह घाटी, जो लहि भेद, चढै होइ चांटी ।
गढतर कुण्ड, सुरंग तेहि मांहा, तहं वह पंत कहौं तेहि पांहा ।
चोर बैठि जस सेंधि सवारी, जुआ पैंत जस लाव जुआरी ।
जस मरजिया समुद धस, हाथ आव तब सीप ।
ढूंढि लेइ जो सरग-दुआरी, चढ़ै सो सिंहल दीप ।।

—जायसी ग्रथावली पृ० ९३

२ दसम द्वार ताल कै लेखा, उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा ।

—वही पृ० ९३

प्रति उनकी विशेष श्रद्धा न थी। राजयोग का मार्ग अधिक जटिल नहीं है, और न उतना शुष्क ही है। इसी से उनका हठयौगिक रहस्यवाद भी अधिक कटुता से युक्त नहीं प्रतीत होता। जो भी हो, इतना तो अवश्य है कि भावनात्मक रहस्यवाद के क्षीर-सागर में हठयौगिक रहस्यवाद के दो-चार स्थल कांजी सीकर के सदृश प्रतीत होते हैं।

जायसी के रहस्यवाद की विशेषताएं

जायसी के रहस्यवाद की प्राणभूत विशेषता 'प्रेम की पीर' है—

"मुहम्मद कवि ने यह पद्मावत की रचना करके लोगों को सुनाई है। जो इसे सुनता है वह प्रेम की पीर से व्याकुल हो जाता है। उस पद्मावती और रत्नसेन की जोड़ी तो रक्त के आँसू रोई थी और जो अन्य पाठक इस कथा को पढ़ते हैं, उनके नेत्रों से भी असीम प्रेम के अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं।"[1]

'प्रेम की पीर' के दो पक्ष विचारणीय हैं। एक तो प्रेम-पक्ष और दूसरा पीर-पक्ष। जायसी का रहस्यवाद प्रेम और पीर के मधुमय सुहाग का ही सुन्दर परिणाम है। प्रेम जायसी के रहस्यवाद का मूल स्वर है। उनका प्रत्येक प्रकार का रहस्यवाद प्रेम और मधुर भावना से अनुप्राणित है। इस प्रेम-तत्त्व ने उनके रहस्यवाद को मधुर-से मधुरतम बना दिया है। उनके प्रेममूलक रहस्यवाद का विवेचन करते समय मैं उनके इस पक्ष का सम्यक् उद्घाटन कर चुका हूँ। अतः यहाँ पर अधिक विषय विस्तार करना आवश्यक नहीं है।

पीर प्रेम की चिर संगिनी है। जहाँ प्रेम है, वहाँ पीर है। पीर

---

१ मुहम्मद कवि यह जोरि सुनावा, सुना सो पीर प्रेम का पावा।
जोरी लाइ रक्त कै लेई, गाढ़ि पीति नयनन जल भेई।

—वही पृ० ३०१

से अभिप्राय है प्रेम-जनित विरह-वेदना। जायसी ने स्पष्ट लिखा है कि 'प्रेम की वेल के साथ विरह सदैव वर्तमान रहता है। इसी विरह से स्वर्ग और पाताल सभी जलते रहते हैं।'[1]

यह प्रेम-जनित विरह-वेदना, प्रेम की यह पीर, परिणाम में मधुर होती है—

"जब मनुष्य प्रेम की वेल मे उलझ जाता है, तब उसे उसकी शीतल छाया सुखकर प्रतीत होती है और जब उसमे उलझे हुए रहने पर प्रियतम के दर्शन होते हैं, तब उसे उसमें अंगूर के रस का आस्वादन प्राप्त होता है।"[2]

जायसी के रहस्यवाद मे कहीं-कही लौकिकता और श्रृंगारिकता बहुत अधिक मुखरित हो गई है। इसके परिणामस्वरूप उनकी रहस्य-भावना कही-कही आवश्यकता से अधिक ललित और विलासपूर्ण हो गई है। सौन्दर्य-जनित आकर्षण ने उसे और भी अधिक भावपूर्ण बना दिया है। उनके नख-शिख-वर्णन में जिस रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति हुई है, वह अत्यधिक सुकोमल और वासनामय है। प्रेम-मूलक रहस्यवाद के अन्य पक्ष भी बहुत अधिक भावपूर्ण हैं, पीछे हम इनके अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर चुके हैं। यहाँ पर हम केवल एक प्रसंग का संकेत करना चाहते हैं। नख-शिख वर्णन में कवि ने समासोक्ति का आश्रय लेकर रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति की है। वह अंगो का वर्णन करते-करते अव्यक्त की मधुर व्यंजना कर देते हैं। अंगों के वर्णन मे कवि ने कुचों के वर्णन में बहुत अधिक

---

१ प्रीति वेलि संग विरह अपारा। सरग पतार जरै तेहि झारा॥

वही पृ० १०८

२ प्रीति बेलि अरुझै जब। तब सुछांह सुख-साख॥
मिलै पिरीतम आइकै। दाख बेलि रस चाख॥

वही पृ० १

रम लिया है। कुचों के इन वर्णनों को पढ़ कर संयमी का हृदय भी मचल उठता है। इसमें संयमी भी क्या करे, जब वे स्वयं ही हठ पूर्वक हुलसि हिए लगना चाहते हैं।[1]

"पद्मावती के हृदय रूपी थाल में कुच रूपी दो कनक के लड्डू रखे हुए हैं। वे ऐसे प्रतीत होते हैं मानो की अमृत की लता खराद पर रख कर खरादी गई हो और उसमें दो लड्डू निकाले गए हों। कवि उत्प्रेक्षा करता है कि वे कुच ऐसे शोभायमान हैं मानो कि दो अमृत के रत्न छिपा कर रख दिए गए हों। कुचो के लिए कवि एक दूसरी उत्प्रेक्षा करता है। वह कहता है कि कुच ऐसे प्रतीत हो रहे हैं मानो कि केतकी में दो भौंरे चिपटे हों और उन्हें किसी ने कंचुकी से ढंक दिया हो। वे कंचुकी वेध कर निकलना चाहते है। वे जीवन रूपी वाण किसी भी प्रकार से अनुशासन नहीं मानते, वे हुलसि के किसी के हृदय से लगना चाहते है।"

उपर्युक्त आठ पंक्तियों में तो वासनात्मक वर्णन किया गया है। अन्तिम दो पंक्तियां में कुचों की विराटता तथा उनके विश्व-व्यापी प्रभाव की ओर संकेत करके कवि ने रहस्य-भावना की व्यंजना कर दी है। इस प्रकार प्रेममूलक रहस्यवाद में अन्य स्थलों पर भी लौकिकता और वासनात्मकता की अतिरेकता दिखाई पड़ती है। इस प्रकार शृंगारिकता और वासनात्मकता को हम जायसी के रहस्यवाद की

---

१ हिये थार कुच कंचन लारू, कनक कचोट उठे जनु चारू।
कुंदन बेल साजि जनु कूदे, अमृत रतन मौन दुइ मूंदे ।।
बेधे भौंर कंट केतकी, चाहेंहि बेधु कीन्ह कंचुकी।
जोवन बान लेहि नहि बागा, चाहहि हुलसि हिये हठ लागा।
अगिनि वान दुई जानौ साधे, जग बेधहि जो होइ न बांधे ।।
वही पृ० ४६

दूसरी प्रधान विशेषता कह सकते हैं।

जायसी के रहस्यवाद की तीसरी प्रधान विशेषता उसकी समष्टिमूलकता है। जायसी ने व्यष्टिमूलक वर्णन करते हुए भी समष्टि का उस पर आरोप किया है। केवल दो-एक स्थल ऐसे हैं, जहाँ व्यष्टिपरक रहस्यवाद की अभिव्यक्ति की गई है। यह वर्णन भी हठयौगिक है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित दो वर्णन ले सकते हैं—

"तेरी काया के समान ही वह गढ़ भी विलक्षण है। उनमें विराट पुरुष की छाया दिखाई देती है। उस विराट पुरुष को कोई व्यर्थ हठपूर्वक हठयोग के द्वारा नहीं पा सकता। जो ईश्वर को पाता है, वह केवल आत्म-ज्ञान के द्वारा ही पा सकता है।"[1]

"नौ चक्र रूपी ड्योढ़ियों को पार करने के पश्चात् ही ब्रह्म-रन्ध्र रूपी दसवें द्वार पर पहुँचता है। वहाँ अनहद नाद रूपी राज-घड़ियाल बजता रहता है।"[2]

इसी ढंग के दो-चार हठयौगिक वर्णनों को छोड़ कर जायसी ने सर्वत्र अपने रहस्यवाद की सर्जना में समष्टि को माध्यम बनाया है। उन्होंने इसीलिए पद्मावती का चित्रण विराट ब्रह्म के रूप में किया है। उनमें हमें सौन्दर्य, प्रेम, विरह, मिलन आदि के सैकड़ों समष्टिमूलक रहस्यमय चित्र मिलते हैं। इनसे सम्बन्धित अनेक उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। किन्तु यहाँ पर बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए दो चार उदाहरण दे देना आवश्यक है। यों तो सौन्दर्य के

---

१ गढ़ तस बांक जैस तोरि काया, पुरुष देखि ओही कै छाया।
पाइय नाहिं जूझि हठि कीन्हे, जेइ पावा तेई आपुहि चीन्हे॥

वही पृ० ९३

२ नव पौरी पर दसवं डुवारा, तेहि पर बाज राज घरियारा।

वही पृ० १६

समष्टिमूलक वर्णन जायसी मे मिलते है, किन्तु निम्नलिखित वर्णन मे बहुत ही सुन्दर प्रतिबिम्बवाद ने उस वर्णन को और भी रहस्य पूर्ण बना दिया है—

"चन्द्रमा के मुख पर मुस्कराहट रूपी चन्द्र की रेखा को देख कर सरोवर में कुमुद विकसित हो गये। वहाँ पर सभी को अपने-अपने मन के अनुरूप ही स्वरूप उस पद्मावती के रूप में दिखाई देने लगा। उसके नेत्र ही कमल के रूप मे, तथा शरीर की निर्मलता ही जल के रूप में, उसकी हँसी ही हंस के रूप मे तथा दाँतो की ज्योति ही हीरे आदि रत्नों के रूप में मानसरोवर में अवस्थित हो गई।"[1]

इसी प्रकार विरह का यह विश्व-व्यापी वर्णन देखिए—

"उस विरह-ज्वाला में निमग्न हो कर ही सूर्य गर्म हो गया। वन मे मजीठ और टेसू के पुष्प भी उसी विरह की ज्वाला से दीप्त होने के कारण लाल वर्ण के दिखाई देते हैं। वसन्त ऋतु में भी वनस्पति में जो लाली दिखाई देती है, वह उस विरह के कारण ही है। समस्त योगी और सन्यासी भी उसी विरह के कारण रक्त-वस्त्र धारण करते है। भूमि उस विरहाश्रुधारा मे भीग जाने के कारण यत्र-तत्र गेरू रूप मे बदल गई है। समस्त पक्षी-गण भी उसी के रंग में रंग गए हैं। सती के शरीर के तेज रूप में भी वही विरहाग्नि विद्यमान है। आकाश मे, मेघो मे भी उसी विरह की लालिमा की छटा दिखाई देती है।"[2]

---

१ बिगसा कुमुद देखि ससि रेखा, भई तह आप जहां जेई देखा।
पावा रूप-रूप जस चाहा, ससि मुख जनु दर्पन होइ राहा॥
—वही २५

२ सूरज बूडि उठा होई ताता, और मजीठ टेसू बन राता।
भा वसन्त राती वनस्पती, औ राते सब जोगी जती॥

एक दूसरे स्थल पर उन्होंने प्रेम-वाण से प्रकृति को विद्ध दिखा कर प्रेम की समष्टिमूलकता प्रकट की है—

"ऐसा इस संसार में कौन है जो उन दृष्टि के वाणों से विद्ध नहीं होता। उन्होंने इस समस्त संसार को विद्ध कर रखा है। आकाश में जो अगणित नक्षत्र दिखाई देते हैं, वे सव उन बाणों से बिद्ध होने के कारण ही टुकड़े-टुकड़े हो कर बिखर गए हैं। उन वाणों ने समस्त पृथ्वी को भी वेध रखा है। स्थान-स्थान पर खड़े हुए वृक्ष इस बात की साक्षी दे रहे हैं।"[1]

इसी प्रकार जायसी ने सर्वत्र समष्टिमूलक रहस्य-भावना की व्यंजना की है। निश्चय ही समष्टिमूलकता जायसी के रहस्यवाद की प्रधान विशेषता है।

जायसी के रहस्यवाद की अभिव्यक्ति का एक स्पष्ट लक्ष्य और उद्देश्य भी था। वह था सूफी-मत और इस्लाम-धर्म का प्रचार करना। प्रचार-भावना से प्रेरित होने के कारण उनका रहस्यवाद कहीं-कहीं सूफी सिद्धान्तों से बुरी तरह आक्रान्त हो गया है। ऐसी दशा में उसने कहीं-कहीं साम्प्रदायिक रूप धारण कर लिया है। निम्नलिखित दोहे में देखिए सूफी बातों का कैसे संकेत किया गया है—

"नौ खण्डों पर नौ ड्योढ़ियाँ बनी हुई हैं। उन सब पर वज्र

भूमि जो भीजि भएउ सब गेरू, औ सब राते पखि पखेरू।
राती सती अगिनि सब काया, गगन मेघ राते सब छाया॥

वही पृ० ९८

१ उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा, बेधि रहा सगरो संसारा।
गगन नखत जो जाहिं न गने; वै सब ओहि बानि के हने॥
धरती बान बेधि सब राखी, साखी बाट देहि सब साखी।

वही

के किवाड़ लगे हुए हैं। जो साधक सत्य की साधना करता हुआ चार बसेरों—शरीयत, तरीकत, हकीकत, और मारिफत को पार कर लेता है, वही पद्मावती रूपी ब्रह्म के दर्शन कर सकता है।"[1]

इसी प्रकार उनके रहस्यवाद में स्थान-स्थान पर प्रचार-भावना अग्रणी दिखाई देती है।

जायसी में हमें रहस्यवाद की बाह्य प्रक्रिया की प्रधानता मिलती है। इसका प्रमुख कारण उसकी समष्टिमूलकता है। समष्टिमूलक रहस्यवाद की व्यंजना बहिर्प्रक्रिया के सहारे ही हो सकती है, क्योंकि उसमें व्यष्टि का विस्तार करके समष्टि दिखाना ही अपेक्षित होता है। व्यष्टि का समष्टि में पर्यवसित होना ही अद्वैतवाद है। इस प्रकार के अद्वैतवाद की मधुर झांकी जायसी के रहस्यवाद में जगह-जगह मिलती है। अभी हम कई उदाहरण रहस्यवाद की समष्टि-मूलकता दिखाते समय उद्धृत कर चुके हैं। वे सब रहस्यवाद की बहिर्प्रक्रिया और भावात्मक अद्वैतवाद के भी उदाहरण माने जा सकते हैं। अतः इनके दूसरे उदाहरण प्रस्तुत करना अनावश्यक है।

जायसी का रहस्यवाद अधिकतर अन्योक्ति और समासोक्ति के सहारे अभिव्यक्त किया गया है। समासोक्ति की स्थिति सांकेतिकता और ध्वनि पर आधारित होती है। यही कारण है कि जायसी का रहस्यवाद बहुत कुछ सांकेतिक और व्यंजनात्मक है। उदाहरण के लिए, रहस्यमय लोक का यह व्यंजनात्मक उदाहरण देखिए—

"जिसने उस परमात्मा के दर्शन कर लिए हैं, वह इस संसार रूपी

---

१ नवौं खण्ड नव पौरी, औ तहँ वज्र किवार।
चार बसेरे सौं चढ़ै, सत सौं उतरै पार।

वही पृ० १९

कूप में पुनः आकर नहीं पड़ता है ।"[1]

यह सांकेतिकता और व्यंजनात्मकता उनके रहस्यवाद का प्राण है। संक्षेप में जायसी के रहस्यवाद की यही विशेपताएं है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण वह लोक में इतना मान्य और प्रतिष्ठित हो सका है।

---

१ जेइ वह पाव छांह अनूपा, सो नहिं आइ परै वह कूपा ।

वही १६

कबीर और जायसी के रहस्यवाद का तुलनात्मक अध्ययन

परिचय—रहस्यवाद का स्वरूप वास्तव में रहस्यमय है। बहुत-से लोग इसे एक दार्शनिक वाद समझते हैं, किन्तु यह दर्शन से बिलकुल भिन्न वस्तु है। इसमें भारतीय भक्ति-मार्ग के बहुत-से तत्व पाये जाते हैं, किन्तु दोनों में उपास्य-स्वरूप के सम्बन्ध में मौलिक अन्तर है। भक्त प्रधान रूप से भगवान् के आधिदैविक स्वरूप में विश्वास करता है। रहस्यवादी की साधना ब्रह्म के आध्यात्मिक स्वरूप से सम्बन्धित होती है। ब्रह्म के आध्यात्मिक स्वरूप की प्रतीष्ठा दर्शन में भी है, किन्तु रहस्यवाद का स्वरूप दर्शन के समान तर्क-मूलक और बुद्धि-प्रतिष्ठित न होकर भावना-विनिर्मित होता है। दर्शन और रहस्यवाद में यही मौलिक अन्तर है। इस प्रकार रहस्यवाद दर्शन और भक्ति-मार्ग दोनों से भिन्न है। संक्षेप में हम रहस्यवाद को ब्रह्म के आध्यात्मिक स्वरूप से आत्मा की भावात्मक ऐक्यानुभूति के इतिहास का प्रकाशन कह सकते हैं। "अण्डरहिल" ने "हण्डरेड पोयम्स आफ कबीर" की भूमिका में रहस्यवाद को "सत्य के प्रति भावात्मक प्रतिक्रिया कहा है।"[1]

---

१ Temperamental reaction to the reality.

—Hunderd Poem preface.

रहस्यानुभूति की स्थिति में पहुँचा हुआ साधक ब्रह्ममय हो जाता है। इसीलिए रहस्याभिव्यक्ति को द्रष्टा की भविष्यवाणी भी कहा जाता है। "प्रसाद" ने भी रहस्यवाद को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य-धारा कहकर यह बात ध्वनित की है। रहस्यवाद के सम्बन्ध में इतना कहकर अब हम उसके त्रिविध तत्वों के प्रकाश में दोनों महाकवियों की रहस्य-भावना पर विचार करते हैं—

आस्तिकता—रहस्यवाद का सम्बन्ध उस रहस्यमय परोक्ष सत्ता से होता है। तभी तो रूडाल्फ ने अपने "Mysticism of East & West" में आस्तिकता को रहस्य-भावना की आधार-भूमि कहा है। जायसी और कबीर दोनों ही कट्टर आस्तिक हैं। इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता। जायसी का "पद्मावत" ईश्वर वन्दना से प्रारम्भ हुआ है—

"सर्वप्रथम मैं उस आदि कर्ता का स्मरण करता हूँ, जिसने मुझे जीवन दिया है तथा समस्त संसार का निर्माण किया है।"[1]

कबीर की तो प्रत्येक बानी से आस्तिकता टपकती है, उसे सिद्ध करने की तो आवश्यकता नहीं है। यहाँ तक कि नास्तिकों का शून्य भी कबीर में आकर आस्तिक अद्वैतवादी गौडपादाचार्य के शून्य स्वरूप ब्रह्म में तथा ईश्वर-विश्वासी योगियों के ब्रह्म-रन्ध्र में परिणत हो गया है। इतना होते हुए भी दोनों की आस्तिकता में अन्तर है। जायसी की आस्तिकता विश्वास पर टिकी हुई है, कबीर की प्रत्यक्षानुभूति पर। वे स्पष्ट कहते हैं।

"मैंने ईश्वर का जो स्वरूप देखा है, उसका मैं वर्णन नहीं कर सकता और यदि मैं कुछ वर्णन करूँ भी तो उसका कोई विश्वास नहीं

---

१ सुमिरौं आदि एक करतारू, जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू।

—जायसीग्रंथा

कर सकता। ईश्वर की अनुभूति तो गूंगे की शर्करा के समान है। गूंगा उसका आस्वादन करके केवल अन्तरात्मा में ही प्रसन्न होता है।"[1]

जायसी बाशरा सूफी थे। उन्हें इस्लाम में कट्टर विश्वास था। इस्लाम में ईमान के अतिरिक्त प्रत्यक्षानुभूति के लिए कोई स्थान नहीं है। यही कारण है कि जायसी के रहस्यवाद में भावना और कल्पना की प्रधानता है, कबीर में वास्तविकता की।

उपास्य स्वरूप—अब थोड़ा सा दोनों कवियों के उपास्य स्वरूप का निरूपण कर लिया जाय। रहस्यवादी ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए अण्डरहिल ने कहा है—रहस्यवादी का ब्रह्म प्रेमयोग्य, प्राप्य, जीवित और व्यक्तिगत होता है।[2] अतः स्पष्ट है कि रहस्यवादी का ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों ही होगा। यहाँ यह स्पष्ट कर देना असंगत नहीं है कि रहस्यवादी की सगुणता भक्त की सगुणता से थोड़ी भिन्न होती है। रहस्यवादी का सगुण ब्रह्म भावना-विनिर्मित होता है। उसे हम रहस्यवादी के अन्तर्जगत का वह मूर्तिमान रूप मान सकते हैं जिसमें विश्व का कण-कण प्रकाशित है। भक्ति-मार्गी सगुणता केवल भक्त के हृदय में ही नहीं, सारे विश्व के बीच में प्रत्यक्ष प्रतिष्ठित रहती है। यही दोनों में अन्तर है। कबीर और जायसी दोनों के ही उपास्य रहस्यवादी सगुणता और निर्गुणता से विशिष्ट हैं। दोनों ही तत्व-रूप ब्रह्म में विश्वास करते हैं। दोनो ही के

---

१ देख्या है तो कस कहूँ, कहै तो को पतियाय।
गूंगे केरी शर्करा बैठे ही मुसिकाय॥

कबीर-ग्रंथावली

२ The obsolute of the mystic is loveable, attainable, live and personal.

Mysticism-E. under Hill

उपास्य पुरुष रूप हैं। दोनों में उपास्य-सम्बन्धी इतना साम्य होते हुए भी कुछ मौलिक अन्तर भी है। एक की भावना समष्टिमूलक और विश्व-व्यापिनी है तो दूसरे की व्यष्टिमूलक और एकान्तिक। एक का पुरुष योगियों के पुरुष के समान 'सुनि मण्डल वासी' है, दूसरे का दिव्य-सौन्दर्य और प्रेम विशिष्ट विराट्। कबीर की खोज एक योगी की खोज है। इसलिए इसमें यौगिक नीरसता है, वह कहते हैं—

"कोई ऐसा व्यक्ति नहीं मिलता जो ईश्वर की प्राप्ति का पूर्ण मार्ग बतला दे तथा शून्य मण्डल वासी पुरुष से प्रेम करना सिखला दे।"[1]

जायसी की भी खोज बिल्कुल ऐसी ही है, किन्तु उसमें सूफी सरसता तथा सुकुमारता, भाव-प्रवणता है—

"मैं उसके दर्शन करना चाहती हूँ, जिसने मुझे प्रेम मार्ग पर प्रवृत किया है।"[2]

उनकी इस प्रेम-साधना का उपास्य सौन्दर्यमय विराट पुरुष है। कवि ने पद्मावती के रूप में यही दिव्य सौन्दर्यमयी विराट् भावना प्रतिष्ठित की है—

"उसके नेत्र ही जलाशय में कमल रूप से प्रतिबिम्बित हो गए। उसके शरीर की निर्मलता ही जलाशय के जल की निर्मलता के रूप में दिखाई पड़ने लगी है। उसकी हँसी की धवलता ने सरोवर में हंसों की सृष्टि कर दी। सरोवर के नग-हीरे भी उसके दांतों का

---

१ कोई ऐसा न मिले सब विधि देय बताय।
सुनि मण्डल में पुरुष एक ताहि रहै त्यौ लाय॥

कबीर ग्रंथावली पृ० ६७

२ चाहौं ओहि कर दर्शन पावा, जो मोहि आनि प्रेम पथ लावा।

—जायसी ग्रंथावली

प्रतिविम्व मात्र थे।"[1]

उपास्य की दिव्य सौन्दर्यमयता ही रहस्यवाद का प्राण है। इसी रहस्यवादी सौन्दर्य को दृष्टि मे रखकर "हीगेल ने लिखा है— "सौन्दर्य आध्यात्मिकता का भावात्मक प्रकाशन है।"[2]

इसी बात को प्लेटो ने दूसरे ढंग से कहा है—"मैने सौन्दर्य को दिव्यता के साथ प्रकाशित होते देखा है।"[3] जायसी ने इसी आध्यात्मिक दिव्य-सौन्दर्य को देखा था। सारी सृष्टि इस सौन्दर्य से सुन्दर है—

"उस के चन्द्र-मुख पर मुस्कराहट की रेखा देख कर जल में कुमुद विकसित हो उठे। जिसने जिस भाव से उस पद्मावती के रूप को देखा, उसने उसके रूप को उसी प्रकार का पाया, मानो उसका मुख दर्पण हो गया हो, जिसमें सभी को अपना प्रतिविम्व दिखाई पड़ रहा हो। उसके नेत्र कमलों के रूप में प्रतिविम्वित हो गए, उसके शरीर की निर्मलता ही जल की निर्मलता वन गई, उस की हँसी ही हंस के रूप में अवस्थित हो गई, तथा उसके दांतों की ज्योति ही हीरे आदि रत्नों के रूप में भासमान होने लगी।"[4]

प्रकृति के पदार्थों की साधना का लक्ष्य भी उसी की प्राप्ति है।

---

१ नयन जो देखा कमल भा, निर्मल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर॥

जायसी ग्रंथावली

२ Beauty is the spritual making itself known sensuously— —Hegel

३ I saw her shining with the celestial.

—Plato.

४ विकसा कुमुद देखि ससि रेखा, भई तहं ओप जहां जोइ देखा।
पावा रूप-रूप जस चाहा, ससि मुख जनु दरपन होइ राहा॥

जायसी लिखते हैं—

"चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्र सभी उस परब्रह्म की साधना में संलग्न हैं। वे उसके विराट रूप से भयभीत होकर अन्तरिक्ष में घूम रहे हैं। पवन ने वहाँ पहुँचने की चेष्टा की, किन्तु वह प्रताड़ित होकर भूमि पर आ गिरा।"[1]

कहना न होगा कबीर इस क्षेत्र में जायसी से पिछड़ गये हैं। प्रथम तो वह इस दिव्य सौन्दर्य की भावात्मक अनुभूति ही नहीं कर सके हैं, जहाँ कहीं उन्होंने ऐसी चेष्टा भी की है, वह सैद्धान्तिक आग्रह के कारण उतनी मधुर नहीं हो पाई है। अधिकतर वह सौन्दर्य को प्रकाश रूप ही कह कर रह गए हैं—

"उस ईश्वर का तेज ऐसा प्रतीत होता है, मानो सूर्य की श्रेणी उदित हो गई हो। इस कौतुक को केवल वही आत्मा रूपी सुन्दरी देख सकती है जो परमात्मा रूपी प्रियतम के साथ जागरण करती है।"[2]

जहाँ कहीं उन्होंने सौन्दर्य-चित्रण करने का प्रयत्न भी किया है, वे प्रायः सिद्धान्त-प्रधान हो गए हैं—

"मेरे आराध्य ईश्वर के प्रेम का लाल वर्ण सर्वत्र छाया हुआ

नयन जो देखा कंवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर॥

—जायसी ग्रंथावली

१ चांद सुरुज औ नखत तराई, तेहि डर अंतरिख फिरै सवाई।
पवन जाई तहं पहुंचे चहा, मारा तैस लोटि भुई रहा।

—जायसी ग्रंथावली

२ कबीर तेज आनन्द का, मानो ऊगी सूरज सेणि।
पति संग जागी सुन्दरी, कौतुक दीठा तेणि।

—कबीर ग्रंथावली

दिखाई देता है। उसके दर्शन के लिए जानेवाली आत्मा स्वयं भी उसी रंग में रंगी हुई दिखाई देने लगती है।"[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी का उपास्य कबीर के उपास्य की अपेक्षा अधिक भावात्मक सरस, ग्राह्य, और व्यक्तित्व प्रधान है।

हम अभी संकेत कर चुके है कि रहस्य-भावना अनुभूति की वस्तु है। अतः अब विचारणीय है कि अनुभवकर्ता कौन है। इस सम्बन्ध में दोनों रहस्यवादियों में मतैक्य है। वह आत्मा को अनुभवकर्त्ता और अनुभूति-तत्व दोनों ही मानते है। केवल अन्तर इतना ही है कि कबीर की अनुभूति विचार प्रधान अधिक है और जायसी की भावना प्रधान। कबीर आत्मा से आत्मा के विचारने की बात कहते है—

"जब आत्मा अपने मे ही लीन होकर परमेश्वर के स्वरूप पर विचार *करती है तो उसे अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है*।"[3]

जायसी विचारणा के स्थान पर साक्षात्कार की चर्चा करते है—

"आप पिछानै आपै आप।"

अनुभवकर्ता और अनूभूत तत्व—अब प्रश्न यह है कि एक ही आत्मा अनुभवकर्ता और अनुभूत तत्व दोनों कैसे हो सकती है। इस सम्बन्ध में हमें उपनिषदो की शरण लेनी होगी। 'कठोपनिषद्' में प्राप्त और प्राप्तव्य भेद से एक ही आत्मा को 'छाया तपौ' के समान दो रूप माने है—उसमें लिखा है 'ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं कि शरीर

---

१ लाली मेरे लाल की, जित देखो तित लाल।
लाली देखन मं गई, मं भी हो गई लाल॥

—कबीर वचनावली

२ आपै आप विचारिया, तब केत होत अनन्द रे।

—कबीर ग्रंथावली

में बुद्धि रूप गुहा के भीतर प्रकृष्ट ब्रह्म स्थान में प्रविष्ट हुए अपने कर्म फल को भोगने वाले छाया और आतप समान विलक्षण दो तत्व हैं। यही बात पञ्चाग्नि की उपासना करने वाले तथा तीन बार नचिकेता अग्नि का चयन करने वाले साधक भी कहते हैं।"[1]

अन्य श्रुति-ग्रन्थों में यह बात दो पक्षियों के रूपक से प्रकट की गई है। आधुनिक दार्शनिक सिद्धान्त सत्य की अनुभूति सत्य से ही हो सकती है, इसके मेल में है। अतः स्पष्ट है कि साधक की जीवात्मा अनुभवकर्ता होती है, और उसकी शुद्ध-बुद्ध-मुक्त नित्य रूप आत्मा अनुभूत तत्व। आत्मा रहस्यमय एवं आनन्द रूप है। इसलिए अनुभूति भी रहस्यमय और आनन्द मय होती है। अनुभवकर्ता जीवात्मा सब साधकों की एक-सी नहीं हो सकती, इसलिए सबकी रहस्यानुभूति भी समान नहीं होती। इसी बात को प्रकट करने के लिए जलालुद्दीन रूमी, कबीर और जायसी तीनों रहस्यवादियों ने अन्धे के द्वारा टटोले जाते हुए हाथी के रूपक की कल्पना की है। साधक की जीवात्मा ज्यों-ज्यों साधना के पथ पर अग्रसर होती है, त्यों-त्यों उनका विकास होता है। रहस्यमयी सौन्दर्यानुभूति उतनी ही तीव्रतर होती जाती है। इस विकास-दशा की प्राप्ति दोनों कवियों में थोड़ा भिन्न रूप से होती है। कबीर योगी होने के कारण क्रियासाध्यता में अधिक विश्वास करते हैं—

"कुछ प्रयास, कुछ कर्मफल और कुछ पूर्व- जन्मकृत संस्कारों के परिणाम स्वरूप कबीर ने ईश्वर का साक्षात्कार कर उसे अपना

---

१ ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके, गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति, पंचाग्न्यो ये च त्रिणाचिकेतः।
—कठोपनिषद् १/३/१

बना लिया।"[1]

जायसी के अध्ययन से प्रतीत होता है कि उन्हें कृपासाध्यता में अधिक आस्था थी। "न जनौं कौन पौन लेई आवा" कह कर उन्होंने यही बात ध्वनित की है।

रहस्यवाद के दो भेदों की आलोचना—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने दो प्रकार का रहस्यवाद माना है—साधनात्मक और भावनात्मक। उन्होंने कबीर को प्रथम कोटि में रखा है और जायसी को दूसरी कोटि में। उनका यह भेदीकरण मुझे अधिक तर्कसंगत नहीं मालूम पड़ता। रहस्यानुभूति की दो प्रतिक्रियाएं होती हैं। एक के सहारे साधक समस्त विश्व के प्रति एकात्मकता का अनुभव करता है और दूसरी से उसे आत्मानुभूति होती है। पहली क्रिया बाह्यात्मक कही जा सकती है और दूसरी आन्तरिक। मैं इन्हीं प्रक्रियाओं की विशेषता के आधार पर समस्त रहस्यवादियों को दो कोटियों में बांटना पसन्द करूंगा—समष्टिमूलक अनुभूति-प्रधान और व्यष्टिमूलक अनुभूति-प्रधान। समष्टिमूलक अनुभूतियों में प्रायः व्यष्टि में समष्टि का आरोप होता है। यह आरोप भावना-प्रधान, साधना-प्रधान तथा बुद्धि-प्रधान—तीन प्रकार का हो सकता है। जायसी में भावना-प्रधान आरोप मिलते हैं। उपनिषदों में आरोप बुद्धिमूलक हैं। योगियों में यह आरोप साधना-क्षेत्र में दिखलाई पड़ता है। कबीर की "जो पिण्डे सो ब्रह्माण्डे जान" वाली उक्ति इस बात को स्पष्ट करती है। व्यष्टिमूलक अनुभूतियां अधिकतर भक्ति और योग-क्षेत्र में पाई जाती हैं। इस दृष्टि से जायसी प्रथम प्रकार के और कबीर दूसरे प्रकार के रहस्यवादी ठहरते हैं।

---

१ कुछ करनी कुछ करमगति, कुछ पूरबला लेख।
देखो भाव कबीर का दोसत किया अलेख॥
—कबीर ग्रंथावली

प्रेम-तत्व—अभी हम इस रहस्यवाद को आत्मा की परमात्मा के प्रति अनुभव की हुई भावात्मक ऐक्यानुभूति के इतिहास का प्रकाशन कह चुके हैं। संस्कृत में भाव का अर्थ प्रेम भी होता है। कालिदास ने 'कुमार-सम्भव' में 'न वेत्सि भावस्थम् जनम्' कह कर इसका इसी अर्थ में प्रयोग किया है। भावात्मकता रहस्यवाद का प्रधान तत्व है। कबीर और जायसी दोनों ने इसे महत्व दिया है। कबीर ने साधना मे इसके अत्यधिक महत्व को प्रकट करने के लिए इसे काम के नाम से अभिहित किया है—

"काम मिलावै राम सूं जो कोई जानै राख।"

जायसी इस दिशा में मंसूर हल्लाज के अनुयायी हैं—

"प्रेम रूपी पर्वत बड़ा विशाल है। इस पर वही चढ़ सकता है जो सिर के बल चल सकता है। अर्थात् कठिन साधना के बल पर ही साधक प्रेम-मार्ग में विजयी हो सकता है।"[1]

कबीर नारदी भक्ति में विश्वास करते थे—

"हृदय मे जब तक नारदी भक्ति नहीं उत्पन्न होती, तब तक शरीर को विविध हठयौगिक साधना करके सताना व्यर्थ है।"[2]

नारद ने भक्ति में प्रेम को विशेष महत्व दिया है। भक्ति की परिभाषा देते हुए उन्होंने लिखा है—"सात्वस्मिन परम प्रेमरूपा" अर्थात् भक्ति ईश्वर के प्रति की हुई अनन्य प्रेमासक्ति है। कबीर की इस नारदी भक्ति का प्रभाव उनके प्रेम-तत्व पर पड़ा है। वे स्पष्ट कहते हैं—

---

१ प्रेम पहार कठिन विधि गाढा, सो पै चढै जो सिर सौं चढा।
पंथ सूरि का उठा अंकूरू, चोर चढै कि चढै मंसूरू।
—जायसी ग्रंथावली

२ भगति नारदी हिदै न आई, काछि कूछि तन दीना।
—कबीर ग्रंथावली

"यह आत्मा प्रेम-भक्ति के बने हिंडोले में झूलने पर ही दिव्य आनन्द का अनुभव करता है।"[1]

उनका यह भक्तिमूलक प्रेम सूफियों के प्रेमासव से भी सराबोर है—

"हरि-रस का पान करने के पश्चात साधक सदैव उसी आनन्द में विभोर रहता है।"[2]

जायसी का प्रेम-तत्व सर्वथा सूफी है। उसमें सूफी मादकता, कोमलता, भाव-प्रवणता सभी कुछ विद्यमान है—पद्मावत में रत्नसेन पद्मावती को सम्बोधित करके कहता है—

"प्रेम-रूपी सुरा का पान करने के पश्चात हृदय में मृत्यु और जीवन का भय नहीं रहता। जिसने उसका पान कर लिया है, उसके लिए फिर यह संसार महत्व हीन है, वह तो संसार को सर्वथा त्याज्य समझ लेता है और ईश्वर के प्रेम में विभोर होकर आनन्द निमग्न रहता है, उस रस का पान करते-करते कभी तृप्ति नहीं होती।"[3]

वह अत्यन्त पवित्र भी है। उसी को संकेतित करके जायसी ने लिखा है—"परिमल प्रेम न आछै छपा"। शाश्वतता और दिव्यता उसकी अन्य विशेषताएं हैं—

"हे राजन! तुम प्रेम का नाम सुन कर उन्मत्त न बनो।

---

१ प्रेम भगति हिंडोलना जहं झूलै आतमराम।

—कबीर ग्रंथावली

२ हरि रस पिया जानिए जो कबहुं न जाय खुमार।

—कबीर ग्रंथावली

३ सुनि धनि प्रेम सुरा के पिए, मरन जियन डर रहै न हिएं।
जेहि मद तेहिं कहां संसारा, को सो घूमि रह कि मतवारा।
सो पै जान पिए जो कोई, पी न अघाय जान-पर सोई।

—जायसी ग्रन्थावली

प्रेम-मार्ग अत्यन्त कठिन है। इसमे सफलता तो सिर की भेंट चढ़ाने पर ही मिलती है। प्रेम-पाश में जो पड़ जाता है, वह फिर छूट नही सकता। प्राण भले ही चले जाये किन्तु यह प्रेम-पाश नही टूटता।"[1]

विरह इस प्रेम का सौन्दर्य है। दोनों मे अन्योन्याश्रय भाव माना जाता है। तभी तो जायसी ने लिखा है—

"प्रेम की वेल के साथ अपार विरह भी रहता है।"[2]

इनके इसी विरह विशिष्ट विराट् प्रेम से सारी सृष्टि भयभीत है—

"प्रेम की अग्नि की भयङ्करता से ही यह समस्त पृथ्वी और आकाश भयभीत हैं। जिस साधक के हृदय मे यह समा जाती है, उस साधक को और उसके हृदय को धन्य है।[3]

गुरु—जायसी और कबीर के प्रेम भाव में एक और अन्तर है। जायसी का प्रेम रूप-लिप्सा-जनित है और कबीर का संस्कार मूलक। जायसी के रत्नसेन पद्मावती रूपी विराट ब्रह्म के दिव्य सौन्दर्य का सुए रूपी गुरु से वर्णन सुन कर विह्वल हो जाते है—

"पद्मावती के रूप का वर्णन सुनते ही राजा मूर्छित

---

१ प्रेम सुनत मन भूल न राजा। कठिन प्रेम सिर देइ तो छाजा॥
प्रेम फांद जो परा न छूटा। जिउ जाइ पै फांद न टूटा॥
जायसी ग्रन्थावली

२ प्रीति बेलि सग है विरह अपारा।
—जायसी ग्रंथावली

३ मुहमद चिनगी प्रेम की सुनि महि गगन डराय।
धनि विरही औ धनि हिया जहं अस अगिनि समाय॥
—जायसी ग्रन्थावली

हो ऐसा प्रतीत होने लगा मानो कि सूय में लहर आ गई हो।"[1]

कबीर में इस प्रकार की रूप-लिप्सा का एक प्रकार से अभाव है। उनका प्रेम-भाव 'कुछ करनी कुछ करम गति, कुछ पूरबला लेख' का परिणाम है। यह प्रेम-तत्व जायसी और कबीर दोनों को अपने गुरु से प्राप्त होता है। एक को प्रेम के रूप में, और दूसरे को विरह-तत्व के रूप में। कबीर कहते हैं—"गुरु ने प्रेम का अंक पढाय दिया रे।"—इसी को जायसी ने दूसरे ढंग से कहा है—

"गुरु शिष्य को दिव्य विरह की चिनगारी दे देता है। जो सच्चा शिष्य है, वह उस चिनगारी से अग्नि प्रज्वलित कर लेता है।"[2]

रहस्यवाद की अवस्थाएं—इस प्रेममूलक रहस्यानुभूति के कई स्तर और सोपान हो सकते हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर आंग्ल महिला 'अण्डरहिल' ने रहस्य साधना और अनुभूति की पांच अवस्थाएं मानी हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

१ आत्मा की जाग्रतावस्था (Awakening of the self for absolute) यह ब्रह्म-जिज्ञासा की स्थिति है। इसी स्थिति को प्राप्त करके साधक ईश्वरानुभूति के लिए तड़प उठता है। वेदान्त में इसे आत्म-अनात्म-विवेक कहते हैं। इस स्थिति की अन्तिम अवस्था में साधक ज्ञान और वैराग्य की ओर उन्मुख होने लगता है।

---

१ सुनतहि राजा गा मुरझाई। मानौ लहर सुरिज कै आई॥

वही

२ गुरु विरह चिनगी जो मेला। जो सुलगाइ लेइ सो चेला॥

वही

२ आत्मा के परिष्करण की स्थिति (Purification of the self) इसे हम रहस्यवाद का साधना-पक्ष कह सकते हैं। इसी स्थिति में आकर रहस्यवादी विविध प्रकार की साधनाओं में संलग्न होता है।

३ आत्मा की आंशिक अनुभूति की स्थिति—(Illumination of the self) इस स्थिति में पहुँच कर साधक विविध प्रकार की ध्वनियां सुनता है और विचित्र प्रकार के दृश्य देखने लगता है।

४ रहस्यानुभूति के विघ्नों की अवस्था—(The dark night of the soul)—इस स्थिति में पहुंच कर साधक की आंशिक ईश्वरानुभूति में बहुत सी बाधाएं उत्पन्न होने लगती हैं। साधक को इनसे युद्ध करना पड़ता है।

५ तादात्म्य की स्थिति (Unity of the soul)—यह आत्मा और परमात्मा के भावात्मक साक्षात्कार की स्थिति है।

जाग्रतावस्था—जहाँ तक प्रथम स्थिति का संबंध है, वह कबीर और जायसी मे समान रूप से पाई जाती है। दोनों में तीव्र प्रियतम जिज्ञासा है। दोनो में ही मिलन के लिए एक विचित्र तड़पन है। इसी तड़पन के फलस्वरूप एक ज्ञानोन्मुख हो उठता है, और दूसरा वैराग्य का मार्ग ग्रहण करता है। जायसी ने रत्नसेन रूपी साधक को सौन्दर्य-भावना से विभोर चित्रित किया है। क्षण-भर के लिये वह दिव्य-सौन्दर्य मे तन्मय हो जाता है। उस तन्मयता की स्थिति से जगने पर उसे सारा संसार नीरस और शून्य दिखलाई पड़ने लगता है। उसमे तीव्र विराग भाव जाग उठता है—

"जब भा चेत उठा वैरागा, बाउर जनौ सोइ उठ जागा।"

कबीर में जायसी के इस विराग भाव को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया गया है। वह वैराग्य को ज्ञान-प्राप्ति का एक

साधन-मात्र मानते हैं, साध्य नहीं। उन्होंने स्पष्ट घोषित किया है—

"कबीर जाग्याही चहिये क्या घर क्या वैराग।"

आत्म-परिष्करण—दूसरी स्थिति आत्म-परिष्करण की है। ज्ञान और वैराग्य के उदय के पश्चात् साधक एक ओर तो विरह से व्यथित होने लगता है और दूसरी ओर उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्नवान भी। जहाँ तक विरह का सम्बन्ध है, कबीर और जायसी दोनों ही ने उसे विशेष महत्व दिया है। दोनों में ही वह एक अध्यात्म तत्व के रूप में निरूपित किया गया है किन्तु उसकी प्रेरणाएँ थोड़ी भिन्न-भिन्न हैं। जायसी पर सूफियों का प्रभाव था, किन्तु कबीर सूफी मत और भक्ति-मार्ग—दोनों से प्रभावित थे। भक्ति-क्षेत्र में नारद ने अपने भक्ति-सूत्र में ११ आसक्तियों में विरहासक्ति को भी विशेष महत्व दिया है। कबीर की विरह-साधना भक्तों और सूफियों दोनों से प्रभावित है। कभी तो वह भक्तों के समान कहते हैं—"जिनसे गोविन्द पृथक् हो जाते हैं, उनकी दशा का वर्णन कौन कर सकता है?"[1] और कभी सूफियों की भाव-प्रवणता लेकर वे लिखते हैं—

"हमारे नेत्र हरि के प्रेम में रोते-रोते अरुण हो गए हैं किन्तु लोग समझते हैं कि वे दुख रहे हैं।"[2]

जायसी की विरह-भावना कबीर की अपेक्षा अधिक सरस, कोमल, भावमय और व्यापक है। वह उनके समान व्यष्टिमूलक और एकान्तिक न होकर समष्टिमूलक एवं विश्व-व्यापिनी है। जायसी की इस विरह-

---

१ जिन पै गोविन्द बीछुड़े तिनको कौन हवाल।

—कबीर ग्रन्थावली

२ आंखड़ियां प्रेम कसाइयां लोग जाने दुखड़ियां।
साईं अपने कारणे रोइ रोइ रातड़ियां॥

—कबीर ग्रन्थावली

व्यथा से सारा विश्व विधुर और व्यथित है, प्रकृति के सारे पदार्थ इस व्यथा से विह्वल होकर उस तक पहुँचने की चेष्टा करते हैं—

"चन्द्रमा, सूर्य और अन्य नक्षत्र उसी विराट् के भय के कारण अन्तरिक्ष में घूमते फिरते हैं। वायु ने वहाँ पहुँचने की चेष्टा की तो वह इस प्रकार प्रताड़ित हुआ कि वह आकर भूमि पर गिर पड़ा। आदि।"[1]

कबीर और जायसी में विस्तृत साधनों का भी संकेत मिलता है। जायसी सूफी थे। उनमे हमें सूफी साधना के तत्व प्रतिध्वनित मिलते हैं। सूफी साधना में साधक रूपी सालिक को चार पडाव और सात मुकाम से होकर गुजरना पडता है—शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत—यह चार पडाव हैं।" सात मुकामात नैतिक आचरण के सात तत्व कहे जा सकते हैं। 'किताब उल उल्मा' से उद्धृत करके प्रो० निकलसन ने उन अवस्थाओ के नाम क्रमश: पश्चाताप, वैराग्य, त्याग, दीनता, धैर्य, ईश्वर-विश्वास और सन्तोप दिए हैं। इस नैतिक परिष्करण के पश्चात् सूफी हाल की स्थिति को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। हाल की स्थिति को हम भावातिरेकता की चरम सीमा मान सकते हैं। यही ईश्वर-प्राप्ति का सरलतम मार्ग है। निकलसन ने लिखा है—

भावातिरेकता ही एक ऐसी स्थिति है जिसके सहारे आत्मा सरलता से परमात्मा के साथ ऐक्य स्थापित कर सकती है।"[2]

---

१ चांद सुरज औ नखत तराई। तेहि डर अंतरिख फिरहि सवाई॥
पवन जाहि तहं पहुँचे चहा। मारा तैस लोट भुई रहा॥
—कबीर ग्रन्थावली

२ Ecstacy is the only means, by which soul can directly communicate."
—Studies in Islamic Mysticism by Nicholson

रहस्यवादी साधना का प्राण यही भावातिरेकता की स्थिति है। जायसी और कबीर दोनों ही इस भावातिरेकता की स्थिति के महत्व को स्वीकार करते हैं। जायसी उसकी प्राप्ति 'चार बसेरे सो चढै सत सो उतरे पार' कह कर सूफी साधना द्वारा ध्वनित करते हैं। कबीर ज्ञान, वैराग्य, और योग मे विश्वास करते थे। उनकी ज्ञान-प्रियता कभी-कभी सिद्धान्त-वाक्यों के रूप में प्रस्फुटित हो निकली है। जैसे—

"इस संसार में जीवात्मा की स्थिति ठीक इस प्रकार है, जिस प्रकार किसी जलाशय मे डूबे हुए कुम्भ की होती है। उस कुम्भ के बाहर और भीतर—दोनो ही ओर जल होता है। केवल कुम्भ का आवरण मात्र ही उस कुम्भ के बाहरी और भीतरी जल को पृथक बना देता है। ठीक इसी प्रकार आत्मा और परमात्मा एक ही तत्व हैं। यह शारीरिक भ्रम ही दोनों को पृथक कर देता है। मृत्यु के पश्चात आत्मा उसी प्रकार परमात्मा मे लीन हो जाती है, जिस प्रकार कुम्भ के फूटने के पश्चात उसके बाहर और भीतर दोनों ओर अवस्थित जल एक रूप हो जाते हैं। ज्ञानियो का यही विचार है।"[1]

कभी-कभी वे साधना पक्ष में शुष्क हठयोग की चर्चा भी करने लगते हैं—

"साधक को पहले अपने मन को परिष्कृत कर उसे पर-ब्रह्म मे लीन करना चाहिए। उसके लिए उसे धोती, नेती और बसती क्रियायें करनी चाहिए। उसके पश्चात् पद्मासन लगा कर परम युक्तिपूर्वक प्रयोग साधना आरम्भ करनी चाहिए। पहले मूलाधार की साधना करनी चाहिए। फिर

---

१ जल में कुम्भ-कुम्भ मे जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तथ कथ्यों गियानी॥
कबीर ग्रन्थावली

आगे की साधना सफल होती है ।"[1]

इतना सब होते हुए भी कबीर की भावना अधिकतर प्रेम और माधुर्य का आश्रय लेकर चली है । उनका राम-रस ही प्रेम-रस है । उसी में वह मग्न रहते हैं, वे लिखते हैं—

"मेरी आत्मा उस पर-ब्रह्म के रस का आस्वादन कर सदा उसमें निमग्न रहती है ।"[2]

ध्यान देने की बात है कि ऐसे स्थलो पर भी वे अपनी विचारात्मकता से पिण्ड नही छुडा सके हैं । दोनों रहस्यवादियों के साधना सम्बन्धी इसी भेद को लक्ष्य करके श्यामसुन्दर दास जी ने कबीर के रहस्यवाद को दार्शनिक और जायसी के रहस्यवाद को भाव प्रधान कहा है । आचार्य शुक्ल ने भी रहस्यवाद के आध्यात्मिक और भावात्मक भेद इसी आधार पर किए जान पड़ते हैं ।

आंशिक अनुभूति—विरह-व्यथित साधक इस प्रकार साधना करते हुए प्रियतम की आंशिक अनुभूति में समर्थ होने लगता है । यह रहस्यवाद की तीसरी स्थिति है । जायसी और कबीर दोनों मे इस अवस्था के वर्णन मिलते है । कबीर ईश्वर की यह आंशिक अनुभूति करके हर्ष से नाच उठते है—

"जानी जानी रे राजा राम की कहानी ।"

जायसी मे इस स्थिति का वर्णन सूफी सुकुमारता के साथ किया गया है—

"जिस प्रकार बालक इस संसार मे आते समय रोता है, उसी

---

१ धोती नेती बसती लाओ ।
आसन पदम जुगति करवाओ, पहिले मूल सुधार कार्य हो सारा ।।
कबीर ग्रन्थावली

२ छाक परयो आतम मतवारा, पीवत रामरस करत विचारा ।।
कबीर ग्रंथावली

प्रकार साधक को जब उस परम तत्व की आंशिक अनुभूति हो जाती है, तो वह उस अवस्था के पश्चात अपने ज्ञान को खोया हुआ अनुभव करने लगता है और रोने लगता है। वह सोचने लगता है कि मैं तो वहाँ स्वर्गलोक में था, अब मैं पुनः इस मृत्यु-लोक में कहाँ आ पड़ा हूँ।"[1]

रहस्यानुभूति की इसी स्थिति में पहुँचे हुए साधकों में उस प्रियतम के लोक की मधुमयी कल्पना विचित्र रूपों में मिलती है। जायसी और कबीर दोनों ने ही लगभग समान शब्दों में उस लोक का भावात्मक संकेत किया है। जायसी कहते हैं—

"जहाँ न रात्रि है, न दिवस है और न वायु है, न जल। उस वन में जीवात्मा रूपी शुक जा बसा है। अब उससे कौन मिला सकता है?"[2]

कबीर इस बात को इस प्रकार कहते हैं—

"उस अवस्था में पहुँचने के पश्चात साधक को जरा-मरण आदि सांसारिक व्याधियाँ व्याप्त नहीं होती। वहाँ पर पहुँचने के पश्चात कोई मरता हुआ नही सुना जाता। अब हम उस देश में जायेंगे जहाँ पर विधाता-स्वयं ही वैद्य है।"[3]

---

१ आवत जग बालक जस रोवा, उठा रोई हा ज्ञान जो खोवा।
हौं तो अहा अमर पुर अहा, इहां मरनपुर आएउ कहां।
—जायसी ग्रंथावली

२ जहां न राति न दिवस है जहां न पौन न पानि।
तेहि वन सुअटा चल बसा कौन मिलावै आनि॥
—जायसी ग्रंथावली

३ जरा मरण व्यापै नहीं, मुवा न सुनिए कोय।
चलि कबीर तेहि देसिड़े, जहं वैद विधाता होय॥
—कबीर वचनावली

जायसी की अपेक्षा कबीर में हम इस मधुमयी कल्पना की अभिव्यक्ति अधिक सुन्दर रूप मे पाते है। एक स्थल पर वे कहते हैं—

"यह संसार रूपी नैहर हमें अच्छा नही लगता ; प्रियतम रूपी ईश्वर का घर हमे अत्यधिक भाता है। वहाँ न कोई आता है और न कोई वहाँ से जाता है। वहाँ पहुँच कर जीवात्मा को आवागमन से मुक्ति मिल जाती है।"[1]

'अण्डरहिल' ने इसी आंशिक अनुभूति की स्थिति में विविध ध्वनियों के श्रवण और आंशिक दृश्यो के दर्शन की चर्चा की है। भारतीय उपनिषदों मे आंशिक अनुभूतिमूलक, अनेक विचित्र ध्वनियो और दृष्यों के वर्णन मिलते हैं। जायसी और कबीर दोनों ही भारत के रहस्यवादी थे। अतएव प्राथमिक अनुभूति की इन विचित्र ध्वनियो और दृष्यों के संकेत दोनों मे मिलते है। किन्तु कबीर में जायसी की अपेक्षा इनकी अधिकता है। इसके दो कारण हो सकते हैं। प्रथम तो यह है कि कबीर पर उपनिषदों का प्रभाव अधिक पड़ा था। अतः सम्भव है कि इसका उन पर कोई मनोवैज्ञानिक प्रभाव हो। दूसरा कारण यह था कि कबीर की साधना व्यष्टिमूलक और यौगिक थी। इस कोटि की अनुभूतियाँ व्यष्टि-साधना के मार्ग मे ही सम्भव होती है, जायसी मे भी जहाँ कही हठयौगिक व्यष्टिमूलक वर्णन मिलते हैं। वहाँ इस प्रकार की अनुभूतियाँ भी व्यक्त की गई हैं—

"दसवां द्वार ताल के वृक्ष के समान ऊंचा है। जो साधक अपनी

---

१ नहरवा हमको नहिं भावै, जह कोई आवै न जावै।
साँई की नगरी परम अति सुन्दर।

—कबीर के रहस्यवाद से उद्धृत

दृष्टि को अन्तर्मुखी बना लेता है, वही उसे देख सकता है।"[1]

और भी देखिए—

"नौ ड्योढ़ियों रूपी चक्रो को पार करने के पश्चात ब्रह्म-रन्ध्र आता है। उस पर राजकीय घड़ियाल अर्थात् 'अनहद् ढोल' सदा बजा करता है।"[2]

किन्तु ऐसे स्थल कबीर की अपेक्षा जायसी मे बहुत कम हैं। कबीर की सारी रचनाएँ इस प्रकार की अनुभूतियों से भरी पड़ी है। कहीं तो वह कहते हैं—"कमल जो फूले जलह बिनु" कही पर प्रेम के विचित्र हिडोले का वर्णन करते है, कही पर 'गगन गरज अमृत चुवँ" की चर्चा करते हैं।

विघ्न की स्थिति—इस प्रकार की यह आंशिक रहस्यानुभूतियाँ अधिक देर नही टिकने पाती। इन अनुभूतियों के मार्ग में अनेक विघ्न आने लगते हैं। यह साधक की परीक्षा का अवसर होता है। इसलिए इस स्थिति को अण्डरहिल—ने कहा है।

इसी स्थिति के अनुसार उन तमाम विकारों के वर्णन आते हैं, जो ईश्वरानुभूति में बाधक होते हैं। यद्यपि जायसी ने भी इन विकारों का संकेत किया है, किन्तु कबीर ने इमसे सबंधित वर्णनों की भरमार की है। जायसी सूफी थे और कबीर भारतीय मायावादी। सूफी लोग शैतान को साधना में बाधक के रूप में मानते हैं। सूफियों के शैतान की यह कल्पना जायमी को मान्य थी। राघव चेतन को उन्होंने शैतान के रूप में ही कल्पित किया है। अन्योक्ति बाँधते समय उन्होंने कहा भी है—"राघव दूत सोई शैतानू।" कबीर ने सूफियों की

---

१ दसम दुआर ताल के लेखा, उलटि दिस्टि लावा सो देखा ॥
—जायसी ग्रन्थावली

२ नव पौरी पर दसम दुआरा तेहि पर बाज राज घरियारा ॥
वही

इस कल्पना को नहीं अपनाया है। वे वेदान्त के मायावाद से प्रभावित हैं। माया का परिवार बहुत लम्बा-चौड़ा है। कबीर ने इसका जगह-जगह पर उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने माया का वर्णन रूपकों के सहारे भी किया है। ऐसे स्थानो पर मायामूलक रहस्य-भावना मधुर हो उठी है। माया रूपी डायन का वर्णन देखिए कितना भावात्मक और दार्शनिक है—

"मेरे मन मे एक माया रूपी डायन निवास करती है। वह नित्य ही उठ कर मेरे हृदय को दु:ख दिया करती हे। उस डायन के पांच पुत्र—काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ हैं। यह नित्य ही मुझ से नृत्य कराया करते हैं।"[1]

यही डायन माया रहस्यानुभूति में बाधक रूप है—

"यह दुर्बुद्धिनी काले मुख वाली माया रूपी डायन राम का नाम मुँह से उच्चरित नही होने देती।"[2]

मिलन की अवस्था—सच्चा साधक माया के इन तमाम विकारों पर शीघ्र विजय प्राप्त कर लेता है। इसी के पश्चात् उसका प्रियतम से साक्षात्कार होता है। इसी साक्षात्कार की स्थिति को अण्डरहिल ने तादात्म्य की स्थिति नामक रहस्यवाद की पाँचवीं अवस्था कहा है। सूफियो की हाल की दशा भावात्मक मिलन की ही दशा है। इसके सूफियो ने दो पक्ष माने हैं—१ फना अर्थात् अपनी जगह की प्रतीति से परे हो जाना। २ फकद अर्थात् अहं भाव का नाश होना। इसी प्रकार प्राप्ति पक्ष की भी तीन अवस्थाएँ मानी

---

१ एक डायन मेरे मन बसै। नित उठ मेरे जिय को डसै।
ता डायन के लरिका पांच रे।-नित उठ मोहि नचावहि नाच रे॥

कबीर ग्रन्थावली

२ मुख कडियाली कुमति की कहन न देई राम।

कबीर ग्रन्थावली

गई हैं। वे क्रमशः वका—परमात्मा में स्थिति, वज्द—परमात्मा की प्राप्ति, और शह्व—पूर्ण शान्ति की स्थिति है। कहना न होगा कि 'हाल' की पाँचों अवस्थाएँ मिलन की ही विविध स्थितियाँ और अनुभूतियाँ हैं। कवीर और जायसी दोनों में मिलन पक्ष के सुन्दर रहस्यात्मक चित्रण मिलते हैं। कहीं-कहीं दोनों के भाव-चित्रण में बड़ा साम्य दिखाई पड़ता है। मिलन के पूर्व मधुमयी अनुभूतियों का वर्णन दोनों ही समान भावना से प्रारम्भ करते हैं। किन्तु कवीर की भावना आगे चल कर अधिक आध्यात्मिक हो जाती है—

"यह आत्मा रूपी वाला अपने परमात्मा रूप प्रियतम से मिलने से पूर्व थर-थर काँपती है। वह सोचती है कि न जाने पति क्या करेंगे। अज्ञान की रात्रि व्यतीत हो गई। ज्ञान का प्रकाश उदित हो रहा है, जिसमें प्रियतम से मिलन होना है। किन्तु ऐसा न हो कि वह लाजवश अपने प्रियतम से न मिल सके। तमोगुण की कालिमा दूर हो गई है और सतोगुण का प्रकाश छा गया है।[1]

इसके विपरीत जायसी इस भावना को इतना सरस बना देते हैं कि उसमें लौकिकता का आभास होने लगता है। उनकी उक्ति देखिए—

"जीवात्मा रूपी प्रियतमा ने अपने पति को कभी नहीं देखा। इस कारण वह सोचती है कि जिस समय वह परमात्मा रूपी प्रियतम मेरी वांह आकर पकड़ेंगे, उस समय मैं क्या कहूँगी। मेरी बाल्या-वस्था व्यतीत हो चुकी है किन्तु मैंने प्रेम को नहीं पहचाना है।

---

१ थर थर कम्पै वाला जीव, न जानै क्या करसी पीव।
रैनि गई मत दिन भी जाय, भंवर गए बग वैठे आय॥

जायसी ग्रंथावली

युवावस्था में यौवन के मद में मैं उन्मत्त रही। मैंने यौवन के गर्व के कारण प्रेम के रहस्य को बिल्कुल नहीं समझा, मैं नहीं जानती कि प्रेम का स्वरूप सफेद है अथवा काला।"[1]

इसके पश्चात् प्रत्यक्ष साक्षात्कार की स्थिति आती है। दोनों कवियों ने इस स्थिति के रमणीय चित्र प्रस्तुत किये हैं, किन्तु दोनों के चित्रों मे अन्तर है। एक के चित्र सूफी इब्नेसिना के सौन्दर्यवाद और सहूदिया वर्ग के सूफियों के प्रतिबिम्बवाद से अनुप्राणित हैं। दूसरे की भावना पर भारतीय भक्ति-मार्ग और उपनिषदों का प्रभाव है। जायसी के साक्षात्कार की स्थिति के चित्रों में एक विचित्र रमणीयता है और एक अनिर्वचनीय आनन्द भरा हुआ है—

"मानसरोवर के सुन्दर स्वरूप को देख कर उनके हृदय का आनन्द कमलों के रूप में विकसित हो गया। अज्ञान रूपी अन्धकार से पूर्ण रात्रि व्यतीत हो गई तथा प्रातः कालीन सूर्य की किरणें विकसित हो गईं। समस्त साथी 'अस्ति-अस्ति' कह कर चिल्लाने लगे। जो अज्ञान थे, उनके नेत्र विकसित हो उठे।"[2]

साक्षात्कार का दूसरा चित्र इससे भी अधिक मनोरम है—

"मानसरोवर रूपी साधक पद्मावती रूपी ब्रह्म को पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और कहने लगा कि मैंने अपना मनवांछित फल पा

---

१ अनचिह्न पिउ कांपै मन मांहा, का मै करब गहब जो बांह।
बारि बैस गई प्रीति न जानी, जुवा भई मैमंत भुलानी॥
जोबन गरब न मैं किछु चेता, नेह जानों साम कि सेता॥

जायसी ग्रन्थावली

२ देखि मानसर रूप सुहावा, हिय हुलास पुरइन होई छावा।
गा अंधियार रैनि मसि छूटी, भा भिनसार किरन रवि फूटी।
अस्ति अस्ति सब साथी बोले, अन्ध जो अहे नैन विधि खोले॥

जायसी ग्रन्थावली

लिया है। पद्मावती पारस पत्थर के रूप में यहाँ आई। उसके चरणों का स्पर्श कर के मानसरोवर का जल निर्मल हो गया तथा उसके स्वरूप का दर्शन करके मानसरोवर शोभा से पूर्ण हो गया। उसके शरीर की सुगन्ध ही मलयानिल के रूप में उस मानसरोवर में निवसित हो गई जिसके कारण समस्त ताप शान्त हो गये तथा उसका जल शीतल हो गया। न जाने किस प्रकार उसे यह अवसर प्राप्त हुआ जिसके कारण वह पूर्ण पुण्यमय हो गया, उसके समस्त पाप नष्ट हो गए। उसी समय पद्मावती का हार जल के ऊपर तैरने लगा। सखियो ने जब उसे पा लिया तब पद्मावती का मुख-चन्द्र विकसित हो उठा। उसके मुख पर शशि की रेखा को देख कर सरोवर मे कुमुद विकसित हो उठे तथा जिस ओर भी उसने दृष्टि डाली वही कान्ति छा गई। उसके नेत्र ही कमल के रूप मे जल में छा गए तथा उसके शरीर की निर्मलता ही जल में निवसित हुई। उसकी हँसी ही हंस के रूप मे वहाँ विद्यमान हुई तथा उसके दाँतों की कान्ति ही वहाँ हीरे आदि रत्नो के रूप मे जगमगाने लगी।[1]

इन पंक्तियो मे जायसी एक ओर इब्नेसिना और जामी के सौन्दर्यवाद

---

१ कहा मानसर चाह सो पाई। पारस रूप यहाँ लगि आई ॥
भा निरमल तिन्ह पायन परसे। पावा रूप रूप के दरसे ॥
मलय समीर बास तन पाई। भा सीतल गै तपन बुझाई ॥
न जनौं कौन पौन लेइ आवा। पुण्य दशा भई पाप गंवावा ॥
तत खन हार वेगि उतराना। पावा सखिन्ह चन्द विहँसाना ॥
विकसा कुमुद देखि ससि रेखा। भई तहं ओप जहाँ जेहि देखा ॥
नयन जो देखा कमल भा निरमल नीर शरीर।
हंसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नगहीर ॥

जायसी ग्रन्थावली

से तथा सूफियों के साहूदिया वर्ग के प्रतिबिम्बवाद से प्रभावित है, दूसरी ओर उपनिषदों से ।

"उस ब्रह्म से साक्षात्कार होने पर समस्त हृदय की ग्रन्थियाँ समाप्त हो जाती हैं, समस्त संशय नष्ट हो जाते हैं, तथा जीवात्मा कृत पाप-पुण्य आदि कर्म नष्ट हो जाते हैं"[1] आदर्श से महीयान है । यहाँ पर विराट् ब्रह्म की विश्व-व्यापिनी भावना के सहारे बड़ा सुन्दर चित्रण किया है । समासोक्ति, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, एवं साध्यवसाना गौणी लक्षणा के प्रयोग से स्वर्ण-सुगन्ध-संयोग उपस्थित किया है । कबीर ने भी इस स्थिति का वर्णन किया है किन्तु उनमें न तो जायसी का काव्यत्व ही मिलता है और न सूफी-सौन्दर्यवादिता ही । उन पर उपनिषदों की ही शुष्क छाया है—

" हरि की संगति से मैं शीतल हो गया तथा मेरी मोह की तपन समाप्त हो गई । पुनः मैं रात-दिन सुख-सागर में लिप्त हो गया । मुझे मेरी अन्तरात्मा में ब्रह्म के दर्शन हुए ।"[2]

दोनों की अनुभूतियों में एक और अन्तर दिखाई पड़ता है । एक का साक्षात्कार मानसिक एवं अन्तर्दृष्टि-मय है, दूसरे का बाह्यात्मक और प्रत्यक्ष । कबीर का प्रियतम उनके अन्तर्जगत में उदय होता है, जायसी का बहिर्जगत में ।

इसी साक्षात्कार के अन्तर्गत संयोगजनित विविध लीलाएँ और क्रीडाएँ आती हैं । जायसी और कबीर दोनों ने इनके मधुमय चित्र चित्रित किए हैं । किन्तु जायसी के चित्रों में कबीर की अपेक्षा लौकिकता

---

१ भिद्यते हृदय ग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्व संशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन दृष्टे परावरे ।। —मुण्डकोपनिषत्

२ हरि संगत सीतल भया, मिटी मोह की ताप ।
निस बासर सुखनिधि लहा, अन्तर प्रगटा आप ।।

कबीर ग्रन्थावली

का स्पर्श अधिक है। पद्मावती का संयोग-श्रृंगार-वर्णन बहुत अधिक शृंगारिक हो गया है। इस दृष्टि से कबीर अधिक मधुर और रहस्यात्मक हैं। उदाहरण के लिए उनका प्रसिद्ध पद देखिए—

"घूंघट के पट खोल री तोको पीव मिलेंगे।"

इस पद में माधुर्य के साथ-साथ माया के आवरण को विदीर्ण करके प्रियतम से मिलने का आध्यात्मिक संकेत भी है। यही आध्यात्मिकता कबीर के रहस्यवाद की प्रमुख विशेषता है। इस क्षेत्र मे ये जायसी से कहीं अधिक बढे हुए हैं।

साक्षात्कार के बाद मिलन की वही मधुर स्थिति आती है, जब साधक रूपासव का पान करके मूक हो जाता है। इसी स्थिति को दृष्टि में रखकर निकल्सन सूफी रहस्यवाद के सम्बन्ध में लिखते हैं—"जो ईश्वर को जानता है, वह मौन हो जाता है।" गीता में भी यही कहा है कि सच्चा मुनि वही है, जो मौनी है। इस स्थिति को लक्ष्य करके कबीर ने लिखा है—

"मैंने ईश्वर के स्वरूप के जिस प्रकार दर्शन किये हैं, किन्तु उसका मैं वर्णन नहीं कर सकता हूँ। वह तो गूंगे की शर्करा के समान है जिसका आस्वादन करने के पश्चात गूंगा केवल मन ही मन मुस्करा सकता है। उसका वर्णन करने में वह सर्वथा असमर्थ रहता है।"[1]

इस स्थिति का संकेत जायसी ने निम्नलिखित शब्दों में किया है। इसमें जायसी की तीव्र अनुभूति भरी है—रत्नसेन पद्मावती से कहता है—

"पद्मावती सुनो, उस प्रेम रूपी अमृत का पान करने के पश्चात

---

१ देखा है तो कस कहूं, कहूं सो को पतयाय।
गूंगे केरी शर्करा बैठे ही मुसकाय॥

कबीर-ग्रन्थावली

हृदय मे जीवन और मृत्यु का भय शेष नही रहता।[1]

भारतीय रहस्यवाद का प्राण अद्वैतवाद है। जीव माया के आवरण को ज्ञान के सहारे विदीर्ण करके आत्मा से नीर-क्षीर की तरह एक हो जाता है। यही मोक्ष की चरम स्थिति है। उपनिषदो मे 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'—ब्रह्म का जानने वाला ब्रह्म रूप ही हो जाता है—लिखकर यही बात ध्वनित की है। भारतीय रहस्यवादी का लक्ष्य भी इसी स्थिति को प्रेरित करना होता है। वह तीव्र भावना के सहारे इस दिशा मे अग्रसर होता है। विश्व के अन्य रहस्यवादियो मे यही भारतीय रहस्यवादी की विशेषता है। 'अण्डरहिल' ने भी भारतीय रहस्यवादी की यह विशेषता स्वीकार की है। यहा उनके शब्दो को उद्धृत कर देना अनुपयुक्त न होगा—

"यहाँ यह कह देना भी असगत न होगा कि भारतीय रहस्यवादी मिलन की स्थिति के पश्चात भी एक और स्थिति की कल्पना मे विश्वास करते हैं—यह अवस्था हे जीवात्मा के अद्वैत ब्रह्म मे पूर्णतः लीन हो जाने की।"[2]

जहाँ तक सूफियो का सम्बन्ध है, यह स्थिति अधिकतर उनमे पाई जाती हे। प्रो० निकलसन ने "Idea of personality in Sufism" नामक ग्रन्थ मे इस बात को सिद्ध भी कर दिया है। जायसी सूफी

---

१ सुनि धनि प्रेम सुरा के पिए।
जियत मरन डरन रहे न हिए॥

कबीर-ग्रन्थावली

2 It is right, however, to state here that Indian mysticism insisted upon a further stage beyond that of union. This is the total annihilation or re absorption of an individual self in the infinite.

—Mysticism by E Under Hill

थे। अतः उनमें इस स्थिति के चित्र नहीं दिखाई देते। कबीर पर भारतीय अद्वैत वेदांत, का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था। इसीलिए उनमें इस स्थिति के चित्र अधिक पाए जाते हैं। इस स्थिति में पहुँचकर वे कह उठते हैं—

"जब हरी मरेंगे तभी हम भी मरेंगे। जब हरि ही नहीं मरेंगे तो हम भी क्यों मरें।"[1]

अभिव्यक्ति—यह तो हुआ रहस्य-भावना का तुलनात्मक निरूपण। अब हम थोड़ा दोनों की रहस्याभिव्यक्ति का भी सकेत कर रहे हैं। रहस्याभिव्यक्ति अलौकिक आनन्द की तीव्रतम अनुभूति कही जा सकती है। इसीलिए रहस्यवादी को विविध सहायक अभिव्यक्ति-प्रणालियों की शरण लेनी पड़ती है। इन अभिव्यक्ति-प्रणालियो में प्रतीक-पद्धति, रूपक-योजना, समासोक्ति, अन्योक्ति, उलटवासी, आदि प्रमुख रूप से आती हैं। जायसी और कबीर की रहस्याभिव्यक्ति-प्रणालियों में भी अन्तर है। जायसी ने असफल अन्योक्ति तथा सफल समासोक्ति के सहारे अपने-अपने रहस्यवाद की अभिव्यक्ति की। इसके अतिरिक्त प्रतीकात्मकता का भी सुन्दर प्रयोग उनमें मिलता है। उनकी पद्मावती की कहानी एक प्रकार से प्रतीकात्मक रूपक कही जा सकती है। प्रतीक पद्धति का कबीर ने भी अनुकरण किया है। इसके प्रमाण स्वरूप उनकी—

"हरि मेरा पीव मैं राम की बहुरिया।"

अथवा —कबीर ग्रन्थावली,

"हरि जननी मैं बालक तेरा॥" वही

आदि पंक्तियाँ ली जा सकती हैं। किन्तु इसमें कबीर की वृत्ति-

---

१ हरि मरिहैं तो हमहूँ मरिहै, हरि न मरें हम काहे को मरिहैं।
कबीर ग्रन्थावली

रमती हुई नहीं दिखाई देती। इसीलिए उन्होंने अधिकतर रूपकों और उलटवासियों का आश्रय लिया है। उन्होंने अन्योक्तियों का भी प्रयोग किया है। किन्तु जायसी के ढंग पर उनकी उक्तियाँ पद्मावत के समान विशाल रूप में नहीं व्यक्त हुईं। वे अत्यन्त सरल, संक्षिप्त और संकेतात्मक हैं। एक उदाहरण देखिए—

"काल रूपी माली को आया हुआ देखकर जीवात्मा रूपी कलियाँ व्याकुल हो उठीं। वे सोचने लगीं कि इस संसार रूपी उद्यान में विकसित पुष्पों को उस काल-रूपी माली ने आज चुन लिया है और कल जब हम विकसित होंगी तो हमारी भी बारी आ जावेगी।"[1]

कबीर के रूपक बहुत प्रसिद्ध हैं। किन्तु आध्यात्मिकता के कारण जटिल अधिक हो गए हैं, 'सन्त-कबीर' में दिये हुए इनके रूपक विशेष दृष्टव्य हैं। रूपकों के अतिरिक्त उलटवासियाँ भी अध्ययन करने योग्य हैं। उलटवासियों की परम्परा वैदिक काल से चली आ रही है। वेद में दिया हुआ अदिति का वर्णन उलटवासी के रूप में ही है। सिद्धों और नाथों में तो यह पद्धति विशेष रूप से प्रचलित थी। सूफियों में भी ऐसी अभिव्यक्तियों की कमी नहीं है।

इस प्रकार कबीर को इस क्षेत्र में एक लम्बी-चौड़ी परम्परा प्राप्त हुई थी। उसका उन्होंने अपनी रहस्याभिव्यक्ति में उपयोग किया है। कबीर में उलटवासियों के अधिक प्रयोग का कारण उनकी गूढ़ आध्यात्मिकता भी है। अध्यात्म-क्षेत्र में शिष्य का पात्रत्व और ब्रह्म-जिज्ञासा अत्यन्त आवश्यक होती है। इसलिए 'ब्रह्मसूत्र' का प्रारम्भ 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' से हुआ है। कबीर ने अपने आध्यात्मिक

---

१ माली आवत देख कर कलियां करैं पुकार।
फूले फूले चुन लिए, काल्हि हमारी बार॥

कबीर ग्रन्थावली

सिद्धान्तों को उलटवासियों के रूप में इसीलिए व्यक्त किया है कि केवल जिज्ञासु पात्र ही उन्हें समझ सके। उलटवासियो के अतिरिक्त कबीर में कुछ ऐसी रहस्यात्मक उक्तियां भी पाई जाती है जिनमें पारिभाषिक शब्दों के सहारे जटिलता और अस्पष्टमूलक रहस्यवाद की चेष्टा की गई है। उनकी इस प्रकार की उक्तियाँ भी तीन प्रकार हैं। एक तो वह है—'जिनमें सिद्धों और नाथ पंथियों में प्रचलित पारिभाषिक शब्दों को लेकर यौगिक रहस्य निर्देशित किये गए हैं। जैसे यह उक्ति देखिए—

"सुरति रूपिणी जीवात्मा निरति रूपिणी प्रत्यगात्मा में समा जाती है। यह निरति रूपिणी प्रत्यागात्मा निराधार तत्व है। जब इस प्रकार सुरति रूपिणी जीवात्मा और निरति रूपिणी प्रत्यगात्मा अद्वैत रूप हो जाती हैं, तब ईश्वर का द्वार खुल जाता है। इस प्रकार जीवात्मा ईश्वर का साक्षात्कार कर लेती है।[1]

दूसरे प्रकार की वे उक्तियाँ है, जिनमें संख्यावाचक सांकेतिक शब्दों का प्रयोग करके रहस्यात्माकता लाने की चेष्टा की गई है यथा—

"चौसठ कलाओं और चौदह विद्याओं से बुद्धि को प्रकाशित करने पर भी कोई व्यक्ति उस समय तक ज्ञानी नहीं कहला सकता जब तक वह परम तत्व ईश्वर को नही पहचानता।"[2]

---

१ सुरति समानी निरति में निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यम्भ दुआर॥

कबीर ग्रंथावली

२ चौंसठ दीवा जोइ कर, चौदह चन्दा माहि।
तेहि घर कैहि को चानिणों जेहि घर गोविन्द नाहिं॥

वही

तीसरे प्रकार की उक्तियों में उन्होंने आश्चर्यजनक बातों का वर्णन कर रहस्यपूर्ण तथ्यों की ओर संकेत किया है—

"अज्ञान के कारण जीवात्मा जन्म-जन्म में भ्रमित होता फिरता है। काम रूपी बैल ढोल और मर्दलिया बाजे बजाता है, विकारादि रूप कौवा ताल बजाता है, दुर्बुद्धि रूपी गदहा नाचा करता है तथा अज्ञान रूपी भैंसा नृत्य करवाता है। इस प्रकार इस संसार में जीवात्मा सदा इनके कृत्रिम नृत्य-गान में लीन रहती है।"[1]

यह तीनों प्रकार की उक्तियाँ अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद के अन्तर्गत आयेंगी। इसे मैं शैलीगत नकली रहस्यवाद मानता हूँ। जायसी ने इस प्रकार की उक्तियाँ बहुत कम दी हैं। हाँ! इतना अवश्य है कि उन्होंने कहीं योग से पारिभाषिक शब्दों की अच्छी योजना की है। कहीं-कहीं झूठे श्लेष का भी प्रयोग किया है। ऐसे स्थलों से जायसी का मूल्य घट गया है। किन्तु उनमें ऐसे स्थल कबीर की अपेक्षा बहुत कम है।

लोक-संग्रह—मध्यकालीन सन्तों की रहस्य-भावना का विश्लेषण करते हुए आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मैडिवल-मिस्टिसिज्म' में लिखा है—

"उन्हें जीवन के प्रति विरागमयी उदासीनता का अनुभव नहीं होता है।"[2]

---

१ ज्ञान अचेत फिरै नर लोइ, ताते जनम जनम डहकाये।
ढोल मदलिया बैला थावी, कउवा ताल बजावै॥
पहरि चलना गदहा नाचै भैंसा नरति करावै॥

वही

२ They have ascetic aversion to life.'

Medeaval Mysticism by Khhiti Mohan Sen.

कबीर और जायसी दोनों मे इन विशेषताओं के दर्शन होते हैं। जायसी ने रत्नसेन के जीवन के सहारे यह बात ध्वनित की है। रत्नसेन जीवन से उदासीन होता है सही, किन्तु पद्मावती को प्राप्त करके वह पुनः मधुमय जीवन का अनुभव करता है। कबीर को लोग पूरा वैरागी समझते हैं, किन्तु वैराग्य उनके लिए कभी साध्य न था। वे उसे साधन-मात्र समझते थे। उनका उपदेशक रूप निर्विवाद है। लोक-संग्रह करना वह अपना ईश्वर-प्रेरित कर्त्तव्य समझते थे।

"ईश्वर की यही इच्छा थी कि कबीर इस लोक में जाकर साखी की रचना करे। जिनको समझ कर कदाचित कोई साधक इस भवसागर को पार करके तट तक पहुँच सके।"[1]

अतः स्पष्ट है कि कबीर भी कोरे वैरागी नही थे। उनमे भी लोक-संग्रह की भावना थी। उनका रहस्यवाद उससे अछूता नही बचा है।

निष्कर्ष—इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जायसी और कबीर दोनों हिन्दी-साहित्य के श्रेष्ठ रहस्यवादी कवि हैं। एक का रहस्यवाद भारतीय भक्ति-मार्ग, श्रुति-ग्रन्थ, सिद्ध-मत और नाथ-सम्प्रदाय से प्रभावित होने के कारण आध्यात्मिक, एकान्तिक, व्यष्टिमूलक, सजीव और वर्णनात्मक है, दूसरे का सूफी साधना और भावना से अनुप्राणित होने के कारण अत्यन्त सरस, संकेतात्मक और समष्टिमूलक है। वह प्रेमाख्यान के सहारे अभिव्यक्त होने के कारण मधुर और नाटकीय भी है।

साईं यहै विचारिया साखी कहै कबीर।
भवसागर के बीच में कोई पकड़े तीर॥

कबीर ग्रंथावली

लेखक की अन्य रचनाएं

आलोचनात्मक

कबीर की विचारधारा ७.००

लेखक की पीएच-डी० की थीसिस, डालमिया साहित्य पुरस्कार समिति से २१००) की धनराशि से पुरस्कृत, विविध विश्व-विद्यालयों के एम० ए० के पाठ्य-क्रम में निर्धारित।

शास्त्रीय-समीक्षा के सिद्धान्त (प्रथम भाग) ८.००

साहित्य, कला, काव्य और उसके सम्प्रदायों का शास्त्रीय अध्ययन। विविध विश्वविद्यालयों के एम० ए० के पाठ्य-क्रम में निर्धारित।

शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त (द्वितीय भाग) १०.००

कविता, नाटक, एकांकी, गीति नाट्य, रेडियो रूपक, संगीत रूपक, फीचर्स, फैंटेसी, मोनोलाग झलकियाँ, रिपोर्ताज निबन्ध, गद्यकाव्य, समालोचना, उपन्यास, कहानी, रेखाचित्र, संस्मरण, इण्टरव्यू, जीवनी, आत्मकथा, यात्रा, पत्र, संलाप, वार्षिकी और पत्रकारिता का शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक अध्ययन : विविध विश्वविद्यालयों के एम० ए० के पाठ्य-क्रम में निर्धारित।

हिन्दी की निर्गुण काव्य-धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि : लेखक की डी० लिट की थीसिस : भारत के महान विद्वानों द्वारा प्रशंसित।

अनुदित

हिन्दी दशरूपक ६.५०

संस्कृत दशरूपक का व्याख्यात्मक हिन्दी अनुवाद : उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा पुरस्कृत।

सम्पादित

हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ

कहानी-कला पर एक विस्तृत भूमिका सहित।